सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

भूमिका

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी है। अब तक हिन्दी पढ़ने वालो के अभाव के कारण लेखकों की रुचि हिन्दी साहित्य की ओर जाती ही न थी। केवल थोड़े से लोग, जिनकी संख्या उँगलियों पर गिनो जा सकती है, हिन्दी मे किस्से कहानियाँ लिखा करते थे। शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में न तो लिखी जाती थीं और न पढ़ी जाती थीं। आज भी हिन्दी साहित्य में किस्से कहानियाँ पढ़ने वालों की संख्या सबसे अधिक है। अन्य सामाजिक शास्त्रो को लोग इतनी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं कि अच्छी से अच्छी पुस्तकें उन्हे नीरस जान पड़ती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हिन्दी पढ़ने वालों को अपना बुद्धि भांडार बढ़ाने का अवसर नहीं मिलता। हिन्दी की ऊँची से ऊँची परीक्षायें पास कर लेने पर भी मैंने लोगों को ए० बी० सी० डी० पढ़ते हुए देखा है। इसलिये नहीं कि उन्हे विदेशी भाषाये सीखने का शौक है, बल्कि वे साफ़ कहते हैं कि हिन्दी साहित्य मे उन ग्रन्थो का सर्वथा अभाव है जिनको देखे बिना आधुनिक युग का ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसलिये विवश होकर उन्हें अन्य भाषाओं की शरण लेनी पड़ती है। दरियाफ्त करने पर यह मालूम हुआ है कि हिन्दी मे शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ इसलिये नहीं लिखे जाते हैं कि पढ़ने वालों की कमी है। लेकिन दूसरी ओर यह आम शिकायत है कि ग्रन्थों की कमी के कारण विचारे हिन्दी पढ़ने वाले तड़फड़ा रहे हैं। इसी खींचातानी मे हिन्दी की उन्नति रुकी हुई है। कुछ लोग यह कह सकते है कि आजकल हिन्दी मे बहुत से ग्रन्थ निकल रहे हैं और इसकी उन्नति रुकी नहीं है, लेकिन यदि वे बुरा न मानें तो

मैं यही कहूँगा कि उन्हे अन्य भाषाओं की उन्नति का इतिहास मालूम नही है ।

शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण लेखक और पाठक दोनो ही उलझन मे पड़े हुये थे । लेकिन यह बन्धन किसी हद तक अब टूटता जा रहा है । प्रान्तीय सरकार की शिक्षा विभाग ने मातृ भाषा की उपयोगिता स्वीकार करते हुये कालेजो तक मे हिन्दी भाषा मे सभी विषय पढ़ने पढ़ाने की आज्ञा दे दी है । लेकिन पुस्तको के अभाव के कारण विद्यार्थियो को अंग्रेजी छोड़ने मे भय मालूम पड़ता है । अध्यापक स्वयं विद्यार्थियों को अंग्रेजी ग्रन्थो का ही हवाला देते है । हिन्दी भाषा मे उन विषयों पर जो कुछ भी थोड़ी बहुत पुस्तकें हैं उनके अन्दर वे सार मौजूद नहीं हैं जिनकी आवश्यकता एक साधारण विद्यार्थी को भी पड़ सकती है । यही वजह है कि उन ग्रन्थो का नाम तक अध्यापक वा विद्यार्थी किसी को भी मालूम नहीं है ।

गत वर्ष मुझे एफ० ए० क्लास को नागरिक शास्त्र पढ़ाने का अवसर मिला । अधिकतर विद्यार्थी हिन्दी मे इस विषय को पढ़ना चाहते थे । लेकिन पढ़ाने के पहले विद्यार्थियो को कुछ ग्रन्थ बतलाना आवश्यक था । जब मैंने पुस्तको की तलाश की तो पता चला कि हिन्दी मे नागरिक शास्त्र के ऊपर एक भी उपयुक्त और प्रामाणिक (Standard) ग्रन्थ नही है । इसलिये विवश होकर मुझे अंग्रेजी में ही इस विषय को पढ़ाना पड़ा । उसी समय मेरे दिल मे इस बात की तड़प पैदा हुई कि नागरिक शास्त्र के ऊपर एक ऊँचा ग्रन्थ जरूर लिखना चाहिये जो एफ० ए० के विद्यार्थियो की आवश्यकता को अच्छी तरह पूरा कर दे । हिन्दू महिला विद्यालय इन्टर कालेज के व्यवस्थापक श्री बाबू भगवती प्रसाद जी ने मुझे इस कार्य के लिये और भी उत्साहित किया । इन्ही की प्रेरणा से मैंने एफ० ए० की विवरण पत्रिका मँगवाकर पाठ्यक्रम के अनुसार

इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ किया। आदि से अन्त तक मैंने इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा कि यह ग्रन्थ हिन्दी में ऐसा होना चाहिये जो अंग्रेज़ी के किसी भी ग्रन्थ से कम न हो। मुझे इस उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय नागरिक शास्त्र के अध्यापक और विद्यार्थी ही कर सकते हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है मैंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। एक भी शब्द मैंने ऐसा नहीं आने दिया है जिसके लिये कोष या लोग़ात उठाने की जरूरत महसूस हो। भारतवर्ष की हिन्दी पढ़ी लिखी आम जनता जिस भाषा का प्रयोग अपने दैनिक जीवन मे करती है उसी भाषा मे मैंने इस ग्रन्थ को लिखा है।

पुस्तक लिखने मे मेरे प्रोफेसर डाक्टर बेनी प्रसाद जी और डाक्टर ताराचन्द जी के विचारों से मुझे काफी सहायता मिली है। इनकी पुस्तको से जो सहायता मैंने ली है उसके लिये हृदय से मैं इनका आभारी हूँ। प्रोफेसर इलियास अहमद के "राजनीति के प्रारम्भिक सिद्धान्त" (First principles of politics) नामक ग्रन्थ से मुझे इतनी सहायता मिली है कि उसके बिना ग्रन्थ का इतनी जल्दी समाप्त होना असम्भव था। इनके अलावे मैंने उन ग्रन्थो से भी मदद ली है जो राजनीति शास्त्र पर प्रमाण समझे जाते हैं। पुस्तक के अन्त मे मैंने उन ग्रन्थो की एक सूची दे दी है जिनसे मुझे इस ग्रन्थ के लिखने मे सहायता मिली है और जिन्हें पाठकगण भी पढ़ सकते हैं। प्रूफ देखने में श्री कृष्ण जी द्विवेदी, राम चन्द्र जी मिश्र, विद्यासागर जी 'साहित्य रत्न' तथा आचार्य श्रीपति जी शास्त्री से मुझे काफी सहायता मिली है। मै हृदय से इनका ऋणी हूँ। कुछ अन्य मित्रों ने भी समय समय पर सलाहें देकर पुस्तक के लिखने मे मदद पहुँचाई है। उनके इस कष्ट के लिये मै अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। साथ ही श्री बाबू बेनी प्रसाद जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट किये बिना मैं इसलिये नहीं रह सकता

क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा से यह ग्रन्थ इतनी सफाई और सुन्दरता के साथ प्रकाशित किया गया है।

विद्यार्थियों के हित का ध्यान रखते हुये पुस्तक के अन्त मे उन तमाम प्रश्नों की एक सूची दे दी गई है जो नागरिक शास्त्र पर शुरू से अब तक यू० पी० इन्टरमीजियेटबोर्ड मे पूछे गये हैं। जिस ग्रन्थ को मैंने हिन्दी साहित्य के एक विशेष अंग की पूर्ति के लिये लिखा है, और जिसके लिये मैंने अनेक लेखको का ऋण अपने ऊपर लिया है, उससे यदि पाठको की ज्ञान पिपासा थोड़ी भी तृप्त हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

प्रयाग
मई १९४० ई०

गोरख नाथ चौबे

अनुक्रमणिका

नागरिक शास्त्र की विवेचना

अध्याय १

नागरिक शास्त्र, विस्तार और अन्य शास्त्रों से इसका सम्बन्ध

शास्त्र—नागरिक शास्त्र की परिभाषा—नागरिक शास्त्र की उपयोगिता—नागरिक शास्त्र का विस्तार—अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध—नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र—नागरिक शास्त्र और समाज शास्त्र—नागरिक शास्त्र और इतिहास—नागरिक शास्त्र तथा अर्थशास्त्र—नागरिक शास्त्र और भूगोल—नागरिक शास्त्र और धर्मशास्त्र—नागरिक शास्त्र और अध्ययन विधि।

शास्त्र—किसी विषय का क्रमबद्ध ज्ञान शास्त्र कहलाता है। दवा के विषय में कुछ न कुछ सभी लोग जानते हैं परन्तु सबको हम डाक्टर नहीं कह सकते। सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान थोड़ा बहुत सबको रहता है। परन्तु हर एक व्यक्ति समाजशास्त्र का विद्वान् नहीं कहा जा सकता। आर्थिक प्रबन्ध सब को ही करना पड़ता है परन्तु अर्थशास्त्र के ज्ञाता वेही कहे जा सकते हैं जिन्होने क्रमबद्ध इसका अध्ययन किया है। किसी भी विषय का अधूरा ज्ञान शास्त्र नहीं कहा जा सकता। सभी शास्त्रो का उद्देश्य ज्ञान है। जितने भी शास्त्र हैं, सबका अध्ययन मनुष्य को ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। ज्ञान एक है, इसका विभाजन नही किया जा सकता। ज्ञान का भाण्डार इतना बृहत् है कि वह एक साथ ही मस्तिष्क मे नही आ सकता। इसी लिये ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विभिन्न शास्त्रों की रचना की गई है। अध्ययन की सुविधा के लिये, यह आवश्यक समझा गया है कि ज्ञान या शास्त्र को विभिन्न शाखाओं मे बाँट दिया जाय। सभ्यता के विकास के साथ साथ शास्त्रों की शाखाएँ तथा उपशाखाएँ बढ़ती गई। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, भूगोल, शरीर विज्ञान, धर्मशास्त्र, मनोविज्ञान, गणित तथा विभिन्न रसायन और भौतिक शास्त्रों की रचनाएँ

अध्ययन की सुविधा के लिये की गई हैं। अज्ञान से ज्ञान की ओर मनुष्य अग्रसर हो, यही इनके अध्ययन का फल है।

शास्त्रों के विभाजन का कोई निश्चित माप नहीं है। वे एक दूसरे से इतने मिले जुले हैं कि एक का पूर्णज्ञान दूसरे के बिना हो ही नही सकता। अतएव दो शास्त्रों के बीच मे कोई दीवाल नही खड़ी की जा सकती। फिर भी समस्त शास्त्रों को दो भागों में बाँटा गया है, प्रकृति शास्त्र और समाज शास्त्र। यहाँ पर प्रकृति शास्त्र के विषय मे हमे कुछ भी नहीं कहना है। हमारे विषय का सम्बन्ध केवल समाज शास्त्र से है। मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी शास्त्र समाज शास्त्र कहलाते हैं। आरम्भ से ही मनुष्य समाज मे रहा है और अब भी रह रहा है। उसकी समस्त उन्नति समाज मे ही हुई है। संसार मे जितने भी जीव हैं वे सभी सामाजिक हैं। सबमे संगठन है, सबमे कोई न कोई सामाजिक व्यवस्था है और सब मे कोई न कोई कला है। जिन्होने जंगली जानवरों के झुण्ड के झुण्ड देखे हैं उन्हें उनके संगठन का थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। पक्षियो मे भी एक प्रकार का संगठन है। वे अपनी ही जाति के गिरोह में उड़तीं, बैठतीं तथा घोंसला बनातीं है। बया पक्षी के घोसले को देख कर उसकी कला का अनुमान किया जा सकता है। मधुमक्खियों का संगठन इन सबमे सराहनीय है। उनमे कोई स्वामी होता है, कोई सेवक होता है, कोई रक्षक होता है। मधु-मक्खी के छत्ते मे जो कला दिखलाई पड़ती है वह हमारे साधारण घरों मे नही हो सकती। यदि इन जीवों मे अपनी उन्नति अवनति का ज्ञान दूसरों पर प्रकट करने की शक्ति होती, तो इससे भी कितने ही शास्त्र आज बन जाते। वे भी समाज शास्त्र के अन्तर्गत कहे जाते। परन्तु मनुष्य को छोड़ कर यह शक्ति किसी अन्य जीव मे नहीं पाई जाती। इस लिये समाज शास्त्र से हमें मनुष्य के विचार, ज्ञान, संगठन तथा कार्य आदि का ज्ञान होता है। समाज शास्त्र समाज की उन्नति का वर्णन करता है।

नागरिक शास्त्र को परिभाषा

नागरिकता का अध्ययन नागरिक शास्त्र कहलाता है। मनुष्य जिस समाज मे रहता है उसके प्रति उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं। उनका ज्ञान मनुष्य के लिये आवश्यक है। कुटुम्ब के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं, धार्मिक

संस्थाओं से उसका क्या सम्बन्ध है, तथा राजनैतिक संगठन में उसे कौन कौन से अधिकार प्राप्त हैं, इन सब के ज्ञान को नागरिक शास्त्र कहते हैं। नागरिक शास्त्र से और नगर शब्द से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी भाषा में हम नगर शब्द का अर्थ 'शहर' करते हैं परन्तु नागरिक शास्त्र केवल शहरों का शास्त्र नहीं है। भारतवर्ष मे लगभग ७ लाख गाँव हैं। इन ग्रामों के अध्ययन को ग्रामशास्त्र कहते हैं। नागरिक शास्त्र और ग्रामशास्त्र दोनों एक ही हैं। जिस शास्त्र से नगर अथवा ग्राम का ज्ञान हमें प्राप्त हो वह नागरिक शास्त्र अथवा ग्रामशास्त्र कहलाता है। हमारे देश में 'ग्रामशास्त्र' शब्द 'नागरिक शास्त्र' से अधिक उपयुक्त है, क्योंकि हमारा देश गाँवों का देश है। इस शास्त्र के अन्तर्गत हम मनुष्य का ही अध्ययन करते हैं। किन्तु मनुष्य की बनाई हुई संस्थाओं का जब तक हमें ज्ञान न होगा, तब तक हम उसे नहीं समझ सकते। अफलातून ऐसे यूनानी दार्शनिको ने इसे स्वीकार किया है कि समाज मनुष्य का बृहत् रूप है। इसलिये नागरिक शास्त्र नागरिक के रूप मे मनुष्य का ही अध्ययन है।

नागरिक शास्त्र की उपयोगिता

जिस समाज मे हम रहते हैं उसका ज्ञान प्राप्त किये बिना हम अपना विकास नहीं कर सकते। उपयुक्त नागरिक बनने के लिये इस शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे के प्रति क्या कर्त्तव्य है ? जब तक मनुष्य इसकी जानकारी प्राप्त न करेगा, तब तक वह बहुत सी सामाजिक बुराइयो का दास बना रहेगा। मनुष्य की जानकारी अपने ही प्रति समाप्त नहीं हो जाती। कुटुम्ब, ग्राम, ज़िला, प्रान्त तथा समस्त राष्ट्र से उसका सम्बन्ध है। जब मनुष्य का इन सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध है तो वह इनसे अनभिज्ञ नहीं रह सकता। नागरिक शास्त्र के ज्ञान के बिना मनुष्य किसी भी सामाजिक शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता। यदि हम किसी संघ के सदस्य हों, परन्तु उसके नियमो से अनभिज्ञ हों, तो हम संघ में पूरा सहयोग नहीं दे सकते। इसी प्रकार जब तक हम नगरों तथा ग्रामों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक हम इसकी उन्नति में थोड़ी भी सहायता नहीं कर सकते।

कोई सिपाही तब तक अच्छी तरह काम नहीं कर सकता जब तक उसे फौजी शिक्षा न दी जाय। प्रत्येक कार्य के लिये किसी न किसी प्रकार की ट्रेनिंग की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक शास्त्र उपयुक्त नागरिक बनाने के लिये एक प्रकार की ट्रेनिंग देता है। वह नागरिक को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त कराता है तथा विभिन्न संस्थाओ के प्रति उसके सम्बन्ध को निर्धारित करता है। सामाजिक उन्नति के लिये छोटी छोटी बातो का भी ज्ञान आवश्यक है। सड़क पर कैसे चलना चाहिये, कैसे सफाई रखनी चाहिये, कैसे वोट देना चाहिये, शिक्षा बोर्ड क्या है, ज़िला तथा म्युनिस्पल बोर्ड क्या करती हैं, ग्राम पंचायतो के कौन कौन से कर्त्तव्य हैं—आदि बातो की जानकारी के बिना नगर में रहते हुए भी हम नागरिक नहीं कहे जा सकते। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से प्रत्येक नागरिक समाज के सुख और शान्ति मे पूर्ण सहायक हो सकता है। इस प्रकार वह पूरी मनुष्य जाति के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है। शिक्षा विभाग मे जितनी उपयोगिता इस शास्त्र की है उतनी किसी भी सामाजिक शास्त्र की नही हो सकती।

नागरिक शास्त्र का विस्तार

नागरिक शास्त्र समाज शास्त्र का एक प्रधान अंग है। प्रत्येक शास्त्र का क्षेत्र मनुष्य की बौद्धिक उन्नति से सीमित है। समाज शास्त्र सामाजिक उन्नति का प्रतीक है। जब तक मनुष्य जंगली अवस्था में था, उसमे कोई विशेष संगठन नहीं था, और न उसमें कोई राजनैतिक व्यवस्था थी, तब तक उसे नागरिक शास्त्र की कोई भी आवश्यकता न थी। जंगली अथवा प्राकृतिक नियमों से ही उसका काम चल जाता था। जंगली अवस्था के पश्चात् मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उसे सामाजिक नियम तथा रसम-रवाज बनाने पड़े। यहीं से नागरिक शास्त्र का बीजारोपण हुआ। आरम्भ में केवल थोड़े से सामाजिक नियम बने। इनकी जानकारी सामाजिक विद्या के नाम से उद्धृत की गई। जब इस विद्या का भाण्डार कुछ और बृहत्त हुआ तो यही नागरिक शास्त्र कहलाने लगा। इस शास्त्र का विस्तार सामाजिक वा नागरिक जीवन की उन्नति पर निर्भर है। हमारे नगर अथवा ग्रामो का जितना ही अधिक विकास होगा, नागरिक

का कर्त्तव्य और अधिकार उतना ही बढ़ता जायेगा। इसी के साथ साथ नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी बढ़ता जायेगा। प्रत्येक नागरिक का जीवन विभिन्न क्षेत्रों में व्यतीत होता है। नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत हमें इन सबका अध्ययन करना पड़ता है।

समाज की उन्नति का सम्पूर्ण ज्ञान वर्तमान काल के ही अध्ययन से नहीं हो सकता। इसके लिये हमे भूतकाल का भी अध्ययन करना पड़ता है। जहाँ से हमारा सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ था उसे भी हमे जानना पड़ता है। तदुपरान्त हमारा अध्ययन तब तक पूरा नहीं कहा जा सकता, जब तक हम समाज के भविष्य जीवन के लिये कोई आदर्श निश्चित न कर लें। इसे ध्यान में रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र का विस्तार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालो मे फैला हुआ है। भूतकाल मे नागरिक के क्या अधिकार थे, वर्तमान काल में उनमे क्या क्या परिवर्तन हुए, भविष्य मे उनके परिवर्तन की क्या आशा है—इन सब का ज्ञान नागरिक शास्त्र द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आरम्भ से लेकर अब तक मनुष्य का सामाजिक इतिहास इसी शास्त्र के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश समस्त भूमंडल पर पड़ता है उसी प्रकार नागरिक शास्त्र का प्रभाव मनुष्य के सभी सामाजिक जीवन पर पड़ता है। प्रकाश के बिना मनुष्य अन्धेरे मे कुछ भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार नागरिकता के ज्ञान के बिना कोई भी अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन नहीं कर सकता। समस्त संसार आज हमें जिस रूप में दिखलाई पड़ रहा है वह सामाजिक जीवन का ही फल है। इसमें नागरिक के कर्त्तव्य की गणना नहीं हो सकती। इसका क्षेत्र किसी प्रान्त अथवा देश की सीमा से घेरा नहीं जा सकता। नागरिक शास्त्र इन सबकी विवेचना करता है।

यद्यपि हम नागरिक शास्त्र को विभिन्न सामाजिक शास्त्रों से पृथक् करते हैं, फिर भी उन सबके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक जीव के नाते मनुष्य का समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है, अमुक समाज मे उसकी क्या स्थिति है इनका अध्ययन तथा ज्ञान नागरिक शास्त्र का ही एक विषय है। नागरिक के नाते हमें यह भी जानना पड़ता है कि हमारा शासन कैसे होता है।

इसके लिये हमें अपनी शासन व्यवस्था का अध्ययन करना पड़ता है। यहाँ पर नागरिक शास्त्र राजनीति शास्त्र के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। समाज की आर्थिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है, तथा हमारी वर्तमान आर्थिक परिस्थिति कैसी है इन्हें भी हमें ध्यान में रखना पड़ता है, क्योकि हमारे दैनिक जीवन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। यहीं से नागरिक शास्त्र अर्थशास्त्र में प्रवेश करता है। नागरिक के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अपने पड़ोसी के सुख दुख का ध्यान रखना पड़ता है। न्याय, शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। इन क्षेत्रों मे नागरिक का कर्त्तव्य इतना विस्तृत हो जाता है कि नागरिक शास्त्र की सीमा निहित नहीं की जा सकती। जब मनुष्य के कर्त्तव्य की कोई सीमा नहीं है, तो नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी अपार और अनन्त है।

आरम्भ मे नागरिक वही था जो नगर में रहता था। वहीं की स्थानीय बातो का ज्ञान नागरिक शास्त्र कहलाता था। राजनैतिक उत्थान के साथ मनुष्य नगर से भी बड़े संगठन का आज सदस्य है। वह बिखरे हुए सामाजिक वृक्ष की केवल शाखा मात्र नहीं है बल्कि राष्ट्रीय शिविर का एक दृढ़ स्तम्भ है। आधुनिक काल मे नागरिकता एक राष्ट्रीय वस्तु है। जो राष्ट्र का सदस्य है वही नागरिक है। उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य समस्त राष्ट्र में तारों की भाँति फैले हुए हैं। यह राष्ट्रीय नागरिकता अब भी बढ़ती जा रही है और नागरिक अन्तर्राष्ट्रीय सघ का सदस्य होने जा रहा है। इस सदस्यता के विस्तार मे नागरिक के कर्तव्य कितने बढ़ जायँगे, भविष्यकाल मे आने वाला नागरिक शास्त्र इसकी विवेचना करेगा। नागरिक का कर्त्तव्य माता पिता से बढ़ते बढ़ते आज संसार भर मे फैल गया है। इसी से हम नागरिक शास्त्र का विस्तार समझ सकते हैं।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र मनुष्य के समस्त नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसलिये वह विभिन्न क्षेत्रों मे मनुष्य का अध्ययन करता है। प्रत्येक शास्त्र का अध्ययन नागरिक के जीवन पर एक विशेप प्रभाव डालता है। अतएव सामाजिक जीवन मे एक दृढ़ एकता

है। इस एकीकरण को समझने के लिये हम विभिन्न सामाजिक शास्त्रो का अध्ययन करते हैं। वास्तव मे ये शास्त्र एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत एक ही वस्तु को समझने के लिये विभिन्न दृष्टि कोण के प्रतिनिधि हैं। इतिहास भूतकाल की घटनाओं का वर्णन करता है। भविष्य के लिये हमे मार्ग प्रदर्शित करता है। इसका प्रभाव समस्त सामाजिक शास्त्रो पर बड़ा ही गहरा पड़ता है। साहित्य मनुष्य के विचारो का प्रतिविम्ब है। इसी के प्रकाश से हम विभिन्न शास्त्रों में प्रवेश करते हैं। भूगोल से मनुष्य के स्थानीय जीवन का ज्ञान होता है। विभिन्न प्राकृतिक जीवन मे किस प्रकार मनुष्यो की रहन-सहन तथा रसम-रवाज मे परिवर्तन हो जाया करते है इसका ज्ञान हमे भूगोल से ही होता है। अर्थ शास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन का एक प्रधान अग है। इसलिये समस्त सामाजिक शास्त्रों मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम इन्हे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नही कर सकते।

नागरिक शास्त्र और राजनीति शास्त्र

नागरिक शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र मे जितनी घनिष्ठता है उतनी किन्ही भी दो शास्त्रो मे नहीं है। एक प्रकार से नागरिक शास्त्र राजनीति का एक अंग है। जिस प्रकार पौधे और वृक्ष मे कोई वस्तु विभेद नहीं है एवं अवस्था का अन्तर है, उसी प्रकार राजनीति शास्त्र नागरिक शास्त्र का एक विकसित रूप है। दोनों हीं शास्त्र सामाजिक व्यवस्था के साथ साथ उत्पन्न होते है। दोनो के विकास का क्रम भी एक ही है। नागरिक शास्त्र नागरिक को अपने कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है। राजनीति शास्त्र उन अधिकारो को पालन करने का अवसर देता है। यदि किसी देश में नागरिकता की वृद्धि हो, लोग अपनी सामाजिक व्यवस्था की उन्नति करे, तो यह स्वाभाविक है कि उस समाज का राजनैतिक वातावरण शान्तिमय रहेगा। दोनो हीं शास्त्र यह बतलाते हैं कि मनुष्य का एक दूसरे के प्रति तथा समाज के प्रति क्या कर्त्तव्य है। सुख और शान्ति दोनो के ही अन्तिम उद्देश्य हैं। दोनों से विभिन्न सामाजिक संस्थाओ की उत्पत्ति होती है। यदि किसी देश की सरकार रक्षा का उचित प्रबन्ध न करे तो नागरिक अपने कर्त्तव्य का ठीक ठीक पालन नहीं कर सकता। जब

नागरिकता की वृद्धि होगी, तभी कर्त्तव्य परायण सामाजिक कार्य-कर्ताओं का प्रादुर्भाव होगा। उन्हीं से सरकारी मशीन अच्छी तरह चल सकेगी।

इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनो का कार्य-क्षेत्र भिन्न है। राजनीति शास्त्र का दारो-मदार राजनैतिक संगठन पर ही स्थिर है। सरकारी मशीन के बिगड़ते ही यह सम्बन्ध टूट जाता है। इसके विपरीत नागरिकता एक ठोस वस्तु है। यद्यपि इसका क्षेत्र सीमित है, फिर भी उसमें नागरिक के कर्त्तव्य का अन्त नहीं है। राजनीति शास्त्र राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध केवल स्थानीय बातों से रहता है। राजनीति-शास्त्र मनुष्य की राजनैतिक उन्नति का एक इतिहास है, नागरिक शास्त्र सामाजिक कर्त्तव्यो का एक कोष है। राजनीति शास्त्र नागरिक के अधिकारो के प्रयोग के लिये क्षेत्र तैयार करता है। नागरिक शास्त्र उन अधिकारों का केवल ज्ञान प्राप्त कराता है। नागरिक शास्त्र व्यक्तित्व का विकास करता है। राजनीति शास्त्र उस व्यक्तित्व से लाभ उठाता है।

नागरिक शास्त्र और समाज शास्त्र

सभी सामाजिक शास्त्र एक दूसरे से मिले जुले हैं। मनुष्य जिस समाज मे रहता है उसमें विभिन्न संस्थाओं से उसका सम्बन्ध होता है। धर्म के नाते वह किसी मठ अथवा मन्दिर का सदस्य होता है। राजनैतिक लाभ के लिये उसे म्यूनिसिपल बोर्ड और जिला बोर्ड का सदस्य बनना पड़ता है। अपनी जीविका के लिये उसे कोई न कोई कारोबार करना पड़ता है इसलिये व्यापारिक संघो से कोई न कोई सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। प्रत्येक नागरिक को इन संस्थाओं की उत्पत्ति तथा विकास का ज्ञान रखना पड़ता है। यद्यपि यह सम्भव नहीं है कि कोई नागरिक सभी सामाजिक शास्त्रो को भलीभाँति जान सके, फिर भी उसे इनका साधारण ज्ञान तो रखना ही पड़ता है। नागरिक शास्त्र सामाजिक जीवन के केवल एक अग का वर्णन करता है। प्रत्येक नागरिक को इसका विस्तृत ज्ञान होना आवश्यक है। नागरिकता के पूर्ण ज्ञान के बिना मनुष्य की संस्कृति इतनी उन्नत कदापि नहीं हो सकती कि वह विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का साधारण भी ज्ञान

रख सके। समाज शास्त्र सामाजिक बुराइयों तथा भलाइयों दोनों का वर्णन करता है। नागरिक शास्त्र प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिये तैयार करता है कि वह बुराइयों को निकाल कर गुणों का ही समाज में प्रतिपादन करे। समाज शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यवहारो से है, परन्तु नागरिक शास्त्र कुटुम्ब, ग्रमा तथा पड़ोस से ही सम्बन्ध रखता है।

नागरिक शास्त्र और इतिहास

इतिहास मनुष्य की सभ्यता की उन्नति का एक कोष है, जिसमे सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक तथा मानसिक उन्नति का विश्लेषण होता है। वास्तव मे इतिहास मनुष्य की राजनैतिक स्वतंत्रता का एक युद्ध है। इस युद्ध मे नागरिक की वीरता, उसकी विजय तथा पराजय आदि का वर्णन मिलता है। इस प्रकार जिन विषयों का वर्णन हमें इतिहास मे मिलता है वे ही विषय नागरिक शास्त्र में भी पाये जाते है। इतिहास नागरिक के कर्त्तव्यो की एक सूची है। इतिहास हमे यह बतलाता है कि कैसे और क्यों हम अपनी वर्त्तमान अवस्था को प्राप्त हुए है। हमारी सामाजिक उन्नति में आरम्भ से अब तक कितनी कठिनाइयाँ पड़ी हैं। इस प्रगति को समझने के लिये आधुनिक समस्याओ तथा संस्थाओं का ज्ञान रखना आवश्यक है। आधुनिक काल से ही हम भूत तथा भविष्य का अध्ययन कर सकते हैं। हमारी वतमान दशा हमारे भूतकाल के कर्तव्यों का फल है, और इसी मे भविष्य काल का बीज भी छिपा हुआ है। अपने पूर्वजो की कीर्ति को समझने के लिये इतिहास का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। परन्तु यदि हम उनके बतलाये हुए ऊँचे आदर्शों पर चलना चाहते है तो हमे सच्चा नागरिक बनने की आवश्यकता होगी। इस प्रकार नागरिक शास्त्र ही हमारे जीवन की प्रगति को अवनति से उन्नति के मार्ग पर ले जा सकता है। इतिहास को हम एक दूसरी दृष्टि से भी देख सकते हैं। उस समय हमे इतिहास लड़ाइयों का अजायब घर दिखलाई पड़ेगा। नागरिक शास्त्र इन घटनाओ का वर्णन नहीं करता। वह पिछली सामाजिक त्रुटियो का उल्लेख न करके हमारी सम्पूर्ण शक्ति को आनन्द और सुख की ही ओर लगाना चाहता है।

कृषि, व्यवसाय, सामाजिक शासन, राष्ट्रीय आय-व्यय तथा

रक्षा आदि विषयों का प्रतिपादन इतिहास और नागरिक शास्त्र दोनों में पाये जाते हैं। व्यावसायिक उन्नति, शिक्षा की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दोनों शास्त्रों के विषय हैं। कौटुम्बिक जीवन, ग्रामोन्नति, शहरों तथा विभिन्न राष्ट्रों का निर्माण आदि विषय दोनों शास्त्रो के अन्तर्गत आते हैं। यदि इतिहास मूल है तो नागरिक शास्त्र इसकी एक शाखा है। यदि हम भारतवर्ष में प्रतिनिधित्व का इतिहास जानना चाहें तो हमें १९०९ से लेकर अब तक का इतिहास देखना होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का प्रभाव हमारे स्थानीय जीवन पर किसी न किसी प्रकार भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालो में पड़ता रहता है। इतिहास से ही हमारे नागरिक शास्त्र का निर्माण होता है। हम इनके अटूट सम्बन्ध का विच्छेद नही कर सकते।

नागरिक शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र

अर्थ शास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। वह समाज के उस अंग का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध धन की उत्पत्ति तथा वितरण से है। धन की उत्पत्ति कैसे होती है, उसकी आवश्यकता समाज को क्यो पड़ती है, और उसका वितरण किस ढंग पर होता है—इत्यादि बातों का समावेश अर्थ शास्त्र मे होता है। कोई भी ऐसा नागरिक न होगा, जिसे धन की आवश्यकता न हो। मनुष्यों को एकत्र कर एक समाज में ढालने का बहुत बड़ा श्रेय धन को ही है। यदि मनुष्य को इसकी आवश्यकता न हो तो वह सामाजिक तथा राजनैतिक नियमों को पालन करने से इनकार कर देगा। नागरिक शास्त्र इस बात के लिये नियम बनाता है कि नागरिक पर कौन कौन से टैक्स लगाये जायँ, और उनके वसूल करने की क्या विधि हो। दोनों शास्त्र फूल और सुगन्ध की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। यदि टैक्स न लगे तो समस्त सरकारी कारोबार बन्द हो जायँ, फिर तो नागरिकता का नाम भी शेष न रहेगा। धन की खोज करना तो अर्थ शास्त्र का काम है, लेकिन उसके खर्च की व्यवस्था का नियम बनाना नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत है।

नागरिक शास्त्र समाज को सभी दृष्टियो से सम्पन्न देखना चाहता है। इसलिये वह आर्थिक प्रश्नों पर भी विचर करता है।

यहाँ पर दोनों शास्त्रों को मिलने की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक के अन्दर अपने कर्तव्य का पूरा ज्ञान तब तक न होगा जब तक उसे यह अवसर न मिले कि वह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो सके। राज्य में उसे समान अधिकार और समान अवसर मिलना चाहिये। सामाजिक शान्ति तब तक नहीं स्थायी हो सकती जब तक लोगो के पास भोजन का अभाव रहेगा। वह समाज प्रसन्न नहीं रह सकता जिसमें ग़रीब दुखियों की संख्या अधिक होगी। 'ग़रीबी धर्म का नाश है।' धर्म से यहाँ तात्पर्य नागरिक के कर्तव्य से है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। धन से समाज को सुखी रखना राजा का पहिला कर्तव्य है। भारतवर्ष किसानों का देश है। ग्राम शास्त्र के अन्तर्गत कृषि शास्त्र भी आता है। किसान अपनी सफाई कैसे रक्खे, खेती कैसे करे, सिंचाई की क्या व्यवस्था हो, उत्पन्न अनाज के बेचने की क्या तरकीब हो इत्यादि इत्यादि बातों का सम्बन्ध नागरिक शास्त्र तथा अर्थ शास्त्र दोनों से है। नागरिक संगठन जितना ही उत्तम होगा, समभाव की जितनी हीं वृद्धि होगी, उतनी हीं सुविधा आर्थिक संगठन में भी मिलेगी। यदि म्युनिसिपल बोर्ड अच्छी सड़कों का प्रबन्ध न करे तो शहर का व्यापार उन्नति नहीं कर सकता। यही दशा ग्रामों की भी है। जिस समाज में धन की कमी रहती है उस समाज का चरित्र बल भी हीन हो जाता है। इस प्रकार अर्थ शास्त्र और नागरिक शास्त्र पग पग पर मिले हुये हैं। एक दूसरे से अलग करना अध्ययन की दृष्टि से तो कुछ सम्भव भी है, लेकिन ज्ञान की दृष्टि से दोनों कदापि अलग नहीं किये जा सकते। आर्थिक व्यवस्था तथा नागरिक कर्तव्य, इन दोनों का जन्म एक साथ ही हुआ है।

नागरिक शास्त्र और भूगोल

भूगोल से हमें संसार की प्राकृतिक दशा का ज्ञान होता है। प्रत्येक देश कहाँ स्थित है, उसकी आब-हवा कैसी है, वहाँ लोगों की जीविका का क्या साधन है, वहाँ की भूमि कहाँ तक उपजाऊ है—इन बातों का ज्ञान हमें भूगोल से होता है। प्रश्न यह है कि इनका प्रभाव मानव जीवन पर क्या पड़ता है। हमारे देश में एक आम कहावत है कि 'जैसा देश वैसा वेश।' जलवायु

के अनुकूल ही मनुष्य की रहन-सहन बनती है। प्रत्येक देश की नागरिकता भिन्न भिन्न है। जो अधिकार भारतीय नागरिक को प्राप्त हैं, वे ही अधिकार जर्मन तथा रूसी नागरिक को प्राप्त नहीं हैं। दोनों के अधिकारों मे अन्तर है। दोनों का खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल तथा सामाजिक विधान एक ही प्रकार के नहीं हैं। भौगोलिक परिस्थिति हमारे जीवन को एक विशेष ढाँचे में ढालती है। कुछ तो मनुष्य समाज में बनता है और कुछ प्रकृति बनाती है। नागरिक शास्त्र यद्यपि समाज का ही निर्माण है परन्तु प्रकृति इस पर अपना भी प्रभाव डालती है। यदि हमारी भूमि उपजाऊ है तो हमारी आर्थिक दशा अच्छी होगी। इससे समाज में हमारा जीवन सुखी रहेगा। परन्तु भूमि उपजाऊ होते हुए भी यदि सिंचाई की व्यवस्था न हो तो कोई भी सुखी नहीं रह सकता। नागरिक शास्त्र इस बात का भी ध्यान रखता है कि सामाजिक नियम मनुष्य की जलवायु के अनुकूल हों। नदी, पहाड़ों आदि से भी नागरिक को लाभ होते हैं। परन्तु समाज को इसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है। इस प्रकार दोनों शास्त्र एक दूसरे से बहुत कुछ मिले जुले हैं। भौगोलिक ज्ञान की जितनी हीं वृद्धि होगी उतनी हीं मनुष्य की सामाजिक दृष्टि विस्तृत होगी।

नागरिक शास्त्र और धर्म शास्त्र

धर्म एक व्यापक शास्त्र है। इसका क्षेत्र इसी ससार में समाप्त नहीं हो जाता। लोक परलोक दोनों हीं से इसका सम्बन्ध है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति क्या सम्बन्ध है और फिर दोनों का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है इनकी विवेचना धर्म शास्त्र में होती है। यह शास्त्र मनुष्य के चरित्र बल पर अधिक जोर देता है। कोई भी शास्त्र चरित्र को गौण मान कर अपनी स्थिति कायम नही रख सकता। यदि मनुष्य भले बुरे का ज्ञान न रक्खे तो वह पशु से कदापि भिन्न नहीं है। धर्म हीं एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य और पशु मे अन्तर निहित करता है। कोई भी शास्त्र धर्म शास्त्र से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकता। नागरिक शास्त्र को धर्म शास्त्र का विशेष आश्रय लेना पड़ता है। नियम का पालन वही कर सकता है जिसे आत्म उन्नति का ध्यान है। अपने पड़ोसी की भलाई वही चाहेगा जिसके अन्दर दया है। अपने

सामाजिक महापुरुषों के बतलाये हुए मार्ग पर वही चलेगा जिसके अन्दर सौजन्यता का भाव है। मनुष्य के अन्दर शील, दया, आत्म सम्मान, महत्वाकांक्षा आदि गुण धर्म शास्त्र से ही प्राप्त होते हैं। प्रत्येक नागरिक को इनकी आवश्यकता है। उसे स्वार्थी बन कर समाज को कुत्सित नहीं बनाना है। जो अपने प्रति कर्त्तव्यों का ज्ञान रखता है वही अपने पड़ोसी का भी रख सकता है और उसी से सम्पूर्ण राष्ट्र की भो उन्नति हो सकती है।

नागरिक शास्त्र को धर्म शास्त्र का अंग कहा जाय तो कोई प्रतिकूलता न होगी। जब तक हमे छोटी छोटी बातों का ज्ञान न होगा तब तक हम विशालकाय क्षेत्र मे प्रवेश नहीं कर सकते। जब तक हमारी बाह्य शक्तियाँ नियमित रूप से काम न करेंगी तब तक हमारी मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। धर्म मनुष्य का अन्तिम धेय है। इस प्रकार ये दोनो शास्त्र आरम्भ से अन्त तक मिले हुए हैं। एक का उद्देश्य है दूसरे की प्राप्ति। हम मनुष्य को समझ लें और संसार में उसके आवागमन का कारण जान लें, यही प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इसी ओर हमें बढ़ने की आवश्यकता है। यह महान् विश्व मनुष्य की ही अध्ययन शाला है। विभिन्न शास्त्र इसके विभिन्न विषय है। अपनी बुद्धि ही इसमें अध्यापक का काम कर रही है।

एक सच्चा नागरिक बनने के लिये मनुष्य बनने की पहिले आवश्यकता है। यूनान में एक कहावत है "अपने आप को जानो, और कुछ नहीं।" हिन्दू धर्म शास्त्रो में भी यही है कि "आत्मानं विद्धि।" अपने आपको पहचानो। हमारे भीतर के सभी भाव बाहर को प्रगट होते रहते हैं। हमारे अन्दर यदि सफाई है और हमारे विचार उच्च हैं तो हमारी बाहरी संस्थाएँ भी चमकती और उन्नति शील दिखलाई पड़ेंगी। हम हाथ से वही करते हैं जो हमारे मस्तिष्क मे है। हमारी सामाजिक व्यवस्था तभी सुलझेगी जब हमारे भीतर के भाव सुलझ जायँ। नागरिक शास्त्र का सम्बन्ध छोटे छोटे दायरों में बँटा हुआ है। विभिन्न संस्थाओं का प्रतिपादन विभिन्न दृष्टि कोण से किया गया है। परन्तु धर्म शास्त्र समस्त मानव समाज को एक दृष्टि और एक उद्देश्य से देखता है। धर्म शास्त्र, नागरिक शास्त्र का सर्वोन्नत रूप है। दोनों का एक दूसरे

से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागरिक शास्त्र मनुष्यों का अध्ययन है परन्तु धर्म शास्त्र मनुष्य का अध्ययन है।

नागरिक शास्त्र की अध्ययन विधि

किसी निश्चित स्थान पर हम तभी पहुँच सकते हैं जब हमें वहाँ जाने का मार्ग ज्ञात हो। रास्ता भूल जाने पर हम कहीं और ही चले जायेंगे। एक सच्चा नागरिक बनने के लिये जैसे हमें अपने कर्तव्यों का ध्यान रखना पड़ता है, उसी प्रकार नागरिक शास्त्र के अध्ययन में भी हमें चन्द बातों का ध्यान रखना होगा। तभी हम इस शास्त्र का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से कर सकेंगे। नागरिक शास्त्र केवल विचार करने के लिये नहीं है। वह मनुष्य को कर्तव्य की ओर अग्रसर करता है। इसलिये हमारी बुद्धि रचनात्मक होनी चाहिये। कोरी कल्पना से हम इस शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकते। जैसे हमारे विचारों में क्रम होता है उसी प्रकार हमारे रचनात्मक कार्यों में भी कोई न कोई क्रम और कला दोनों ही होने चाहिये। विचार के साथ साथ हमें अन्वेषण भी करते रहना होगा। जब हम अपने विचारो को तथा अन्वेषणों को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत करेंगे तभी हम समाजोपयोगी कोई व्यवस्था निकाल सकेंगे। अपने कुटुम्ब से लेकर अपने पड़ोसी, ग्राम वासी तथा नगरवासियों को हमें क्रम पूर्वक अध्ययन करना होगा और फिर उसी क्रम से उनकी उन्नति पर विचार करके अपने को उसमे लगाना होगा। इसलिये नागरिक शास्त्र के प्रत्येक पाठक को वैज्ञानिक विचार और रचनात्मक बुद्धि का रखना अत्यन्त आवश्यक है।

नागरिक शास्त्र का उद्देश्य मनुष्यों का अध्ययन करना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम स्वयं समाज मे रह कर इसका अध्ययन करें। हम समाज में तभी रह सकते हैं जब उसको हम एक संगठित रूप देते रहे। प्रत्येक व्यक्ति के प्रति हमारी सहानुभूति हो। यदि नागरिक के प्रति हम उदासीन हैं, तो समाज में रहते हुये भी हमारा जीवन दुखी रहेगा। इस उदासीन वृत्ति से हम नागरिक शास्त्र का ठीक ठीक अध्ययन नहीं कर सकते। पड़ोसी, ग्राम, तथा समस्त राष्ट्र के प्रति सहानुभूति जब तक न होगी तब तक हमारा ज्ञान अधूरा रहेगा। किसी भी जातीयता अथवा

साम्प्रदायिकता का भाव लेकर हमें नागरिक शास्त्र का अध्ययन नहीं करना चाहिए। इससे हमारी बुद्धि संकुचित होगी। ऊँच नीच की बुद्धि हमारे अध्ययन में बाधक सिद्ध होगी। इसलिए सहानुभूति के साथ साथ हममें समभाव और सद्भाव की भी आवश्यकता है। नागरिक शास्त्र का अध्ययन इस दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध न होगा कि सामाजिक बुराइयों और भलाइयों की सूची हमारे मस्तिष्क मे आ जाय। अध्ययन के पीछे सुधार की भी भावना होनी चाहिए। हमारे अध्ययन का रचनात्मक उपयोग तभी होगा जब हमारे अन्दर सुधार की सच्ची लगन होगी। दूसरों के दुख मे हमें भी दुख प्रकट करना होगा और सुख में खुशी दिखलानी होगी। हम समाज के जितने ही साथ रहेंगे उतनी हीं वैज्ञानिकता से नागरिक शास्त्र का अध्ययन कर सकेंगे।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन से ही हमारा काम नहीं चल सकता। हमे इसका स्वाध्याय करना होगा। पुस्तकों के आधार पर ही हम अपना विचार निश्चित न करें। किसी विशेष व्यक्ति की राय को हम अपनी राय न मान लें। समाज हमें जिस रूप मे दिखलाई देता है उसी को अनादि काल की रचना न मान बैठें। यदि औरो के ही विचारो मे हम बह चलें, तो हमारा अध्ययन तोते का राम राम हो गया। समाज मे प्रचलित कुरीतियों को यदि हम स्वाभाविक और अमर मान ले तो ऐसे अध्ययन से कुछ भी लाभ न होगा। ठीक अध्ययन तभी होगा जब पाठकगण स्वतन्त्र विचार से सभी घटनाओ पर विचार करेंगे। उनका ध्यान प्रति क्षण यही होना चाहिए कि उन्हे अपनी बुद्धि की कसौटी पर सब की राय को कसना है। जब सभी बातो को वे अपनी स्वतन्त्र और न्याययुक्त बुद्धि से विचार करेंगे तभी उन्हे नागरिकता का जीवित ज्ञान प्राप्त होगा। इसलिये सहानुभूति और रचनात्मक बुद्धि के साथ स्वतन्त्र विचार रखना होगा।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन मे एक वस्तु और भी सहायक हो सकता है। नागरिक ज्ञान के लिये नागरिक की सेवा पहिली सीढ़ी है और यही सबसे सरल मार्ग है। समाज मे विभिन्न संस्थाओ की भिन्न भिन्न समस्याएं होती हैं। स्कूलो की एक समस्या है, इसके विपरीत मिलो और कारख़ानो मे कुछ और ही दिखलाई पड़ेगा।

वहाँ हमें मज़दूरों की समस्या दिखलाई पड़ेगी । ग्रामों में हमें किसानों की ग़रीबी देखने को मिलेगी । मन्दिरों में कुछ और ही दिखलाई देगा । वहाँ भी कोई न कोई प्रश्न है । इनके अतिरिक्त समाज में तरह तरह की बुराइयाँ दिखलाई पड़ेंगी । शराब ख़ोरी, जुआ, व्यभिचार इत्यादि हमें देखने को मिलेंगे । इनके विरुद्ध बहुत सी अच्छाइयाँ भी देखने में आयेंगी । प्रत्येक नागरिक शास्त्र के विद्यार्थी को कोई न कोई एक प्रश्न ले लेना चाहिए । उसी के अनुकूल स्थान में जाकर स्वयं लोगों से मिल कर वहाँ की समस्या का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इससे हमारा ज्ञान परिपक्व होगा । यदि इस क्रम से नागरिक शास्त्र का अध्ययन किया जाय तो समाज की सारी कमज़ोरियाँ हमें ज्ञात हो जायेंगी, उनकी वजहें भी मालूम होंगी । परिणाम यह होगा कि समाज को सुधारने में हमें देर न होगी । यही नागरिक शास्त्र की उपयोगिता है । इस प्रकार की सेवा एक ठोस वस्तु होगी जिसका महत्व किताबी ज्ञान से कहीं बढ़ कर सिद्ध होगा ।

अध्याय २

नागरिकता

नागरिक—नागरिक और राज्य—ग्राम और नगर—अनागरिक—नागरिकता—नागरिकता की कसौटी—नागरिकता की प्राप्ति—नागरिकता का लोप—भारतीय नागरिक—आदर्श नागरिकता—आदर्श नागरिकता में कुछ बाधायें।

नागरिक

नागरिकशास्त्र की परिभाषा से यह भलीभाँति स्पष्ट है कि हम इसमे नागरिक के अधिकार और उसके कर्त्तव्य का अध्ययन करते हैं। नागरिकता के आधार पर ही इस शास्त्र की रचना हुई है। नागरिक का अर्थ है नगर अथवा ग्राम का निवासी परन्तु नागरिक का यह अर्थ अपूर्ण है। शहर अथवा ग्राम में रहने वाला एक भिखारी नागरिक नहीं कहा जा सकता। विदेशी व्यक्ति भी नागरिक नही कहे जा सकते। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टि से हम प्रत्येक देश के निवासियो को दो भागों में बाँट सकते हैं। एक को हम नागरिक कहेगें और दूसरे को अनागरिक। नागरिक का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से नहीं है। कोई भी नागरिक विदेश मे रहते हुए भी अपने को नागरिक कह सकता है। प्राचीन काल में यूनान देश मे बहुत से छोटे छोटे नगर थे। प्रत्येक नगर न केवल राजनैतिक दृष्टि से, बल्कि आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी पूर्ण स्वतंत्र था। उनमे एकता और समानता का जो व्यवहार प्रचलित था उसे अब भी हम आदर्श के रूप में मानते हैं। परन्तु वहाँ भी हमे स्पष्ट दो भेद दिखलाई पड़ते हैं। नगर के कुछ निवासियों को सभी राजनैतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। ये ही व्यक्ति नागरिक कहे जाते थे। इसके विपरीत कुछ ऐसे निवासी थे जिन्हें किसी भी प्रकार का अधिकार प्राप्त न था। इन्हे अनागरिक अथवा दास कहा जाता था। दोनो ही शहर में रहते थे परन्तु उनके अधिकारों में महान् अन्तर था। हम विभिन्न नामो से इन्हें सूचित करते हैं। एक को नागरिक तथा दूसरे को

अनागरिक, एक को स्वामी और दूसरे को दास, एक को स्वतंत्र और दूसरे को गुलाम इत्यादि इत्यादि इनके विभिन्न नाम हैं।

अरस्तू ने नागरिक की परिभाषा इस प्रकार की है, "नागरिक वह व्यक्ति है जिसे नगर की सम्पूर्ण राजनैतिक कारवाइयों में भाग लेने का अधिकार है।" इससे स्पष्ट है कि नागरिक को राजनैतिक अधिकारों से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कोई नागरिक राजनैतिक अधिकार से वंचित कर दिया जाय तो उसे नागरिक कहना ठीक नहीं है। प्रत्येक नागरिक राजनैतिक संगठन का एक अंग है। उस संगठित समाज के प्रति उसके बहुत से कर्त्तव्य हैं। उस संगठन में उसके बहुत से अधिकार हैं। अरस्तू की यह परिभाषा बहुत ही संकुचित है। जब गुलामी प्रथा का संसार मे प्रचार था उस समय नागरिक की यह परिभापा ठीक हो सकती थी परन्तु आधुनिक काल मे इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। यूनान की तरह रोम भी एक छोटा सा नगर था। यहाँ के निवासियो ने जब बहुत से देशों को जीत लिया और रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई तो नागरिक के अर्थ मे भी एक महान् परिवर्तन हुआ। रोमन साम्राज्य मे रहने वाले किसी भी व्यक्ति को रोम का नागरिक करार दिया जाता था। चाहे कोई रोम नगर मे भले ही न गया हो परन्तु वह रोम का नागरिक कहलाता था। २१२ ईस्वी मे सम्राट् केराकेला ने यह घोपित कर दिया कि रोमन साम्राज्य के सभी स्वतन्त्र व्यक्ति रोम के नागरिक कहलायेंगे। रोम में रहने वाले नागरिको को जो अधिकार प्राप्त थे वे सभी अधिकार रोमन साम्राज्य में रहने वाले नागरिको को भी मिल गये। नागरिक का क्षेत्र शहर से बढ़ा कर साम्राज्य तक विस्तृत कर दिया गया।

आधुनिक काल मे नागरिक शब्द का प्रयोग और भी बड़े दायरे में किया जाता है। वह केवल नगर का निवासी मात्र नहीं है। अब वह एक राष्ट्रीय सदस्य समझा जाता है। उसके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की सीमा नगर से बढ़ा कर सम्पूर्ण राष्ट्र मे फैला दी गई है। राजनैतिक सत्ता की वृद्धि के साथ साथ नागरिक के अधिकार का बढ़ना स्वाभाविक है। कर्त्तव्यो का क्षेत्र जितना ही बढ़ेगा, हमारे अधिकार भी उसी मात्रा में बढ़ते जायेंगे। आधुनिक

काल में प्रत्येक राज्य की सीमा इतनी बढ़ गई है कि उसमें नगरों तथा ग्रामों की गणना नहीं हो सकती। फिर भी उनके निवासियों के अधिकारों मे समानता का भाव रखना पड़ता है। भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीयता की वृद्धि के आभास अभी से मिल रहे हैं। यदि ऐतिहासिक प्रगति ऐसी ही रही तो स्वदेशी और विदेशी का अन्तर भी दूर हो जायेगा। बृटिश साम्राज्य मे रहने वाले सभी व्यक्ति प्रजा कहलाते हैं। अँग्रेजी कानून मे नागरिक शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया है। हम सभी अँग्रेज़ी राज्य मे प्रजा हैं, नागरिक नहीं। अमेरिका, फ्रांस तथा जर्मनी में प्रजा शब्द का प्रयोग न करके वहाँ के लोग नागरिक कहे जाते हैं।

नागरिक और राज्य

'नागरिक' शब्द के ठीक ठीक अर्थ को समझने के लिये हमे राज्य से उसके समस्त सम्बन्धों को जानना होगा। यदि हमें राज्य के उद्देश्य मालूम हो जायँ तो नागरिक का भी धेय अपने आप ज्ञात हो जायगा। आरम्भ काल से अब तक दो विरोधी दल चले आरहे हैं। एक तो इस बात पर ज़ोर देता है कि नागरिक सब कुछ है और राज्य स्वयं कोई वस्तु नहीं है। दूसरा दल राज्य को ही सब कुछ मानता है और नागरिक को कोई अधिकार प्रदान नहीं करना चाहता। परन्तु ठीक रास्ता इन दोनो के बीच में है। नागरिक के बिना राज्य की और राज्य के बिना नागरिक की कोई हस्ती नहीं है। दोनों एक दूसरे से बीज और फल की तरह मिले हुये हैं। जिस राज्य में नागरिक सम्पन्न है, प्रसन्न है, चरित्रवान है, वह राज सभी दृष्टियो से उन्नति शील गिना जाता है। राष्ट्रीय उन्नति नागरिक के ही संगठन का परिणाम है। राजसत्ता की बागडोर नागरिक के ही हाथ में रहती है। राज्य, नागरिक की ही उन्नति के लिये जीवित है। नागरिक की शारीरिक अथवा मानसिक उन्नति का भार राज्य पर ही निर्भर है। राज्य इस बात का अवसर दे तथा सुविधायें प्रदान करे, कि नागरिक अपनी पूरी उन्नति कर सके।

ग्राम और नगर

भारतवर्ष मे ग्राम और नगर दोनो हीं हैं। ग्राम के रहने वाले ग्रामीण कहलाते हैं। शहर के रहने वाले नागरिक कहलाते हैं। परन्तु यह अर्थ केवल शाब्दिक है।

शास्त्रीय विधि के अनुसार दोनो ही स्थानो में रहने वाले नागरिक कहे जाते हैं। जो अधिकार किसी नागरिक को नगर मे प्राप्त है वही अधिकार एक गाँव मे भी उसे प्राप्त है। इनमें जो थोड़ा अन्तर दिखलाई पड़ता है उसका कारण यह है कि दोनों जगहों की रहन सहन में अन्तर है। राज्य में ग्राम अथवा नगर दोनो का नागरिक एक है। दोनों के अधिकार समान हैं। शासन विधान में दोनों को समान अवसर दिये जाते हैं। शिक्षा आदि की सुविधाये दोनो के लिये एक प्रकार से देनी पड़ती हैं। चूँकि ग्राम का जीवन संगठित नहीं है, आवागमन के साधन वहाँ उचित नहीं हैं, शिक्षा की वहाँ कमी है, इस लिये ग्रामीण नागरिक अपने अधिकारो का उतना उपयोग नहीं कर पाता है जितना शहर का नागरिक। ग्रामों का संगठन हो रहा है। भविष्य में ग्रामीण नागरिक का जीवन अत्यन्त उन्नत दिखलाई पड़ रहा है। ९० प्रतिशत भारतीय जनता ग्रामों मे रहती है। यदि ग्रामीण नागरिको को राष्ट्रीयता की पूरी शिक्षा दे दी जाय तो हमारे देश की अद्भुत उन्नति हो सकेगी। ग्राम हमारे राष्ट्रीय जीवन की जड़ है। संसार मे कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ नगर और ग्राम मे राजनैतिक दृष्टि से कोई भेद दिखलाई पड़े। यह प्रगति हमारे देश में भी है। परन्तु सामाजिक रहन-सहन की कमी के कारण आज ग्रामीण नागरिक हमे भिन्न दिख लाई पड रहा है।

अनागरिक

जो नागरिक नहीं हैं वे अनागरिक कहलाते हैं। अनागरिक संख्या में नागरिको से कम होते हैं। किसी जाति विशेष से नागरिकता निर्णय नहीं की जाती है। किसी भी जाति का मनुष्य नागरिक हो सकता है। एक राज्य का निवासी दूसरे राज्य मे अनागरिक कहलाता है। नागरिक को राजनैतिक और सामाजिक दोनों अधिकार प्राप्त होते हैं, परन्तु अनागरिक राजनैतिक अधिकार नहीं रख सकता। वह विदेशी राज्य मे एक भी वोट नहीं दे सकता। किसी ऊँचे सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। सामाजिक अधिकारो में नागरिक और अनागरिक मे कोई भेद नहीं है। दोनो किसी सभा-सम्मेलन में व्याख्यान दे सकते हैं। दोनों स्कूलो तथा विश्वविद्यालयो

में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों की रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर एक ही समान है। सभी सामाजिक सुविधाये अना-गरिक को भी प्राप्त रहती हैं। उसकी इच्छा पर है कि वह उनसे लाभ उठावे अथवा न उठावे। आधुनिक अनागरिक में और यूनान के प्राचीन अनागरिक मे ज़मीन आसमान का अन्तर है। वर्तमान समय मे कोई भी अनागरिक गुलाम नही है। यूनान में अनागरिक गुलाम समझे जाते थे। वे नागरिकों की एक प्रकार की सम्पत्ति थे। जिसके घर मे जितने ही अधिक अनागरिक थे वह उतना ही धनी समझा जाता था। इसी लिये वहाँ अनागरिको की संख्या नागरिकों से दूनी तथा चौगुनी तक हुआ करती थी। लेकिन अब ऐसी बात नहीं है। अनागरिक उसी प्रकार स्वतन्त्र है जैसे नाग-रिक। अनागरिकों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। स्वदेशी और विदेशी। सभी विदेशी अनागरिक समझे जाते हैं। इसी प्रकार अपने हीं देश में बहुत से स्वदेशी अनागरिक होते हैं। थोड़े दिन पहिले लगभग सभी देशों में स्त्रियाँ अनागरिक समझी जाती थीं। उन्हे कोई भी राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अब भी कुछ देश हैं जहाँ स्त्रियाँ अनागरिक हैं। लम्बी जेल की सजाये काटने वाले अकसर अनागरिक करार दिये जाते हैं। शारीरिक त्रुटियों तथा पागलपन के कारण भी नागरिक अनागरिक करार दिये जाते हैं। सम्पत्ति हीन व्यक्ति अनागरिक होता है। कोई भी नागरिक अपने आप को अनागरिक बना सकता है।

नागरिकता — नागरिकता एक प्रकार का अधिकार है जो केवल नागरिक को दिया जाता है। राज्य की ओर से यह अधिकार नागरिक को प्रदान किया जाता है। समय समय पर सरकार इस बात की जाँच किया करती है कि कोई नागरिक इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं करता है। जो इस अधिकार का अनुचित प्रयोग करता है उसे दंड दिया जाता है और कभी कभी उसे नागरिकता से वंचित भी कर दिया जाता है। इसी अधिकार के अन्तर्गत नागरिक के कर्तव्य और सम्पूर्ण राजनैतिक अधिकारों का समावेश होता है। नागरिक का सम्बन्ध कुटुम्ब, ग्राम, ज़िला, प्रान्त तथा विभिन्न संस्थाओ से होता है। प्रत्येक के प्रति उसका कुछ न कुछ कर्तव्य है, क्योकि उन सबसे

उसे लाभ पहुँचता हैं । नागरिकता इस सम्बन्ध को निश्चित करती है। यही सामाजिक जीवन मे एकता प्रदान करती है। इसे प्राप्त करना राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति का एक कर्तव्य है। नागरिकता से वंचित व्यक्ति पूरी उन्नति नहीं कर सकता। व्यक्तिगत जीवन मे इसकी उपयोगिता न हो परन्तु आधुनिक युग सामाजिक एकता का युग है । जब तक मनुष्य किसी न किसी संगठन का सदस्य न बनेगा, तब तक उसका जीवन स्थायी नहीं हो सकता। राज्य सबसे बड़ा संगठन है। इसलिये इसका सदस्य बन कर कोई भी व्यक्ति अपना विकास कर सकता है । इसकी सदस्यता की शर्त ही नागरिकता है। जिसे नागरिकता प्राप्त नहीं है वह राज्य का सदस्य नहीं है। जो जिस राज्य का नागरिक है वह उसका सदस्य भी है। एक ही व्यक्ति दो राज्य मे नागरिकता प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ वह एक राज्य की नागरिकता को छोड़ कर, कुछ शर्तों को पूरा करके किसी भी राज्य मे नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

सच्ची नागरिकता एक प्रकार की सेवा है । जो व्यक्ति अपने कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र की सेवा अपना कर्तव्य समझता है वही सच्चा नागरिक है। माता, पिता, पुत्र, भाई आदि अपने अपने कर्तव्य का ध्यान रक्खें, तथा एक दूसरे के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन करते रहे यही सच्ची नागरिकता का प्रमाण है। राष्ट्र का सदस्य होते हुये भी कोई व्यक्ति कुटुम्ब अथवा छोटे छोटे अन्य समूहो के प्रति कर्तव्यहीन हो सकता है। वह सच्चा नागरिक नहीं कहा जा सकता। कर्तव्यशील वही कहा जाता है जो छोटे बड़े सभी कामो का ध्यान रखता है। इसी प्रकार सच्ची नागरिकता उसी को प्राप्त है जो कुटुम्ब से लेकर राष्ट्र तक की सेवा का सच्चा उपासक है। नागरिकता कोई दिखलावटी चीज़ नहीं है। इसका उपयोग और दुरुपयोग नागरिक की इच्छा पर निभर रहता है । सच्ची नागरिकता अपने आप पैदा होती है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के आदर्श से जुड़ा हुआ है । आदर्शवादी व्यक्ति सच्चे नागरिक हुआ करते हैं। चरित्रवान व्यक्ति भी नागरिकता का सच्चा पुजारी होता है। अधिकार के साथ साथ नागरिकता एक प्रकार की तड़प है जो मनुष्य को समाज सेवा की ओर अग्रसर करती है।

जब राज्य मे सभी नागरिक नहीं हैं तो यह कैसे जाना जाय कि कौन नागरिक और कौन अनागरिक है। सरकार को अपने राज्य मे इसके लिये कोई न कोई नियम ज़रूर बनाना होगा। लगभग सभी देशो मे दो नियम पाये जाते हैं। इन्हीं से नागरिक और अनागरिक का भेद जाना जाता है।

नागरिकता की कसौटी

नागरिकता जन्म के साथ निश्चित मानी जाती है। प्रत्येक नागरिक माता-पिता का पुत्र अपने राज्य मे नागरिक कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। यूनान तथा रोम मे प्राचीन काल मे जन्म से ही नागरिकता का निर्णय किया जाता था। यदि किसी लड़के का जन्म रोमन माता पिता से रोम साम्राज्य के बाहर भी होता था तो भी वह रोम का नागरिक समझा जाता था। आज भी इटली तथा फ़्रांस मे यही नियम प्रचलित है। यूरप के बहुत से देश इसी नियम को मानते है। यदि इटैलियन स्त्री पुरुष से भारतवर्ष मे कोई लड़का पैदा हो तो वह इटली का नागरिक समझा जायगा। परन्तु यदि स्त्री इटैलियन हो और पुरुष विदेशी हो तो उससे उत्पन्न बालक इटली का नागरिक नहीं कहा जा सकता। या यदि किसी विदेशी स्त्री पुरुष से इटली मे कोई लड़का पैदा हो तो उसे इटली की नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। प्रत्येक देश मे एक निश्चित आयु हुआ करती है, जिसके नीचे किसी को भी नागरिकता प्राप्त नहीं हो सकती। हिन्दुस्तान मे १८ वर्ष की आयु से कम व्यक्ति को नागरिकता नहीं मिल सकती। यूरप के देशो में यह आयु बीस या इक्कीस वर्ष रक्खी गई है।

जन्म के अतिरिक्त नागरिकता की एक दूसरी भी कसौटी है। वह है राज्य में निवास स्थान। जो भी व्यक्ति, चाहे वह स्वदेशी हो वा विदेशी, एक निश्चित अवधि तक किसी राज्य मे रहे तो वह वहाँ का नागरिक क़रार दिया जाता है। जो भी लड़का, चाहे वह विदेशी ही स्त्री पुरुष से क्यो न हो, किसी राज्य मे पैदा हो तो वह एक निश्चित आयु के बाद वहाँ का नागरिक हो जाता है। अर्जेन्टाइन मे यही नियम प्रचलित है। यदि किसी भारतीय स्त्री पुरुष से वहाँ सन्तान उत्पन्न हो तो वह अर्जेन्टाइन का नागरिक समझा जायगा। अर्जेन्टाइन राज्य की सीमा के अन्दर जिसका

भी जन्म होगा वह वहाँ का नागरिक समझा जायगा। अर्जेन्टाइन के माता पिता से विदेशी भूमि मे उत्पन्न सन्तान अर्जेन्टाइन का नागरिक नहीं कहला सकती। पहले में नागरिकता जन्म से मानी जाती है और दूसरे मे स्थान द्वारा मानी जाती है।

इन दोनों सिद्धान्तों के अतिरिक्त नागरिकता की एक तीसरी भी कसौटी है। अमेरिका मे नागरिकता स्थान और जन्म दोनों से मानी जाती है। यह कसौटी कोई नई नहीं है बल्कि उन्हीं दोनो के मेल से बनाई गई है। संसार मे कहीं भी यदि अमेरिकन स्त्री पुरुष से कोई सन्तान होगी तो वह अमेरिका की नागरिक कहलायेगी। इसके अलावे यदि विदेशी स्त्री पुरुष से भी कोई सन्तान अमेरिका राज्य के अन्दर होगी वह भी अमेरिका की नागरिक कहलायेगी। नागरिकता का यह सिद्धान्त बहुत ही व्यापक है। इङ्गलैंड मे भी नागरिकता इसी सिद्धान्त पर निश्चित की जाती है। किसी किसी राज्य में नागरिकता पुरुष से ही मानी जाती है। अर्थात् कोई व्यक्ति उस राज्य का नागरिक माना जाता है जहाँ का उसका पिता नागरिक हो। कुछ राज्यो मे नागरिकता का विचार स्त्री के वंश से किया जाता है। अर्थात् कोई व्यक्ति उस राज्य का नागरिक समझा जाता है जहाँ की उसकी माता नागरिक होती है।

नागरिकता का ठीक ठीक निर्णय करना एक बड़ा ही जटिल विषय है। कभी कभी तो एक ही व्यक्ति दो राज्यों की नागरिकता का अधिकारी हो जाता है। जैसे यदि किसी अंग्रेज स्त्री पुरुष से फ्रांस में कोई सन्तान हो तो वह इङ्गलैंड तथा फ्रांस दोनों की नागरिक कहलायेगी। ऐसी दशा में उस व्यक्ति के लिये यह बड़ी कठिनाई होती है कि वह किसकी नागरिकता को स्वीकार करे और किसका परित्याग। साधारणतया पाठकगण यह समझते होगे कि उसे दोनों राज्यो का नागरिक रहकर दोनों से लाभ उठाना चाहिए। लेकिन यह बात असम्भव है। एक ही व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक नही रह सकता। ऐसा इसलिये किया गया है कि व्यक्ति का समस्त उत्तरदायित्व एक ही राज्य पर पूर्णतया रह सके। मान लीजिये इङ्गलैंड और फ्रांस मे लड़ाई छिड़ गई। या इनमे से किसी एक से एक तीसरे राज्य से लड़ाई आरम्भ हुई। दोनो हीं राज्य अपने अपने नागरिक को लड़ाई के लिये तैयार होने का हुक्म देंगे। फिर

तो एक ही नागरिक दोनों जगह काम नहीं कर सकता। या तो वह इङ्गलैंड का ही नागरिक बन कर लड़े या फ्रान्स का। इस कठिनाई को दूर करने के लिये २० या २१ वर्ष की आयु मे सन्तान से यह पूछा जाता है कि वह इङ्गलैंड का नागरिक बन कर रहना चाहता है अथवा फ्रांस का। उसे एक राष्ट्र की नागरिकता का परित्याग करना पड़ता है। इसी प्रकार की कठिनाई कई विभिन्न दो राष्ट्रों में उत्पन्न होती रहती है। कभी कभी तो नागरिक को दोनों की नागरिकता से हाथ धोना पड़ता है।

नागरिकता की विभिन्न कसौटियों में कौन सबसे अच्छी है, यह कहना कठिन है। जन्म अथवा स्थान दोनों से नागरिकता का क्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। कठिनाई यह आती है कि किस व्यक्ति को हम किस राष्ट्र का नागरिक कहें। इसलिए जन्म से नागरिकता मानने मे यह कठिनाई दूर हो जाती है। जो व्यक्ति जिस राष्ट्र के माता-पिता से उत्पन्न होता है वह उसी राष्ट्र का नागरिक समझा जाता है। या जिस भूमि मे उत्पन्न हुआ है उसी का नागरिक माना जाता है। कभी कभी विदेश यात्रा मे यदि किसी स्त्री को सन्तान उत्पन्न हो जाती है, और उसकी नागरिकता स्थान पर निर्भर करती है, तो बच्चा सदैव के लिये विदेशी नागरिक बन जाता है। माता की इच्छा रहते हुए भी वह अपने राष्ट्र का नागरिक नहीं बन सकता। कभी कभी तो यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि राष्ट्रीयता का ही निर्णय कैसे किया जाय। मान लीजिये हिन्दुस्तान मे एक लड़का विदेशी माता-पिता से पैदा होता है। माता अमेरिकन है और पिता अफ्रीका का निवासी है। अब हम बच्चे को किस राष्ट्र का नागरिक कहे। इस प्रकार की कठिनाई प्रत्येक राज्य मे प्रतिवर्ष कुछ न कुछ उत्पन्न होती रहती है। अब भी नागरिकता का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। अच्छा तो यह हो कि जो जिस राज्य मे रहना चाहे वह उसका नागरिक हो। स्त्री, पुरुष, जाति, रंग, नीच, ऊँच के आधार पर नागरिकता का निर्णय ठीक नही है।

प्रत्येक राज्य में इस बात का भी विधान रहता है कि यदि किसी विदेशी को नागरिक बनाना हो तो क्या करना चाहिये। या किसी की नागरिकता विलुप्त हो चुकी हो तो वह पुनः कैसे प्राप्त हो। यदि ऐसा न हो तो राष्ट्र के राष्ट्र अनागरिकों से भर जायँ। विदेशियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वे जो सदैव के लिये अपनी मातृ भूमि को छोड़ कर विदेशों में जाकर बस गये हैं। वहीं कृषि या व्यापार करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं। विदेश ही उनकी मातृ भूमि हो गई है। दूसरे प्रकार के विदेशी वे हैं जो थोड़े दिनों के लिये केवल यात्रा के उद्देश्य से या किसी आवश्यक कार्य से विदेशों में चले जाते हैं। दूसरे प्रकार के विदेशी तो अपने राज्य के नागरिक हुई हैं। उन्हें किसी अन्य देश की नागरिकता से कोई प्रयोजन नहीं है। वे साल छः महीने में घूम कर अपने देश को वापिस आ जायेंगे। परन्तु पहले प्रकार के विदेशी, जो अपनी जन्म भूमि को सदैव के लिये छोड़ चुके हैं, अपनी नागरिकता को खो चुके हैं। उनके लिये किसी अन्य राज्य मे नागरिकता प्राप्त होनी चाहिये। सभी राज्यो में यह एक सा नियम पाया जाता है कि विदेशी को सम्पूर्ण सामाजिक अधिकार प्राप्त हो। इसके लिये नागरिक और अनागरिक मे कोई भी भेद नहीं किया गया है। राजनैतिक अधिकार विदेशी या अनागरिक को नहीं दिये जाते है।

नागरिकता की प्राप्ति

अनागरिक को नागरिक बनाने के कई विधान बनाये गये है। विदेशियो की सुविधा के लिये ऐसा किया गया है। ये विधान विभिन्न राज्यों में विभिन्न प्रकार के हैं। एक नियम लगभग सब मे पाया जाता है। वह है देशीयकरण (Naturalisation). इसके लिये विदेशी व्यक्ति को किसी सरकारी अफसर के पास दरख़ास्त देनी पड़ती है कि वह अमुक राज्य का नागरिक बनना चाहता है। कुछ शर्तों की पूर्ति भी उसे करनी पड़ती है। जब यह दरख़ास्त मंजूर हो जाती है तो वह उसका नागरिक हो जाता है। फिर उसे समस्त राजनैतिक अधिकार प्रात हो जाते हैं। राज्य की ओर से उसे एक सनद प्राप्त हो जाती है कि वह नागरिक बना लिया गया। देशीयकरण के लिये दो शर्तें लगभग सभी राज्यो

में पाई जाती हैं। एक है किसी निश्चित अवधि तक उस देश में निवास करना। इंगलैंड में देशीय करण के लिये प्रत्येक विदेशी को कम से कम ५ वर्ष वहाँ जरूर रहना चाहिये। पाँच वर्ष के पहिले किसी को भी नागरिकता की सनद नहीं मिल सकती। अमेरिका में भी यही अवधि निश्चित की गई है। विभिन्न राज्यों में यह अवधि विभिन्न प्रकार की है। कहीं पर ७ वर्ष की अवधि है। कहीं पर १० वर्ष की है। देशीयकरण के लिये दूसरी प्रचलित शर्त है राज-भक्ति की शपथ लेना। जो जिस राज्य का नागरिक बनना चाहता है उसे राष्ट्र भक्ति की शपथ लेनी पड़ती है। इन दो शर्तों के अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें हैं जो सब राज्यो में समान नहीं हैं। जैसे राष्ट्र भाषा का ज्ञान, नैतिक चरित्र, प्रचलित शासन पद्धति में विश्वास, अपना भरण पोषण कर सकना, ज़मीन या जायदाद ख़रीदना इत्यादि। अमेरिका मे देशीयकरण के नियम बहुत ही सख्त हैं। काले रंग के मनुष्य वहाँ नागरिकता नहीं प्राप्त कर सकते। एशिया महाद्वीप के निवासियो को बहुत कम नागरिकता प्रदान की जाती है। प्रत्येक नागरिक को अमेरिका की शासन पद्धति और अमेरिका का इतिहास जानना पड़ता है।

देशीयकरण के अतिरिक्त विवाह से भी नागरिकता प्राप्त की जा सकती है। यदि कोई स्त्री किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो वह वहाँ के किसी पुरुष नागरिक से विवाह कर ले। इसके पश्चात् वह अपने पति की तरह वहाँ की नागरिक बन जाती है। यदि एक राज्य किसी दूसरे राज्य पर अपना अधिकार प्राप्त कर ले तो हारे हुये राज्य के समस्त नागरिक विजित राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं। कहीं कहीं पर ऐसा भी होता है कि यदि कोई विदेशी किसी दूसरे राज्य में कोई सरकारी पद प्राप्त कर ले तो वह वहाँ का नागरिक क़रार दिया जाता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक राज्य किसी दूसरे का कुछ भाग ख़रीद लेता है। ऐसी दशा में ख़रीदे हुये भाग के समस्त नागरिक नये राज्य की नागरिकता के अधिकारी हो सकते हैं। अलास्का को अमेरिका ने १८६७ ई० मे रूस से ख़रीद लिया। परन्तु वहाँ के निवासी अमेरिका के नागरिक नहीं बन सके। इंगलैंड मे यह नियम है कि अंग्रेजी जहाज़ पर जन्म लेने वाला

व्यक्ति भी, चाहे उसके माता-पिता अंग्रेज न भी हो, बृटिश नागरिक माना जाता है।

नागरिकता प्राप्त करने वालों में और पुराने नागरिको मे कोई भेद नहीं है। दोनों को वहाँ की सरकार एक दृष्टि से देखती है। राजनैतिक अधिकार में दोनों एक समान भाग ले सकते हैं। स्वाभाविक नागरिक और देशीयकरण द्वारा बनाये गये नागरिक में कोई लिखित भेद न होते हुये भी कुछ परिपाटियाँ भेद को नही मिटा सकतीं। यदि कोई भारतीय इंगलैंड की नागरिकता प्राप्त कर ले तब भी वह हाउस आफ लार्ड्स का सभापति नहीं बन सकता। कोई भी बनाया हुआ नागरिक अमेरिका का सभापति तथा उप-सभापति नहीं बन सकता। १९१४ के पहिले इंगलैंड में बहुत सी नौकरियाँ वहीं के स्वाभाविक नागरिकों को ही दी जाती थीं। परन्तु १९२४ में एक नया क़ानून पास किया गया। तब से सभी नागरिक समान समझे जाते हैं।

नागरिकता का लोप

जब कि नागरिकता प्राप्त की जा सकती है तो उसका लोभ भी हो सकता है। जन्म से नागरिक की नागरिकता भी छीन ली जाती है। जो नये नागरिक बनाये जाते हैं, उन्हे भी इस अधिकार से कभी कभी वंचित होना पड़ता है। यदि कोई स्त्री किसी दूसरे देश के नागरिक से विवाह करले तो वह अपनी नागरिकता को खो बैठती है। यदि कोई भारतीय स्त्री किसी विदेशी से विवाह करे तो वह भारतीय नागरिक नही रह सकती। किसी किसी राज्य मे नागरिकता इसलिये भी लुप्त हो जाती है जब कि नागरिक किसी विदेशी राज्य में सरकारी नौकरी कर लेता है। कोई भी नागरिक जब चाहे नागरिकता से इस्तीफा देकर विदेश में जाकर रह सकता है। अपने देश में भी अनागरिक बन कर उसे रहने का पूर्ण अधिकार है। यदि कोई नागरिक बहुत दिनो तक अपनी मातृभूमि से अनुपस्थित रहता है तो वह अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं समझा जाता है। यदि कोई जर्मन निवासी लगातार ४ वर्ष तक जर्मनी से बाहर रहे तो वह जर्मनी का नागरिक नहीं रह सकता। फौज से भगा हुआ सिपाही नागरिक नहीं समझा जाता है। कुछ और

भी ऐसे अपराध हैं जिनमें पकड़ा गया नागरिक अपनी नागरिता खो बैठता है। सरकारी नौकरी से वहिष्कृत अथवा विदेशी राज्य की आज्ञा को मानने वाला व्यक्ति भी अपनी नागरिकता का अधिकारी नहीं रह जाता है। दुर्व्यवहार के कारण भी नागरिक अपने कतिपय अधिकारों से वन्चित कर दिये जाते हैं। ऊपर के सभी नियम किसी एक ही राज्य में नहीं पाये जाते हैं, बल्कि सभी राज्यों में नागरिकता के लोप होने का विधान अलग अलग बनाया गया है। यदि कोई नागरिक भिखारी का पेशा करने लगे तो वह अपनी नागरिता से हाथ धो बैठता है। पागल होने पर कोई भी व्यक्ति नागरिक नहीं रह सकता।

कोई भी नागरिक अपने अधिकार को किसी दूसरे नागरिक को नहीं दे सकता। नागरिकता बदली नहीं जा सकती। अपनी नागरिकता को कोई बेंच भी नहीं सकता। साधु, सन्यासी, फकीर आदि को नागरिकता नहीं प्राप्त हो सकती।

भारतीय नागरिक

हम सभी भारतीय-नागरिक हैं। स्त्री पुरुष दोनों को हमारे देश में समान नागरिकता प्राप्त है। ऊँच, नीच, जाति-पाँत का कोई भेद नहीं किया गया है। किसी पेशे के करने का निषेध भी नहीं है। कोई भी पेशा करे पर वह भारतीय नागरिक है। विदेशी भी हमारे देश में आकर नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। इतनी सुविधा होते हुए भी भारतीय नागरिक को वह स्वतन्त्रता नही है जो स्वतन्त्र देश वाले नागरिको को प्राप्त है। हमारे देश मे सरकार किसी भी व्यक्ति को जब चाहे गिरफ्तार कर सकती है और वर्षों उसे जेल मे रख सकती है। नागरिक को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अपना मुक़दमा कचहरी मे पेश कर सके। नागरिक की राय के विरुद्ध गवर्नर जेनरल फरमान जारी कर सकते हैं। यद्यपि भारतवर्ष बृटिश साम्राज्य का एक अंग है परन्तु भारतीय नागरिक को यह स्वतन्त्रा नहीं है कि वह बृटिश साम्राज्य में जहाँ चाहे रह सके और उसकी नागरिकता प्राप्त कर सके। फौजी महकमें मे बहुत सी नौकरियाँ भारतीय नागरिक को नहीं मिल सकतीं। भारतीय प्रेस भी स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी समय उसकी तलाशी ली जा सकती है। भारतीय नागरिक अपने विचार को प्रकट करने में स्वतन्त्र नहीं है। इसका कोई भी पत्र पढ़ा

जा सकता है और सरकार उसे जब्त कर सकती है। कभी कभी सभा-सुसाइटी पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। कांग्रेस की अनेक सभाओं पर रुकावटें लगाई गई हैं। और देशों में नागरिक को मुफ्त और अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाती है, परन्तु भारतीय नागरिक इन दोनों से वंचित रक्खा गया है। सरकार की ओर से नागरिक के काम काज की कोई भी व्यवस्था नहीं है।

इन उद्धरणों से भलीभाँति स्पष्ट है कि भारतीय नागरिकता पूर्ण नहीं है। नागरिकता के विकास के लिये साधन कम दिया गया है। कांग्रेस पिछले ५० वर्षों से इस बात की माँग पेश कर रही है कि बृटिश साम्राज्य की सभी सुविधायें भारतीय नागरिक को मिलनी चाहिए। विदेशों में भारतीय नागरिक का कोई स्थान नहीं है। जब स्वयं बृटिश साम्राज्य ही उन्हें अछूत समझता है तो और राज्यों की तो बात ही और है। आशा है हम भारतीय नागरिकों की मांगें पूरी होगी।

आदर्श नागरिकता

प्रत्येक राज्य का उद्देश्य होता है कि अच्छे नागरिक पैदा हों। इसके लिये राज्य को तरह तरह की सुविधायें देनी पड़ती हैं। शिक्षा का प्रचार करना पड़ता है। तरह तरह की कलाओं को प्रदान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त न्याय और एकता का ध्यान रखना पड़ता है। सरकार को सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था बना कर देश में शान्ति रखनी होती है। लोगो में तरह तरह के व्यवसाय को लाकर उनके भोजन की व्यवस्था सुधारना पड़ता है। यदि ये सुविधाये सरकार की ओर से प्राप्त न हो तो अच्छे नागरिक पैदा नहीं हो सकते। आदर्श नागरिकता के लिये नागरिक मे कुछ विशेष गुण आने चाहिए। लार्ड ब्राइस का कहना है कि आदर्श नागरिक मे तीन गुणों का होना आवश्यक है। बुद्धि चमत्कार, आत्मसंयम और सहानुभूति। नागरिक को राजनैतिक तथा सामाजिक प्रबन्ध में भाग लेना पड़ता है। उसमें इतनी बुद्धि अवश्य होनी चाहिए कि वह भले बुरो को पहचान सके। वह उन्ही को वोट दे जिन्हें वह योग्य समझता है। हमारे देश में सरकारी महकमो मे कभी कभी अयोग्य व्यक्ति आजाते हैं। यदि जनता अपनी नागरिकता का मूल्य

समझती और बुद्धि से काम लेती तो अयोग्य व्यक्ति को कोई भी ज़िम्मेवार काम न देती।

आत्मसंयम के बिना कोई भी नागरिक अपने कर्तव्य का ठीक ठीक पालन नहीं कर सकता। आत्मसंयम का भाव मनुष्य मे तभी आ सकता है जब उसमे आज्ञापालन की शक्ति हो। नागरिक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने स्वार्थ के सामने समाज हित को बड़ा समझे। स्वार्थी नागरिक आदर्श व्यक्ति नहीं बन सकता। राष्ट्र की सच्ची सेवा वही कर सकता है जो अपने स्वार्थ का कम परन्तु अपने पड़ोसी की सुविधाओ का अधिक ध्यान रखता है। परन्तु इस आज्ञापालन के अन्दर भय तथा कमजोरी का भाव नहीं होना चाहिए। इससे आत्म-संयम के बदले आत्मसंकोच का भाव पैदा होगा। आदर्श नागरिक मे भय तथा कमजोरी नहीं होनी चाहिए। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की कहता है कि सरकारी आज्ञा का वही तक पालन करना चाहिए जहाँ तक उसमे आत्म उन्नति का समावेश हो।

आदर्श नागरिकता का तीसरा लक्षण सहानुभूति है। प्रेम के बिना आत्मसंयम और शान्ति असम्भव है। जब तक हमारा हृदय इतना कोमल न हो कि हम औरों पर अपने गुणों का प्रभाव डाल सके तब तक हमारे सभी प्रयत्न समाज हित के लिये निष्फल सिद्ध होंगे। सहानुभूति से ही नागरिक ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि बुराइयो से बच सकेगा।

ह्वाइट नामक एक राजनीतिज्ञ ने आदर्श नागरिक के दूसरे तीन गुण बतलाये हैं। वे हैं बुद्धि, ज्ञान और लगन। बुद्धि का तात्पर्य है अपने सभी कामो को अच्छी तरह समझना। ज्ञान का अर्थ है सम्पूर्ण राष्ट्र की आवश्यकताओ को सोच सकना और मनुष्यमात्र की उन्नति की व्यवस्था बनाना। लगन का अर्थ है कार्य कुशलता। मनुष्य अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिये सदैव तत्पर रहे। नाग-रिक का कर्तव्य यही नहीं है कि वह सरकारी हुक्मो की तामील करता रहे। उसके ऊपर कुछ और भी ज़िम्मेवारियाँ हैं। उसे राज्य की उन्नति करना है; समाज को आगे बढ़ाना है। "नागरिक कर्तव्य" एक बहुत ही व्यापक शब्द है। इसी प्रकार आदर्श नागरिकता का क्षेत्र भी बहुत ही विस्तृत है।

नागरिक के कर्तव्यों का कोई विभाजन नहीं हो सकता। उसके गुणों को भी हम टुकड़ों में नहीं बाँट सकते। आदर्श व्यक्ति ही आदर्श नागरिक है। जिसे मनुषत्व का ज्ञान है उसे नागरिकता का भी ध्यान जरूर होगा। आदर्श नागरिक मे चरित्र स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता. सहयोग, न्याय, स्फूर्ति, सेवा-भाव आदि गुण होने चाहिए। इन्हीं गुणों से सम्पूर्ण समाज की भलाई हो सकेगी। यदि नागरिक के अन्दर पक्षपात और साम्प्रदायिकता का भाव आया तो उसका और समाज दोनों का पतन होगा। हमारे देश मे आदर्श नागरिकता का सर्वथा अभाव है। इसका मूल कारण सरकार की कमजोरी है। देश मे बेकारी और ग़रीबी इतनी बढ़ रही है कि अधिकतर लोग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे ही संलग्न रहते हैं। यदि सरकार इसकी व्यवस्था करे तो लोगों का ध्यान कुछ ऊँची बातो की ओर लगे। इन्हीं कारणों से सरकार बीमा, बैंक, पेंशन, फंड आदि की व्यवस्था करती है। बीमारी आदि के लिये दवाख़ानो का प्रबन्ध किया जाता है। आदर्श नागरिकता प्राप्त करने के लिये नागरिक को सेवा कार्यों की ओर अधिक झुकना होगा। दीन दुखियों का उसे ध्यान रखना होगा। सरकार भी इस बात का ध्यान रक्खे कि राज्य मे गुंडे, निपढ़, चोर, डाकू पैदा न हों। शासन की व्यवस्था इतनी ठीक हो कि नागरिक को आत्म उन्नति मे बाधा न पड़े।

हमारे शास्त्रो मे आदर्श नागरिकता के तीन लक्षण माने गए हैं। सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्,। सम्पूर्ण सृष्टि के भी ये ही तीन गुण माने गये हैं। आदर्श नागरिक को देश और काल का विचार करके आगे चलना होगा। क़ानूनो का पालन सभी नागरिक के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श नागरिक को सम्पूर्ण राष्ट्र को इसके पालन की ओर उत्साहित करना होगा। आदर्श नागरिकता विश्व एकता का एक प्रधान लक्षण है। और आदर्श नागरिक विश्व मे आदर्श व्यक्ति माना जाता है। उसे अपने और विदेशी मे कोई अन्तर नहीं रह जाता है। उसकी दृष्टि सम्पूर्ण मानव-समाज को एक प्रकार समान देखती है। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का ध्यान उसके दिल से निकल जाता है। उसका सम्बन्ध सबसे एक प्रकार का रहता है।

आदर्श नागरिकता में कुछ बाधायें

जबकि आदर्श नागरिकता इतनी ऊँची चीज़ है और सरकार को भी आदर्श नागरिकों से लाभ पहुँचता है तो वे पैदा क्यो नहीं होते हैं। अच्छे कामों मे बड़ी बड़ी रुकावटें होती हैं। यहाँ भी हमे इन्हीं कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है।

१—पहिली कठिनाई अज्ञानता की है। साधारण भारतीय जनता शिक्षित नहीं है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि सामाजिक जीवन का क्या महत्व है। सेवा को भारतीय नागरिक बेकार समझता है। उसे अपने ही काम से मतलब है। सभा-सम्मेलन में भाग लेना उसके काम मे बाधा मालूम पड़ती है। उसके सामने अपने काम का महत्व दिखलाई पड़ता है औरों का नहीं। यदि उसकी अज्ञानता दूर हो जाय तो वह एक आदर्श नागरिक बन सकता है। जब तक उचित शिक्षा न मिलेगी तब तक आदर्श नागरिक पैदा नहीं हो सकते।

२—दूसरी कठिनाई स्वार्थ की है। मनुष्य स्वभाव से ही अपने स्वार्थ को पहिले देखता है। अपना बच्चा सब को प्रिय होता है। कोई भी ऐसा नहीं मिल सकता जो अपने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दे। यदि ऐसा कोई है तो वह महापुरुष है। आदर्श नागरिकता में स्वार्थ इतनी बड़ी रुकावट है कि बड़े से बड़े सामाजिक काम नष्ट हो जाते हैं, सहयोग का अभाव हो जाता है। स्वार्थ से वशीभूत मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य का ध्यान नहीं रखता है। अकसर देखा जाता है कि स्वार्थ हित के लिये लोग वोट ख़रीदते हैं, जनता में झूठी झूठी बातो का प्रचार करते हैं, लोगों को धोखा देते हैं और कभी कभी एक दूसरे का प्राण तक ले लेते हैं। अमानुषिकता का प्रादुर्भाव स्वार्थ से ही होता है। स्वार्थ के लिये जनता की रक़म का दुरुपयोग किया जाता है, उन पर तरह तरह के टैक्स लगाये जाते हैं। जब तक स्वार्थ हमारे जीवन का एक अंग बना रहेगा तब तक हमारे कामों में सचाई का अभाव रहेगा। इस भावना से प्रेरित व्यक्ति आदर्श नागरिक नहीं बन सकता।

३—आदर्श नागरिकता मे तीसरी कठिनाई है गिरोहबन्दी (Party Organization)। प्रजातन्त्र राज्य में गिरोहबन्दी कोई

बुरी चीज नहीं है। लेकिन यह किसी न किसी सिद्धान्त पर बननी चाहिये। स्वार्थ-साधन के लिये पार्टी बनाना प्रजातन्त्रवाद की हँसी उड़ाना है। गिरोहबन्दी में जब स्वार्थ साधन का भाव रहता है तो तरह तरह के गन्दे विचारो का प्रादुर्भाव होता है। एक गिरोह का नागरिक दूसरे गिरोह को अपना शत्रु समझता है। वह प्रति क्षण उसकी बुराई मे ही तल्लीन रहता है। समाज हित एक गौण विषय रह जाता है। कभी कभी गिरोहे आर्थिक लाभ की दृष्टि से बनती हैं। सदस्यो के अन्दर राजनैतिक अथवा सामाजिक सेवा का भाव कम होता है। इसका प्रभाव आम जनता पर बहुत ही बुरा पड़ता है। वह शासकों की हरकतों को देखकर समाज हित की ओर से अश्रद्धालु हो जाती है। जिस समाज मे इस प्रकार की गिरोहे बनती रहेंगी उसमे आदर्श नागरिकता स्वप्न मे भी नहीं आ सकती।

४—भारतवर्ष मे आदर्श नागरिकता के अभाव के कुछ और भी कारण हैं। वर्ण व्यवस्था के कारण हमारा समाज टुकड़े टुकड़े मे विभाजित है। कार्य की दृष्टि से यह विभाजन कोई बुरी चीज नही है, लेकिन इनमे आपस मे सहानुभूति का सर्वथा अभाव है। छुआ-छूत, ऊँच-नीच के भाव के कारण लोगो में सहयोग नहीं हो सकता। जाति पाँति की बीमारी इतनी भयंकर है जो हमें आगे नही बढ़ने दे रही है। इसके अतिरिक्त हमारे देश मे साम्प्रदायिकता का जाल सा फैला हुआ है। हिन्दू मुसलमान का प्रश्न इतना जटिल है कि दोनो एक साथ मिल कर उन्नति नही कर सकते। आदर्श नागरिक इनमे तब तक पैदा नहीं हो सकता जब तक ये गन्दगियाँ दूर न हो जायँ। थोड़े से लोग इन्हे दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम है। हमारे देश मे राजनैतिक गिरोह भी जातीयता के आधार पर बनते हैं। इससे राष्ट्र हित में बाधा पड़ती है। जब हम सभी आदमी हैं, सभी एक देश मे रहते हैं तो नीच-ऊँच का सवाल कहाँ पैदा होता है। जब तक हमे धोती और पाजामे मे अन्तर दिखलाई देगा तब तक हम सच्चे नागरिक नही बन सकते। हमारे विचार तभी ऊँचे होंगे जब हम मनुष्य को मनुष्य समझें, उसे हिन्दू, मुसलमान, अछूत, इसाई आदि न

समझे। ऊँची नागरिकता अन्तर को नहीं देखती है । उसकी दृष्टि सहयोग की ओर जाती है।

६—सबसे बड़ी कठिनाई उदासीनता की है। बहुत से लोग सार्वजनिक कामों से सदैव उदासीन रहते हैं । वे यह समझते हैं कि दूसरे लोग जब कर ही रहे हैं तो उनकी क्या आवश्यकता है । उनका यह विचार है कि सामाजिक कार्यों की जिन पर जिम्मेवारी है वे करें। उन्हें यह मालूम नहीं है कि यदि सब लोग इसी प्रकार सोचने लगे तो यह समाज भला एक दिन भी चल सकता है। ये जितने स्कूल, कालेज, क्लब, लाइब्रेरी आदि दिखलाई पड़ते हैं ये सब किसी न किसी के बनवाये हुये हैं। जिन वृक्षों के नीचे हम धूप से बचने के लिये विश्राम करते हैं, और जिन कुओं से पानी पीते है वे किसी न किसी के परिश्रम के ही फल हैं। जब हम दूसरो की मिहनत से लाभ उठाते हैं तो क्या हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है? सार्वजनिक काम का कोई एक मनुष्य जिम्मेवार नहीं है। किसी को भी इससे उदासीन होने की आवश्यकता नहीं है। इसी उदासीनता के कारण आदर्श नागरिकता का भाव लोगो के अन्दर उत्पन्न नहीं हो पाता है। लोग सामाजिक बुराई को देखते हुये भी आँखें बन्द रखते हैं। परिणाम यह होता है कि समाज मे तरह तरह की गन्दगी आती रहती है और लोग उसके शिकार बने रहते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं पड़ता है कि उनकी उदासीनता ही इन बुराइयो की जड़ है।

यदि सच्ची नागरिकता लानी है तो इन बुराइयो को निकालना होगा। इनके स्थान पर अच्छे अच्छे गुणों को रखना होगा। यह सब तभी होगा जब उचित शिक्षा का प्रचार किया जायगा। सामाजिक विचार तभी बन सकते है जब सामाजिक शिक्षा दी जाय। नागरिक शिक्षा नागरिकता की जड़ है। प्रजातन्त्रवाद की सफलता के लिये तो यह शिक्षा अनिवार्य है। शारीरिक उन्नति के साथ साथ लोगों में चरित्र बल की भी वृद्धि करना होगा। चरित्र हीन मनुष्य अपना और पराये किसी का भी हित नहीं कर सकता। जब लोगों का आचरण ठीक होगा तभी उनके अन्दर सेवा के भाव पैदा होंगे। तभी उन्हें आदर्श का महत्व जान पड़ेगा। जब तक बुद्धि संकुचित

रहती है तब तक मनुष्य पग पग पर डरता रहता है। उसे किसी काम में दिलचस्पी नहीं होती है। नागरिकता में उत्साह की बहुत बड़ी आवश्यकता है। इस प्रकार आदर्श नागरिकता के लिये विदुध्वंसात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार के कामो की आवश्यकता है।

अध्याय ३

अधिकार और कर्तव्य

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध—अधिकार—अधिकार और शक्ति—अधिकार की आवश्यकता—अधिकारों के भेद—राजनैतिक अधिकार—सरकारी नौकरी सम्बन्धी अधिकार—निर्वाचन का अधिकार—आवेदन का अधिकार—सामाजिक अधिकार—जान की रक्षा—क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है?—क्या मनुष्य दूसरे का प्राण ले सकता है?—क्या समाज किसी व्यक्ति का प्राण ले सकता है?—सम्पत्ति अधिकार—धार्मिक अधिकार—भाषण और लेखन का अधिकार—समानता का अधिकार—साधारण अधिकार—कौटुम्बिक अधिकार—प्राकृतिक अधिकार—शिक्षा का अधिकार—अधिकार और चरित्र—कर्तव्य—कर्तव्य और धर्म-नागरिक के कर्तव्य—देश भक्ति—आज्ञा पालन—करों को चुकाना—नागरिकता का सदुपयोग—श्रम—नागरिक के अन्य कर्तव्य।

"अधिकारों और कर्तव्यों के सम्यक् ज्ञान से ही सत्कर्म की प्रेरणा होती है।"

अधिकार और कर्तव्य का सम्बन्ध

नागरिक शास्त्र नागरिको के अधिकार और कर्तव्य का ही अध्ययन है। अधिकार और कर्तव्य दोनों सम्मिलित शब्द हैं। नागरिक को राज्य की ओर से बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं। इन्हीं के बदले में उसे राज्य के प्रति बहुत से कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है। जिस प्रकार लेन देन दोनों शब्द साथ साथ चलते हैं, और यह सम्भव नहीं है कि लेने वाला तो हो पर देने वाला न हो, उसी प्रकार यह भी सम्भव नहीं है कि अधिकार रहे परन्तु कर्तव्य न हो। जिस किसी को थोड़ा भी अधिकार प्राप्त होगा उसे कर्तव्य का भी पालन करना होगा। पिता का पुत्र पर तथा स्त्री पर पूर्ण अधिकार होता है। वह पुत्र को जहाँ चाहे भेजे और जैसी शिक्षा चाहे दे। परन्तु उसके प्रति

पिता के कर्तव्य भी बहुत हैं। पिता का यह धर्म है कि बच्चे को शिक्षा दे, भोजन-वस्त्र दे और कुमार्ग पर जाने से बचावे। राज्य मे भी सरकार का व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है। लेकिन सरकार का कर्तव्य भी उससे कम नही है। उसे प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करनी पड़ती है। नागरिक की शिक्षा आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। जनता मे नैतिक उन्नति का ध्यान रखना पड़ता है। जिस प्रकार नागरिक के अधिकारो और कर्तव्यो का कही अन्त नही है उसी प्रकार सरकार के भी अधिकार और कर्तव्य अनन्त हैं। जो अपने कर्तव्यो को पूरा नही कर सकता उसके अधिकार भी छीन लिये जाते है। कर्तव्य हीन नागरिक अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

अधिकार और कर्तव्य तभी तक नागरिक के साथी हैं जब तक वह समाज मे रहता है। एकान्त मे रहने वाले व्यक्ति को न किसी अधिकार की आवश्यकता है और न कर्तव्य की। जब तक मनुष्य सामाजिक जीव के नाते समाज का एक अंग नही बनता है तब तक उसे कोई भी अधिकार नही मिलते। जब उसका सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो, संस्थाओ तथा संगठनों से होता है तब उसे अपना कर्तव्य दिखाई पड़ता है। जब कर्तव्य के पालन का प्रश्न उठता है तो उसे अधिकार की आवश्यकता पड़ती है। जिस प्रकार दिन और रात का सम्बन्ध है उसी तरह अधिकार और कर्तव्य का। एक से मनुष्य का काम नही चल सकता। जिसके अधिकार छीन लिये जाते हैं वह कर्तव्यहीन हो जाता है। कैदी की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। उसे यह अधिकार नहीं रह जाता है कि वह जेल की दीवारो के बाहर निकल सके। परिणाम यह होता है कि वह अपने कुटुम्ब आदि के प्रति अपने कर्तव्यो को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है। एक का अधिकार दूसरे का कर्तव्य है और अपना कर्तव्य ही दूसरों का अधिकार है। चीज एक है। दो दृष्टियो से हम उसे देखते हैं। दोनो ही एक साथ चलते है। केवल एक से मनुष्य अपने कामो को पूरा नहीं कर सकता। अधिकार और कर्तव्य दोनो के रहते हुये भी राज्य को कुछ सुविधाये देनी पड़ती हैं जिससे मनुष्य इनका उपयोग कर सके। यदि राज्य की ओर से शान्ति, एकता, समानता आदि

न प्राप्त हों तो अधिकार रखते हुये भी लोग अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर पायेंगे। इन्हें पूरा करने के लिये नागरिक को किसी अंश तक स्वतन्त्रता भी चाहिये।

अधिकार

नागरिक का सबसे बड़ा अधिकार तो यह है कि उसे इस बात का अवसर दिया जाय कि वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। यदि उसे यह अधिकार नही मिला तो बाकी अधिकारो से उसे कोई लाभ नहीं है। अधिकार एक प्रकार की शक्ति है जिससे मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। 'हमारा' और 'तुम्हारा' शब्द बहुत प्राचीन हैं। इनसे अधिकारो की सीमा का ज्ञान होता है। एक ही अधिकार इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य औरों से अपना सम्बन्ध रखता है।

अधिकार और शक्ति

जैसा ऊपर कहा गया है कि अधिकार एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु जब हम गहराई के साथ विचार करते हैं तो हमे अधिकार और शक्ति मे भेद मालूम पड़ता है। अधिकार मनुष्य को बाहर से मिलता है, लेकिन शक्ति अपने आप पैदा होती है। अधिकार से किसी कर्त्तव्य का ज्ञान होता है परन्तु शक्ति का कर्त्तव्य से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अधिकार का अपहरण किया जा सकता है, लेकिन शक्ति को कोई भी नहीं छीन सकता। वोट देने का नागरिक को एक अधिकार प्राप्त है, परन्तु उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह अपना वोट किसी को दे या न दे। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह ज़बरदस्ती किसी से वोट दिलवाये। मनुष्य अपने प्रत्येक काम को अपनी शक्ति द्वारा करता है, परन्तु उसे थोड़े ही काम ऐसे करने पड़ते हैं जिनमें अधिकार का ध्यान रखना पड़े। शक्ति और अधिकार का सम्बन्ध इतना ही है कि राज्य अथवा समाज की ओर से जिन शक्तियो की स्वीकृति मिल जाती है वे ही अधिकार बन जाया करती है। एक मनुष्य दूसरे की सम्पत्ति को नहीं ले सकता। लेकिन पुत्र को यह अधिकार प्राप्त है कि वह पिता की सम्पत्ति का मालिक हो सके। 'शक्ति' शब्द व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखता है परन्तु अधिकार का सम्बन्ध राज्य और व्यक्ति दोनों से है।

अधिकार के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता।

अधिकार की आवश्यकता

जब नागरिक को यह ज्ञान नहीं है कि उसे क्या क्या अधिकार प्राप्त हैं तो बहुतो को वह हानि पहुँचा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी सीमा के अन्दर रहे, और एक दूसरे की उन्नति मे बाधा न डाले यही अधिकार का मूल सिद्धान्त है। किसी को उतने हीं अधिकार दिये जाते हैं जहाँ तक उसे निबाहने की उसमे शक्ति है। राजनीतिज्ञो का मत है कि एक समय ऐसा था जब कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। मनुष्य जंगली अवस्था मे था। उस समय किसी का कोई अधिकार सीमित न था। प्रत्येक की जो शक्ति थी वही उसका अधिकार था। परिणाम यह होता था कि मारपीट, कलह, द्वेष आदि का प्रचार था। अधिकार की सीमा ने समाज की रचना की। अधिकार से ही समाज की जड़ रोपी गई है। जब तक मनुष्य को समाज में रहना है और एक दूसरे के प्रति कुछ करना है तब तक अधिकारो की उसे आवश्यकता है। यदि लोग अपने अपने अधिकारो को भली भाँति समझ ले और उन पर आचरण करे तो सभी लड़ाई झगड़े तथा वैर-विरोध अपने आप नष्ट हो जायॅ। अधिकारो के उलंघन से ही सामाजिक बुराइयाँ पैदा होती हैं। कुत्ते को कोई भी अधिकार प्राप्त नही है। वह जिसे चाहे काट सकता है। परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह किसी को दुख देता है तो अपने अधिकार की सीमा को तोड़ता है। इसलिये सरकार उसे उचित दंड देगी। सरकार का कर्त्तव्य है नागरिक के अधिकार की रक्षा करना। यदि हमे सरकार की आवश्यकता है तो अधिकार भी हमे चाहिये। मनुष्य बन्धन तभी स्वीकार कर सकता है जब उसे इससे कुछ लाभ हो। अधिकारो की आवश्यकता हमे इसी लिये है कि हम अपने कर्त्तव्यो को पहचान सके।

अधिकारों के भेद

अधिकार एक प्रकार का प्रबन्ध है जिसे समाज ने व्यक्ति के लिये बनाया है। इसका उद्देश्य है व्यक्तित्व का विकास। अधिकारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। राजनैतिक अधिकार और सामाजिक अधि-कार। इन्ही दोनो के अन्दर नागरिक के समस्त

अधिकार आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ अधिकार हैं जिन्हें कुछ लोग मानते हैं और कुछ नहीं भी। अधिकारों की गणना नहीं हो सकती। जीवन के विकास के साथ साथ अधिकारों की वृद्धि होती रहती है। इसलिये अधिकार घटते बढ़ते रहते हैं। अधिकारो की वृद्धि से मनुष्य के विकास का आभास होता है। सम्पूर्ण राष्ट्र की उन्नति का भी यही लक्षण है कि नागरिक को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त हों।

राजनैतिक अधिकार

राजनैतिक अधिकार वे हैं जो नागरिक को राज्य की ओर से प्राप्त हैं। जब तक किसी व्यक्ति को वे अधिकार नहीं दिये जाते हैं तब तक वह नागरिक नहीं कहा जा सकता। राज्य मे ये अधिकार प्रत्येक नागरिक को पूरी उन्नति करने का अवसर देते हैं। राजनैतिक अधिकारों मे कुछ विशेषतायें हैं जो सामाजिक अथवा अन्य अधिकारो मे नहीं पाई जाती हैं। राजनैतिक अधिकार समानता पर निर्भर करते हैं। राज्य की नजरों मे धनी, ग़रीब, छोटे बड़े सभी बराबर हैं। नागरिकता के नियम के अन्दर सभी एक हैं। चाहे धनी हो अथवा ग़रीब जो भी अपने अधिकार का दुरुपयोग करेगा और समाज को हानि पहुँचायेगा वह उचित दंड का भागी होगा। यदि ऐसा न हो तो न्याय का पालन नहीं हो सकता। राजनीति का अर्थ है न्याययुक्त शासन। इसलिये इसके प्रदत्त अधिकार भी न्यायसंगत होने चाहिये। राजनैतिक अधिकारों का दूसरी विशेषता है स्पष्टता। समस्त राजनैतिक अधिकार लिखे हुए होते हैं। अन्य अधिकारों में यह विशेषता नहीं है। राजनैतिक अधिकार सभी राज्यो में समान नहीं होते हैं। जो अधिकार नागरिक को इङ्गलैंड में प्राप्त हैं वे जर्मन नागरिक को जर्मनी में नहीं। विभिन्न शासन पद्धति मे भी एक ही देश मे नागरिक के अधिकार बदलते रहते हैं। एक समय था जब कि प्रत्येक नागरिक कोई भी हथियार रख सकता था। लेकिन आज ऐसा नहीं है। राजनैतिक अधिकार मुख्य ३ हैं:—

सरकारी नौकरी सम्बन्धी अधिकार

१—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हर एक आदमी को सभी नौकरियाँ मिल सकती हैं। कोई भी पद नागरिक को तभी मिल सकता है जब उसकी सभी शर्तों को वह पूरा करे। प्रत्येक नौकरी के लिये किसी ख़ास हद तक शिक्षा की आवश्यकता होती है। सबमें थोड़ा

अनुभव और ज्ञान भी रखना पड़ता है। राज्य की ओर से प्रत्येक स्थान की शर्तें नागरिक को सूचित कर दी जाती हैं। जो भी उन्हे पूरा करें वे उसके अधिकारी हो सकते हैं। एक ग़रीब से ग़रीब आदमी को भी इस बात की स्वतंत्रता रहती है कि वह बड़े से बड़े पद को प्राप्त कर सके। जाति. कुल, रूप, रंग अथवा धर्म के कारण कोई नागरिक किसी पद से वञ्चित नहीं रक्खा जाता है। सभी प्रजातंत्र राज्यो में यह नियम वर्ता जाता है। शिक्षा और चरित्र का ध्यान सब मे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता। हर एक सरकारी विभाग सभी योग्य व्यक्तियो के लिये एक समान खुला होता है। नागरिक के अतिरिक्त और किसी को भी यह अधिकार प्राप्त नही है। इस नीति का फल यह होता है कि राज्य के अच्छे से अच्छे नागरिक चाहे धनी हो अथवा गरीब, सरकारी नौकरियो मे आते रहते हैं। किसी भी नागरिक को सरकार की टीका टिप्पणी करने का अवसर कम मिलता है।

निर्वाचन का अधिकार

(२)—दूसरा राजनैतिक अधिकार निर्वाचन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड तथा और व्यवस्थापिका सभाओं के लिये नागरिक को अपनी अनुमति देनी पड़ती है। निर्वाचन द्वारा यह अनुमति प्राप्त की जाती है। निर्वाचन दो प्रकार से प्राप्त किये जाते है। एक में सम्पूर्ण नागरिक सीधे अपनी अनुमति दे सकते हैं। दूसरे मे कुछ टेढ़े तरीके से अनुमति प्राप्त की जाती है। इस मताधिकार के लिये कुछ ऐसे बंधन हैं जो सभी नागरिकों पर एक समान लागू होते हैं। पहिला प्रतिबंध आयु का है। हमारे देश मे १८ वर्ष से कम उम्र वालो को किसी भी प्रकार का निर्वाचन अधिकार प्राप्त नही है। किसी किसी देश मे स्त्री पुरुष मे भी भेद किया गया है। किसी हद तक साम्पत्तिक योग्यता की भी आवश्यकता पड़ती है। खास खास अपराधियों को भी अपनी अनुमति देने का अधिकार नहीं दिया जाता। कहा जाता है कि शिक्षा और मत दोनो के अधिकार साथ साथ चलते हैं। इस अधिकार को प्रदान करने मे सरकार की यही नीति रहती है कि नागरिक अपने हित और अहित दोनो का ध्यान रक्खे। शिक्षा का प्रतिबंध इस दृष्टि से न्याय संगत है। परन्तु शेष रुकावटें नागरिकता की निर्बलता

प्रगट करती हैं। धनाभाव के कारण किसी को मताधिकार से वंचित करना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। राजनैतिक अधिकारो में यह सबसे आवश्यक अधिकार है। प्रजातंत्रवाद का स्रोत यहीं से आरम्भ होता है। पूर्ण प्रजातंत्रवाद उसी को कहना चाहिये जिसमें प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेद भाव के अपना मत देने का अधिकार हो।

विदेशी, नाबालिग़, विशेष अपराधी तथा सर्वथा अयोग्य आदि व्यक्तियों को छोड़ कर सभी नागरिक को यह अधिकार प्राप्त रहता है। आधुनिक युग, जो प्रजातंत्रवाद का युग कहलाता है, मताधिकार पर बहुत ही ज़ोर देता है। सभी लोग इस बात पर विचार कर रहे हैं कि यह अधिकार धनी, गरीब, पढ़े तथा अनपढ़ सबको प्राप्त होना चाहिये। इसके प्रतिपक्षी यह दलील पेश करते हैं कि जो भी किसी प्रकार का टैक्स दे उसे मताधिकार अवश्य मिलना चाहिये। टैक्स से वंचित मनुष्य को ही मताधिकार से वंचित किया जा सकता है। जनता के राज्य का यही अर्थ है कि राज्य में सभी समान रूप से भाग ले सके। अच्छे क़ानूनो के निर्माण में सबको स्वतंत्रता होनी चाहिये और बुरे कानून के बहिष्कार का भी उन्हें उतना ही अधिकार मिलना चाहिये। इस अधिकार को लेकर नागरिक एक बहुत बड़े कर्त्तव्य का आभारी हो जाता है। फिर उसे यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक नियम बुरा है। नागरिक के कर्त्तव्य की सबसे बड़ी कसौटी निर्वाचन क्षेत्र में हीं मिलती है। वही उसके न्याय, दृढ़ता और ज़िम्मेवारी इन तीनों की परीक्षा होती है। निर्वाचन मे अल्प संख्यकों की रक्षा का भी ध्यान रक्खा जाता है। साम्प्रदायिक निर्वाचन या पृथक् प्रतिनिधित्व सभी दृष्टियों से हानिकर है। किसी समाज को राजनैतिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों में बाँटना राष्ट्रीयता का विनाश करना है। किसी सम्प्रदाय विशेष की रक्षा कई प्रकार से की जा सकती है।

आवेदन का अधिकार

३—नागरिक को जब शासन में सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं तो उसे यह भी अधिकार मिलना चाहिये कि शासन की कमज़ोरियों को भी वह प्रगट कर सके। सरकारी अफ़सरों के पास लिखित आवेदन पत्र

देने का अधिकार उसे होना चाहिये। चाहे यह अधिकार व्यक्तिगत रूप में दिये जाँय अथवा सामूहिक रूप से। परन्तु शासन की शुद्धि के लिये सभी दृष्टियो से यह अधिकार न्याय संगत है। जब विचार ही चीज़ो को अच्छा और बुरा सिद्ध करते रहते हैं तो नागरिक को अपनी हीं बनाई हुई शासन व्यवस्था मे उलट फेर करने का अधिकार अनुचित न होगा। आवेदन सम्बन्धी अधिकार विचारों की स्वतंत्रता में ही आ जाते हैं। यदि नागरिक को अपने विचार प्रगट करने का अधिकार है तो वह शासन व्यवस्था की कमज़ोरियों को भी जनता और सरकार दोनों के सामने रख सकता है। अनुचित टीका टिप्पणी किसी भी क्षेत्र मे व्यावहारिक नहीं है। किन्तु कार्य कुशलता की कसौटी का ध्यान रखते हुये नागरिक अपने शासको को इस बात की चेतावनी दे सकता है कि वह व्यावधानिक नीति से अपने को अलग न रक्खे। इससे भी बढ़कर नागरिक समूह को यह अधिकार मिलना चाहिये कि वे प्रचलित शासन व्यवस्था को हटा कर उससे अच्छी कोई दूसरी शासन पद्धति को ला सकें। यदि नागरिक को ऐसा अधिकार नही है तो शास्त्रीय दृष्टि से इसे राजनैतिक आत्महत्या कहना कोई अनुचित न होगा।

सामाजिक अधिकार

राजनैतिक और सामाजिक दोनों अधिकार समाज मे ही प्राप्त होते हैं। दोनो की स्वीकृति प्रजा को राज्य की ओर से मिलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि राजनैतिक अधिकार शासन की मशीन से ही जुड़ा हुआ होता है, परन्तु सामाजिक अधिकार राज्य के किसी एक अंग से मिला नही रहता। इसके अतिरिक्त राजनैतिक अधिकार केवल नागरिक को प्राप्त रहते हैं, परन्तु सामाजिक अधिकार राज्य में सबको प्राप्त रहते हैं। सामाजिक अधिकार स्त्री, पुरुप, विदेशी, नागरिक, बालक, वृद्ध सभी को एक समान दिये जाते हैं। राजनैतिक अधिकार का क्षेत्र संकुचित है। सामाजिक अधिकार बहुत ही विस्तृत है। इस अधिकार का कहीं अन्त नहीं है। मोटे तौर मे कुछ सामाजिक अधिकारो पर हम विचार करेंगे।

१—राज्य में प्रत्येक प्राणी की रक्षा करना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य है। राज्य की ओर से यह आश्वासन सब को प्राप्त रहता है कि शरीर सुरक्षित है। किसी भी प्रकार से कोई एक दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाने का अधिकारी नही है। प्रत्येक को राज्य मे यह अधिकार है कि वह अपनी रक्षा के लिये सब कुछ कर सकता है।

जान की रक्षा

जान-रक्षा का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को इस बात का अधिकार है कि वह जैसे चाहे रहे, परन्तु अपनी हीं तरह औरों की रक्षा मे बाधक न हो। यदि मनुष्य के जीवन की ही रक्षा न हो तो अन्य अधिकारों का कोई अर्थ नहीं है। सती आदि प्रथायें इसी आधार पर बुरी और न्याय विरुद्ध ठहराई गई हैं। जान की रक्षा का भार व्यक्ति और समाज दोनों पर है। सरकार भी इसके लिये बाध्य है। यदि कोई व्यक्ति किसी को शारीरिक हानि पहुँचाता है तो सरकार उसे उचित दंड देती है। यदि कोई गिरोह भी, चाहे वह बड़ा से बड़ा क्यों न हो, किसी व्यक्ति को शारीरिक दड देता है तो सरकार समूचे गिरोह को अपराधी समझ कर उसे दड देती है। कोई भी किसी की जान नहीं ले सकता। इसकी सजा फाँसी अथवा आजन्म कारावास है। किसी की हत्या करना पाप ही नहीं बल्कि सबसे बड़ा अपराध है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है? जब व्यक्ति स्वतन्त्र है तो क्या उसे अपनी जान देने का अधिकार है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले एक बात का और विचार करना होगा।

संसार मे जितने जीव हैं सब में कुछ ऐसे प्राकृतिक गुण हैं जिनसे वे अपनी रक्षा करते हैं। बन्दर को मारिये तो वह तुरन्त पेड़ पर चढ़ जायगा। चूहे को थोड़ी भी आहट मिली कि वह बिल मे घुस जायगा। यही हाल चिड़ियों का भी है। जंगली जानवर तो मनुष्य की शकल देखते ही कोसों दूर भग जाते हैं। जब सभी जीवो को आत्मरक्षा का अधिकार है तो मनुष्य भी इसका अधिकारी है। उसकी रक्षा के लिये राज्य की ओर से सेना और पुलिस रक्खी जाती है। परन्तु प्रत्येक अवसर पर यह सम्भव नहीं है कि उसे पुलिस आदि की सहायता प्राप्त हो सके। इसी लिये नागरिक को

यह अधिकार दिया जाता है कि वह हथियार आदि रख सके। यद्यपि बाहरी तथा भीतरी आक्रमणों से सरकार बचाने का प्रयत्न करती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रक्षा का पूर्ण अधिकारी है। यदि कोई शत्रु उस पर आक्रमण करे तो वह चाहे जिस प्रकार हो अपनी रक्षा कर सकता है। इस रक्षा में शत्रु का प्राण भी चला जाय तब भी नागरिक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। इतना अधिकार प्राप्त करके भी नागरिक का जीवन सुरक्षित नहीं है। जब कोई लड़ाई छिड़ती है तो सरकार जिसे चाहे फौज में भरती कर सकती है। उस समय नागरिक की रक्षा का प्रश्न उठता ही नहीं। राष्ट्रहित के निमित्त व्यक्ति के हित का त्याग करना पड़ता है।

क्या मनुष्य आत्महत्या कर सकता है?

अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि क्या मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार है? व्यक्ति की रक्षा का प्रबन्ध समाज हित की दृष्टि से किया जाता है। आत्महत्या किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। कोई व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में अपने आप को निरर्थक समझ बैठता है। क्रोध या अज्ञानता के कारण उसकी विचार शक्ति स्थिर नहीं रहती है। ऐसे ही अवसरों पर मनुष्य आत्महत्या करता है। यद्यपि उसकी समझ में उसके जीवन का कोई मूल्य नहीं है किन्तु राष्ट्र के लिये उसका जीवन निरर्थक नहीं है। अपने कुटुम्ब और सम्बन्धियों के हित में भी वह बाधक होता है। इसीलिये आत्महत्या एक बहुत बड़ा अपराध माना जाता है। २० सितम्बर सन् १९३२ ई० को महात्मा गाँधी ने मृत्यु तक का उपवास व्रत लिया। किसी भी दृष्टि से यह न्यायसंगत नहीं था। किसी विशेष परिस्थिति में आत्महत्या को अपराध नहीं कहा जा सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोग से पीड़ित है, उसके ऊपर किसी का भार नहीं है ऐसी दशा में वह आत्महत्या कर सकता है। ऐसा करने से वह समाज के भार को हलका कर देता है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह पाप का भागी है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लाक, ग्रीन, रिची तथा लास्की ने भी एक स्वर से आत्महत्या को घृणित ठहराया है।

आत्मरक्षा का अधिकार सबको एक समान दिया गया है। यह एक स्वाभाविक गुण है। जिस प्रकार मनुष्य को आत्महत्या करने का अधिकार नहीं है इसी प्रकार दूसरे के जीवन पर वह आघात नहीं कर सकता। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट लिखता है कि "मनुष्य का अन्त मनुष्य में ही है। वह किसी दूसरे का साधन नहीं बनाया जा सकता।" मनुष्य की कितनी भी आवश्यकता क्यो न पड़े वह किसी व्यक्ति का प्राण लेकर उसे पूरा नहीं कर सकता। प्राकृतिक नियम किसी भी प्रकार की हत्या को पाप ठहराता है किन्तु एक विशेष परिस्थिति मे कोई व्यक्ति एक दूसरे का प्राण ले सकता है। यदि किसी व्यक्ति पर कोई आक्रमण करे और व्यक्ति को अपनी आत्मरक्षा मे आक्रमणकारी का प्राण तक लेना पड़े तो वह अपराध का भागी नहीं हो सकता। कोई भी समाज उस व्यक्ति को दोषी नहीं ठहरा सकता। समाज की भलाई के लिये भी कोई मनुष्य औरो का प्राण ले सकता है। मान लीजिये किसी देश पर बहुत से दुश्मन चढ़ाई करते हैं। राजा का यह धर्म है कि सेना सहित उनका सामना करे। इस संग्राम में यदि सैकड़ो के प्राण चले जाँय तो राजा किसी की हत्या का भागी नहीं ठहराया जा सकता।

क्या मनुष्य दूसरे का प्राण ले सकता है?

समाज व्यक्ति से बढ़ कर है। सामाजिक भलाई के सामने व्यक्तिगत स्वार्थ को तरजीह नहीं दी जा सकती। समाज समस्त प्राणियों की रक्षा करता है। समाज-हित की दृष्टि से ही वह ऐसा करता है। यदि कोई व्यक्ति समाज को हानि पहुँचाता है तो सामाजिक भलाई की दृष्टि से वह प्राणदण्ड का भागी है। समाज हित के लिये कितने ही सिपाही लड़ाइयों में अपना प्राण खो बैठते हैं। ऐसी परिस्थिति मे यदि कोई व्यक्ति सिपाही के काम से मुँह मोड़ता है तो समाज उसे प्राणदण्ड दे सकता है। लड़ाई से तात्पर्य यह निकाला जाता है कि सत्य की रक्षा के लिये असत्य का बहिष्कार करना आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति लड़ाई को पाप समझता है और सिपाही बनने से

क्या समाज किसी व्यक्ति का प्राण ले सकता है?

इन्कार करता है तो क्या राज्य उसे प्राणदण्ड दे सकता है? आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्राणदण्ड का भागी नहीं है।

सम्पत्ति अधिकार

२—जिस प्रकार नागरिक को अपनी प्राण-रक्षा का अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति का भी पूर्ण अधिकार है। प्रत्येक प्राणी को अपनी जीवन यात्रा के लिये किसी न किसी प्रकार की जीविका की आवश्यकता होती है। उसे इसका पूर्ण अधिकार है कि राज्य उसकी कोई व्यवस्था करे। इसके अतिरिक्त नागरिक अपनी सम्पत्ति का पूर्ण अधिकारी है। राज्य प्रति वर्ष टैक्स के रूप मे उससे कुछ वसूल करता है इस टैक्स के दो उद्देश्य होते हैं :—

१—आर्थिक दृष्टि से समाज मे विपमता न होने पाये।

२—नागरिक की सम्पत्ति आदि की राज्य की ओर से रक्षा हो सके।

नागरिक की इच्छा के विरुद्ध कोई भी उसकी सम्पत्ति का अधिकारी नही हो सकता। उसकी आर्थिक उन्नति मे किसी को भी बाधा डालने का अधिकार नही है। अँग्रेजी मे एक कहावत है कि अँग्रेज की टूटी फूटी झोपड़ी भी उसका महल है। प्रत्येक देश में कुटुम्ब अथवा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का एक मात्र अधिकारी है। व्यक्ति अपनी कमाई का स्वामी है। वह अपने घर मे जैसे चाहे रह सकता है और अपनी सम्पत्ति का किसी भी प्रकार से उपभोग कर सकता है। राज्य का यह धर्म है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देवे। समाज के आर्थिक सगठन की व्यवस्था भी ठीक रक्खे। इसीलिये कहा गया है कि सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राज्य का ही है।

सभी दार्शनिको ने इसे स्वीकार किया है कि जिसने परिश्रम किया है वही इसका उपभोग करे। जिस प्रकार नागरिक का समस्त जीवन समाज से अलग नहीं है उसी प्रकार उसकी सम्पत्ति भी सामाजिक भलाई का एक साधन है। यदि कोई मनुष्य अपनी सम्पत्ति कुएँ या तालाब मे फेकना चाहे तो वह नहीं फेंक सकता। राज्य की ओर से वह दण्ड का भागी ठहराया जायेगा। यदि कोई अपनी सम्पत्ति किसी ऐसे कारोबार में लगाना चाहे

जिससे समाज को हानि की सम्भावना हो तो सरकार इसे रोक सकती है। यदि सम्पत्ति समाज की है तो समाज को उससे लाभ पहुँचना चाहिये। व्यक्ति उसके उपभोग के लिये वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह समाज को हानि नहीं पहुँचाता। कोई अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करने का अधिकारी नहीं है। लड़ाई के समय सरकार किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति छीन सकती है। बड़ा से बड़ा टैक्स राज्य उससे वसूल कर सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता के एक विशेष युग का प्रवर्तक है। अपनी सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिक से अधिक अधिकार हो यही वर्तमान युग की मनोवृत्ति है। सरकार का कम से कम हस्तक्षेप होना चाहिये।

धार्मिक अधिकार

३—राज्य की ओर से नागरिक को यह पूर्ण अधिकार प्राप्त है कि वह जिस धर्म को चाहे माने। मध्यकालीन योरप मे लोगों को धर्म की स्वतंत्रता नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि बहुत सी लड़ाइयाँ होती रहीं। मुसलमानी ज़माने में भी धर्म के नाम पर बहुत सी लड़ाइयाँ हुई हैं। आधुनिक काल के आरम्भ से ही धर्म एक गौण विषय रह गया। विज्ञान की उन्नति ने धर्म के महत्व को कम कर दिया। आज लगभग सभी देशों में धार्मिक स्वतंत्रता सबको प्राप्त है। जर्मनी में यहूदी मज़हब वालों के प्रति राज्य की ओर से तरह तरह के अत्याचार हो रहे हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो पता चलेगा कि इस अत्याचार का कारण धार्मिक नहीं बल्कि राजनैतिक है। प्रत्येक प्रजातन्त्र देश मे नागरिक जिस शकल मे चाहे धर्म को मान सकता है। एक ही देश मे विभिन्न मत वाले भी अपनी इच्छानुसार विभिन्न धर्मों को मान सकते हैं।

भाषण और लेखन का अधिकार

४—विचार स्वतंत्र है। मनुष्य की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसे विचारने का पूरा अवसर न दिया जाय। समाज की स्थापना विचारों के मेल से हुई है। प्रत्येक नागरिक को यह स्वतंत्रता होनी चाहिये कि वाणी तथा लेखन द्वारा वह अपने विचारों को स्पष्ट कर सके। पत्र आदि लिखने तथा पुस्तकें प्रकाशित करने का भी उसे पूर्ण अधिकार होना

चाहिये । स्वतंत्र विचारो से ही सत्य की खोज होती है। सार्वजनिक जीवन तभी सुखी और शान्तमय रह सकता है जब सबको अपने सुख दुख पर विचार करने तथा उनके स्पष्टीकरण मे पूर्ण स्वतंत्रता हो। जिस राज्य मे लोगो को बोलने की स्वतंत्रता नही रहती है वहाँ किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नही है। वाणी की स्वतंत्रता मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकार है। इसका तात्पर्य यह है कि जनता को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिये कि वह सभा सोसायटी कर सके, सरकार के कामों में टीका टिप्पणी कर सके। प्रेस को भी पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। अखबारो आदि पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगना चाहिये। इससे समाज मे एक प्रकार की जागृति रहती है। किसी को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि अमुक विषय में उसकी कोई सुनाई नही है।

अधिकार को प्राप्त करना उतना कठिन नही है जितना उसका उचित उपयोग करना। अपने नित्य के व्यवहार मे हम कितने ही व्यक्तियो के लिये अनुचित शब्दो का प्रयोग करते हैं। लेखन में भी हमारी कलम सत्य की सीमा को कभी कभी पार कर जाती है। बहुत से लोग अनायास ही औरो की टीकाटिप्पणी करने लगते हैं। इससे व्यक्तिगत वैमनस्य की वृद्धि होती है। तरह तरह की पार्टियाँ उठ खड़ी होती हैं। इनमे आपस मे मुठभेड़ होने लगता है। परिणाम यह होता है कि राज्य की शान्ति मे बाधा पड़ती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण साम्प्रदायिक झगड़े के अवसरो पर देखने मे आता है। साम्प्रदायिक झगड़ों को उत्तेजित करने के लिये अखबारो मे झूठी झूठी बाते निकाली जाती हैं। यदि ऐसे अवसरो पर राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध न हो तो शान्ति कभी भी स्थापित नही रह सकती। व्यक्तिगत विरोध के कारण सभाओं में बहुत सी अनुचित बाते कही जाती हैं। इन्हे भी सरकार को रोकना पड़ता है। इस प्रतिबन्ध का अर्थ यह नही है कि राज्य किसी को बोलने और लिखने से रोकता है। वह केवल इनके दुरुपयोग से बचाता है। इसीलिये नागरिक बोलने और लिखने मे वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह इनका दुरुपयोग नहीं करता। जब वह इन्हे लड़ाई

और झगड़े का साधन बना लेता है और ये दोनों तलवार और बन्दूक की तरह काम करने लगते हैं तो सरकार इनमें दख़ल देती है। भाषण और लेखन मे नागरिक को अपने कर्त्तव्य का बहुत बड़ा ध्यान रखना चाहिये।

समानता का अधिकार

५—जो राज्य अपनी समस्त प्रजा को एक दृष्टि से नहीं देखता वह जनता का सहयोग प्राप्त नहीं कर सकता। समाज में छोटे बड़े कमज़ोर, बलवान, स्वस्थ, रोगी तथा धनी ग़रीब सभी होते हैं। राज्य का यह धर्म है कि वह सबको एक समान समझे। कहा जाता है कि इंगलैंड मे कानून का राज्य है। किसी भी राज्य मे दो तरह के कानून नहीं बनाये जा सकते। सबको अपनी उन्नति के लिये पूरा अवसर मिलना चाहिये। एक दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इससे असमानता के भाव तथा कारण पैदा होते रहते हैं। राज्य का यह धर्म है कि वह ऐसे नियम बनाये जिससे सामाजिक व्यवस्था अधिक से अधिक समानता के निकट हो। राज्य को चाहिये कि रूप रंग तथा जाति के कारण सरकारी नौकरियों या पदो मे किसी प्रकार का भेद भाव न करे। प्रत्येक बालिग नागरिक को जिसमें कोई विशेष त्रुटि न हो वोट देने का समान अधिकार होना चाहिये। शासन प्रबन्ध मे सभी नागरिको को अपनी योग्यतानुसार समान अवसर मिलना चाहिये।

समानता के अधिकार के अन्तर्गत न्याय का एक प्रमुख स्थान है। जिस राज्य में उचित न्याय नहीं होता वहाँ समानता नहीं बर्ती जा सकती। कचहरियो मे धनी और ग़रीब में कोई अन्तर नहीं होना चाहिये। दोनों का मुकद्दमा एक ही कचहरी मे जाना चाहिये; एक ही क़ानून से दोनों का फैसला होना चाहिये, और दोनों को एक समान दण्ड मिलना चाहिये। कचहरियो मे फीस आदि की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे धनी ग़रीब दोनों ही न्याय से वंचित न रह सकें। राज्य की ओर से किसी भी प्रकार का अपने अफसरों के प्रति पक्षपात नहीं होना चाहिये। क़ानून में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह छोटे से छोटे

चपरासी से लेकर बड़े से बड़े अफसर तक को एक समान अपराधी ठहरा सके और दण्ड दे सके। प्रोफेसर डाइसी ने लिखा है कि इङ्गलैंड में प्रधान मंत्री से लेकर साधारण नागरिक तक के लिये एक ही कानून है। इङ्गलैंड के बादशाह को छोड़ कर कोई भी कानून से ऊपर नहीं है। केवल बादशाह कानून का मुहताज नहीं है। उसे कोई भी न्यायालय अपराधी नहीं ठहरा सकता। इसका कारण यह है कि प्रधान मंत्री के अनुमति की बिना कुछ कर ही नहीं सकता। हमारे देश में कानून का राज्य नहीं है। काले और सफेद में फरक किया गया है। बड़े २ सरकारी अफसरों का मुकदमा साधारण कचहरियो मे नहीं लाया जा सकता। बिना गवर्नर जेनरल के हुक्म के किसी भी सरकारी अफसर पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि समस्त नागरिकों में न्याय की समानता नहीं बर्ती जा सकती। डाइसी के कथनानुसार कानून मे तीन गुण अवश्य होने चाहिये।

अ—कानून सर्व प्रधान होना चाहिए।

ब—कानून सब पर एक समान बर्ता जाना चाहिए।

स—कानून को किसी का पक्षपात नहीं करना चाहिए।

साधारण अधिकार

६—नागरिक के दैनिक जीवन में कुछ ऐसी बातें आती रहती हैं जिन्हें करने के लिये उसे स्वतंत्रता की आवश्यकता पड़ती है। नागरिक को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह जहाँ चाहे जा सके। इङ्गलैंड में यह नियम है कि यदि सरकार किसी को कहीं जाने से रोकती है तो वह उसकी हानि का पूरा पूरा बदला चुकाती है। किसी भी नागरिक को उचित कारण के बिना कही भी गिरफ्तार नहीं करना चाहिए। विदेश यात्रा में भी उसे स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। रोज़ के कारोबार में अनेक व्यक्तियो तथा पार्टियों से उसे इकरारनामे आदि लेने पड़ते हैं। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह इन इक़रारनामों को जायज़ समझे और नागरिक को इसका पूरा अधिकार प्रदान करे। इसके अतिरिक्त खाने और पहिनने में भी नागरिक को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। जो जैसा चाहे

भोजन करे और कपड़ा पहिने। किन्तु नागरिक को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह विदेशी वस्त्रों में अपना धन नष्ट करे। पोशाक से समाज को ठगने का भी अधिकार नागरिक को नहीं है। नशीली वस्तुओं का प्रयोग भी नागरिक अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकता। विवाह-शादी, रस्म-रिवाज़ तथा खेल कूद में भी नागरिक को पूरा अधिकार मिलना चाहिए। यदि नागरिक को ये स्वतन्त्रतायें प्राप्त नहीं हैं तो वह अपने जीवन को सार्थक नहीं बना सकता।

कौटुम्बिक अधिकार

७—इस अधिकार से मेरा तात्पर्य यह है कि कुटुम्ब मे एक दूसरे के प्रति क्या कर्तव्य हैं। जैसे पति का स्त्री के प्रति क्या कर्तव्य है। यदि स्त्री का यह कर्तव्य है कि वह पुरुष की आज्ञानुसार चले तो उसे यह भी अधिकार दिया गया है कि वह अपने पति से जीविका ग्रहण करे। पुत्र का यह अधिकार है कि पिता उसकी शिक्षा तथा भरण पोषण का प्रबन्ध करे। भारतीय कुटुम्ब मे जो सबसे बड़ा होता है उसे यह अधिकार रहता है कि वह सबकी देखभाल कर सके, जिसे चाहे उचित दण्ड दे तथा कुटुम्ब के आय व्यय का हिसाब रक्खे। कौटुम्बिक जीवन में अधिकार के अतिरिक्त कर्तव्य पर ही अधिक जोर दिया जाता है। कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना चाहिये। प्रत्येक को अपनी उन्नति का तथा मनोरंजन का पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिये। इसके बिना कौटुम्बिक जीवन मे सरसता नहीं आ सकती। कौटुम्बिक जीवन का यही तात्पर्य है कि कुटुम्ब का भार वहन करते हुए भी प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र और प्रसन्न रहे। कुटुम्ब में किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह एक दूसरे को प्राणदण्ड दे सके। प्राचीन काल में कुटुम्ब के स्वामी को यह अधिकार प्राप्त था किन्तु अब ऐसा नहीं है। कुटुम्ब में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह एक दूसरे की रक्षा करे। कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्ति को यह भी अधिकार है कि वह जब चाहे कुटुम्ब से अलग हो जाय। कुटुम्ब में व्यक्तियों का वही अधिकार और कर्त्तव्य है जो राष्ट्र में नागरिकों का। कौटुम्बिक अधिकारों का वही सिद्धान्त है जो राजकीय अधिकारों का है। दोनों का आधार न्याय और समानता है।

८—प्राकृतिक अधिकार के विषय मे विद्वानो का बड़ा ही मतभेद है। इसके अर्थ के विषय मे अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राकृतिक अधिकार विभिन्न समयो में विभिन्न प्रकार से माना गया है। प्राकृतिक अधिकार समाज में ही उत्पन्न होते हैं। प्राकृतिक अधिकार मे व्यक्तिगत अधिकार का कोई सामञ्जस्य नहीं है। प्राकृतिक अधिकार को समझने से पहिले प्रकृति का अर्थ समझना चाहिये। एक जर्मन विद्वान ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है। प्रकृति सम्पूर्ण जगत का आधार है। वह पूर्ण स्वतन्त्र है और मनुष्य से भिन्न है। प्रकृति का अर्थ कहीं कही नवीन भी माना गया है। एक तीसरा अर्थ भी प्रकृति का यह लगाया जाता है कि प्रकृति वह आदर्श है जो मनुष्य को करना चाहिये। इन्हीं अर्थों के आधार पर प्राकृतिक अधिकार अभिभूत है। इसके अन्तर्गत किसी विशेष अधिकार से तात्पर्य नहीं है। अपने समस्त अधिकारों तथा कर्तव्यो को नागरिक उचित रीति से पालन करे यही उसका प्राकृतिक अधिकार है। समाज के अतिरिक्त नागरिक को प्रकृति की ओर से कोई भी नवीन अधिकार प्राप्त नहीं होता। मनुष्य को जिन जिन अधिकारों की आवश्यकता है उन सबको मिलाकर प्राकृतिक अधिकार कह सकते हैं। इकरार सिद्धान्त के प्रतिपादक समाज-शास्त्र वेत्ताओ ने प्राकृतिक अधिकार का भिन्न भिन्न अर्थ ठहराया है। जिनका वर्णन किसी भी दृष्टि से यहाँ उपयुक्त नही है। राज्य की उत्पत्ति के अवसर पर इसका विस्तृत वर्णन किया जायेगा। अपने अधिकार और कर्तव्यो का पूर्ण ज्ञान ही नागरिक का प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक कर्तव्य कहा गया है।

प्राकृतिक अधिकार (Natural rights)

नागरिक को जितनी आवश्यकता भोजन और वस्त्र की है उतनी ही आवश्यकता शिक्षा की है। सभी नागरिकता उचित शिक्षा पर ही निर्भर है। जब तक सम्पूर्ण समाज को किसी प्रकार की ट्रेनिंग न दी जायेगी तब तक सामाजिक व्यवस्था का पालन नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार प्राप्त है कि

शिक्षा का अधिकार

वह राज्य से शिक्षा की माँग पेश करे। अशिक्षित मनुष्य को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। वह राजनैतिक तथा सामाजिक नियमों का तब तक उलंघन करता रहेगा जब तक वह इनका महत्व नहीं समझेगा। शिक्षा के बिना यह सम्भव नहीं है। सरकार का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि प्रारम्भिक शिक्षा सब के लिये अनिवार्य करे। ग़रीबी तथा अन्य सामाजिक बन्धनों के कारण कोई भी शिक्षा से वचित न रहे। इसलिये प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क होनी चाहिये। सामाजिक संगठन व्यक्ति की सुविधा का एक साधन है। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज शिक्षा का पूर्ण अधिकारी है। शिक्षा का आदर्श केवल मस्तिष्क की उन्नति ही नहीं होना चाहिये। प्रत्येक शिक्षा का कोई न कोई क्रियात्मक रूप होना चाहिये। इसलिये विभिन्न कलाओ की भी शिक्षा मिलनी चाहिये। शासन पद्धति को समझने तथा क़ानूनो का उचित पालन करने के लिये नागरिक शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिये। शिक्षा से ही मनुष्य को वर्तमान परिस्थिति का ज्ञान होता है। शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये। विदेशी भाषा का ज्ञान बुरा नहीं है परन्तु राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा के लिये मातृभाषा का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिये। प्रारम्भिक शिक्षा से ही शिक्षा का अन्त नहीं मानना चाहिये। समाज मे कलाओं की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब बड़े बड़े विद्वान पैदा हो। इसलिये ऊँची शिक्षा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। लम्बी लम्बी फ़ीस का प्रतिबन्ध लगाकर ऊँची शिक्षा को रोकना समाज को शिक्षा से विमुख करना है। जब तक शिक्षा का रूप सार्वभौम न होगा तब तक अशिक्षित वर्ग उन्नति नहीं कर सकता।

अधिकार और चरित्र

व्यक्ति को समाज में जितने भी अधिकार प्राप्त हैं वे उसकी उन्नति के साधन है। प्रश्न यह है कि मनुष्य के स्वभाव पर इन अधिकारो का क्या प्रभाव पड़ता है? सभी अधिकार समाज मे ही प्राप्त होते हैं। चरित्र भी एक समाजिक गुण है। कोई मनुष्य अपने आप को चरित्रवान और गुणी नहीं कहता। यदि कहे भी तो उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। चरित्रवान और गुणी वही है जिसे समाज ऐसा मानता है। अधिकारो से मनुष्य कर्त्तव्य

की ओर अग्रसर होता है। हम कोई भी काम इसी दृष्टि से करते हैं कि उससे हमारी आत्मोन्नति हो, और हम चरित्रवान बने। इस प्रकार हम देखते है कि अधिकार और चरित्र मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने अधिकारो का प्रयोग जब हम समाज में करते हैं तो उसमे हमारी दृढ़ता, कार्यकुशलता, तथा उत्साह आदि गुणो की परीक्षा होती है। वही हमे अपनी बुद्धि के विकास करने का अवसर मिलता है। अधिकारो का दुरुपयोग होने पर हमारी आत्मा अपने आप को कोसती है। आरम्भ मे किसी भी अनुचित कार्य के लिये हमारी आत्मा हमे गवाही नहीं देती है। अधिकार का दुरुपयोग मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। हमारे अच्छे विचार बुरे मार्ग पर जाने से हमे रोकते हैं। स्वयं एक प्रकार का संकोच मालूम पड़ता है। अधिकारो का उलंघन कर अपनी स्वतंत्रता को हम खो बैठते हैं। हमारी स्वतंत्रता वही तक सुरक्षित है जहाँ तक हम अधिकारों के अनुसार अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। अधिकार के भीतर ही हमारी उन्नति और प्रसन्नता निहित है। यदि हमे अपने चरित्र की रक्षा करनी है तो अधिकारों का उलंघन किसी भी दृष्टि से हितकर न होगा। पूर्ण विकास नियम पालन से ही हो सकता है। अनियमित और असीमित जीवन विकास मे बाधक है। इस प्रकार अधिकारों के पालन करने से चरित्र की वृद्धि होती है और चरित्रवान ही उन्हें पालन भी कर सकता है।

कर्त्तव्य

अधिकार का अन्तिम उद्देश्य कर्त्तव्य की पूर्ति है। कोई भी अधिकार ऐसा नही है जिसको प्राप्त कर नागरिक उत्तरदायी न हो सके। अधिकार इसीलिये प्राप्त होते हैं कि कर्त्तव्य को पूरा करने का अवसर मिले। यदि स्वतन्त्रता हमारा अधिकार है तो इसे प्राप्त कर हमे बहुत से कर्त्तव्य करने होगे। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य है। नागरिक का यह अधिकार है कि वह राज्य से शिक्षा की मांग पेश करे। इसका यह भी अर्थ है कि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह नागरिक को शिक्षित करे। जिस प्रकार अधिकार समाज मे ही प्राप्त हो सकते हैं, उसी तरह कर्त्तव्य का भी पालन समाज मे ही सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति जो समाज में रहता है

कर्त्तव्य की मूर्ति है। कर्त्तव्यहीन मनुष्य पशु तुल्य है, और संसार में वह निन्दा का पात्र समझा जाता है। पुरुष वही है जो कर्त्तव्य परायण है। बिना कर्त्तव्य के लोक और परलोक दोनों में मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता। प्रत्येक प्राणी सुख की आशा करता है। सुख की प्राप्ति के लिये उसे बुद्धि और शरीर दोनों से काम लेना पड़ता है। कर्त्तव्य को पूरा करके ही मनुष्य सुख का अधिकारी समझा जाता है। जीवन का श्रेय कर्त्तव्य से ही समझा जाता है। महापुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे कर्त्तव्य शील होते हैं। इतिहास कर्त्तव्य-परायण पुरुषो की ही कहानी है। यह सारा विश्व कर्त्तव्य के ही बल पर टिका हुआ है। सब लोग अपने अपने काम बन्द कर दे तो समाज की रचना तितर बितर हो जायगी। जिधर दृष्टि डालिये कर्त्तव्य का ही राज्य दिखलाई पड़ेगा। जो लोग कर्त्तव्य नहीं करते हैं वे दूसरों के किये हुये कर्त्तव्यो का उपभोग करते हैं। ऐसे लोग समाज के शोषक कहे जाते हैं।

कर्त्तव्य और धर्म

हमारे देश मे 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का द्योतक है। धर्म का अर्थ केवल पूजा पाठ ही नहीं है। जो इसका इतना सङ्कुचित अर्थ लगाते हैं वे धर्म को नहीं समझते। हमारे यहाँ तो धर्म मनुष्य के समस्त अधिकार और कर्त्तव्यों का मूल है। धर्म से हमारा तात्पर्य कर्त्तव्य से है। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का यह धर्म नहीं है तो इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस व्यक्ति को ऐसा नहीं करना चाहिये। अथवा यह कहे कि उसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। हमारा समस्त जीवन धर्म के साथ जोड़ दिया गया था। इसका कारण यह था कि पग पग पर हमे अपने कर्त्तव्य पालन की चेतावनी दी गई थी। सभी देशो मे धर्म कर्त्तव्य पालन मे सहायक होता है। हमारे भारतवर्ष मे कर्त्तव्य को ही धर्म ठहराया गया था। जो अपने कर्त्तव्य का पालन करे वही धर्मात्मा है और जो उसका उलंघन करे वह अधर्मी तथा पापी है।

भारतवर्ष मे कर्त्तव्य एक शास्त्र समझा जाता था। वैदिक काल मे इस शास्त्र की विशेष उन्नति हुई थी। अधिकार पर अधिक

ज़ोर नही दिया जाता था। लोग अधिकार प्राप्ति की चेष्टा कम करते थे। परन्तु कर्त्तव्य पालन का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। इसी लिये जन्म से मृत्यु तक धर्म मनुष्य के साथ जोड़ दिया जाता था ताकि उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान हो और वह अकर्मण्य वा कर्त्तव्य विमुख न हो। कर्त्तव्य के न पालन करने वाले को समाज मे स्थान नहीं दिया जाता था। वह सर्वथा अछूत समझा जाता था। हमारे धार्मिक ग्रन्थ कर्त्तव्य पालन पर विशेष ज़ोर देते हैं। कर्त्तव्य शब्द भी काफी व्यापक है। शरीर से ही कर्त्तव्य का पालन नहीं होता है। भीतरी शक्तियाँ भी कर्त्तव्य पालन में विशेष सहायक होती हैं। जब तक मन शुद्ध न होगा तब तक कर्त्तव्य का पालन नही हो सकता। धर्म भी यही सिखलाता है कि मन, वचन और शरीर से शुद्ध रहो। इसी से कोई अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और कर्तव्य में कोई विरोध नही है। दोनों का उद्देश्य मनुष्य को चरित्रवान तथा उन्नतिशील बनाना है।

नागरिक के कर्त्तव्य

जिस प्रकार अधिकार का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कर्तव्य का भी विभाजन नही हो सकता। अध्ययन की सुविधा के लिये तथा कर्तव्य को ठीक ठीक समझने के लिये हम कुछ कर्तव्यों का विश्लेषण कर सकते हैं। राज्य में कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिन्हें पालन किये बिना नागरिक नही रह सकता। वह राज्य से बहिष्कृत किया जा सकता है अथवा उसे राज्य की ओर से दंड दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त भी उसके बहुत से कर्तव्य हैं परन्तु उनका पालन उसकी इच्छा पर निर्भर है। यदि वह उनका पालन करता है तो उसकी उन्नति होगी, यदि नहीं तो उसके जीवन का विकास नहीं हो सकता। नागरिक के कर्तव्य कुछ तो उसके कुटुम्ब के प्रति हैं, कुछ देश के प्रति और कुछ सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति। परिवार के प्रति उसका कर्तव्य यह है कि वह कुटुम्ब का पालन पोषण करे। अपने बच्चों को शिक्षा दे तथा बुराई से बचावे। कुटुम्ब मे शान्ति रक्खे और सबकी उन्नति की व्यवस्था बनावे तथा सब को कर्तव्य पालन की ओर अग्रसर करे। सम्पूर्ण मनुष्य जाति के प्रति भी उसके बहुत से

कर्त्तव्य हैं। मनुष्य मनुष्य जाति के कल्याण के लिये पैदा हुआ है। भारतवर्ष मे जन्म लेने वाला मनुष्य वही है जो इगलैंड और अमेरिका में पैदा हुआ है। रूप और रंग के अन्तर के कारण मनुष्य जाति में कोई भेद नहीं है। सब की बनावट लगभग एक सी है। सबकी आवश्यकतायें समान हैं। सभी सुख और शान्ति चाहते हैं। ऐसी दशा में महापुरुष वही है जो अपने कर्त्तव्य को किसी एक देश में ही सीमित नहीं रखता है। मसीह ने अपने उपदेश मनुष्य जाति के लिये दिया। उससे एक भारतवासी उतना ही लाभ उठा सकता है जितना एक अमेरिकन अथवा रूसी। बुद्ध का भी यही हाल है। उसके उपदेश संसार के लिये एक समान हैं। रूप, रंग, जाति के कारण उससे कोई वंचित नहीं किया जा सकता।

देशभक्ति (Allegiance)

१—जैसा मैंने ऊपर कहा है कि राज्य में कुछ ऐसे कर्तव्य हैं जिनका पालन करना नागरिक के लिये आवश्यक होता है। अनागरिक को भी उन्हे पालन करना पड़ता है, परन्तु कुछ अंश में वह इनसे वंचित किया जा सकता है। नागरिक के आवश्यक कर्तव्यों में सर्वप्रथम स्थान देशभक्ति का है। प्रत्येक नागरिक तभी तक स्वतन्त्र और सुरक्षित है जब तक देश में शान्ति है। शान्ति के समय मे भी नागरिक को देश सेवा आदि कार्यों में हाथ बँटाना पड़ता है और समय समय पर सरकार की सहायता करनी पड़ती है। परन्तु जब कोई लड़ाई छिड़ती है या हमला होता है तो राज्य की सहायता करना प्रजा का पहिला कर्त्तव्य है। कोई भी नागरिक इस कर्त्तव्य से वंचित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक नागरिक को शरीर तथा धन से सरकार की सहायता करनी पड़ती है। इसके लिये पहले ही से नागरिक को फौजी शिक्षा दी जाती है। ऐसे अवसर पर नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि देश रक्षा के निमित्त वह अपने प्राणों तक की बाजी लगा दे। देश को सुरक्षित करके ही वह अपनी रक्षा कर सकता है। इस कर्तव्य पालन से कोई भी नागरिक मुँह नहीं मोड़ सकता। यदि मुँह मोड़ता है तो वह देश द्रोही समझा जाता है और दंड का भागी ठहराया जाता है।

२—प्रत्येक नागरिक राज्य नियमो को पालन करने के लिये बाध्य है। उसका यह कर्त्तव्य है कि वह कानून को माने। कानून केवल राज्य की आज्ञा नहीं है, बल्कि प्रजा की आवश्यकता है। कानूनों से प्रजा की रक्षा होती है और देश में शान्ति रहती है।

आज्ञा पालन (Obedience)

प्रजा के ही प्रतिनिधि कानूनों को बनाते हैं। वे प्रजा की भलाई के लिये ऐसा करते हैं। सरकार तो केवल इन क़ानूनों के पालन कराने के लिये तैयार रहती है। नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी बनाई हुई चीज की रक्षा करे। कानूनों का उलंघन कर वह अपनी आवश्यकता का बहिष्कार करता है। औरों के सामने अराजकता का उदाहरण रखता है। ऐसी दशा मे वह राज्य की ओर से दंड का भागी होता है। यदि राज्य की ओर से कुछ ऐसे कानून बनाये जाते हैं जो प्रजा के हित में बाधक हैं तो प्रजा उन्हें बहिष्कार कर सकती है। यहाँ पर उनका बहिष्कार ही उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

३—कर राज्य का प्राण है। जिस प्रकार प्राण के बिना शरीर निर्जीव है उसी प्रकार कर के बिना राज्य जीवित नहीं रह सकता। सरकार को चलाने के लिये धन की आवश्यकता पड़ती है। प्रजा का यह कर्त्तव्य है कि वह करो के रूप मे यह धन देवे। यदि सरकार की आवश्यकता उसे है तो धन भी उसी को देना होगा। कोई भी नागरिक इसे इनकार नही कर सकता। जितने भी कर लगाये जाते हैं सब प्रजा की आर्थिक दशा को सोच कर ही लगाये जाते हैं। कोई भी सरकार प्रजा से अनुचित धन नही ले सकती। यदि वह ऐसा करती है तो प्रजा उसका बहिष्कार करेगी। प्रजा की भलाई के लिये ये कर लगाये जाते हैं और उन्ही के ऊपर खर्च भी किये जाते हैं। इसलिये प्रजा को प्रसन्नता पूर्वक इन करो को देना चाहिये। विशेष अवसरो पर ये कर बढ़ाये भी जा सकते हैं। यद्यपि प्रजा को इनसे कष्ट होता है परन्तु उनकी स्थिति के लिये इनका लगाना जरूरी होता है। नागरिक को इस कर्तव्य के बदले एक बहुत बड़ा अधिकार प्राप्त है। कर देकर वह शासन में भाग लेने का अधिकारी हो जाता है (No taxation without representation) जिस

करों को चुकाना

राज्य मे प्रजा को शासन व्यवस्था मे कोई अधिकार प्राप्त नहीं है वह कर देने से इनकार कर सकता है। इंगलैंड के इतिहास मे स्टुअर्ट राजाओ के समय मे प्रजा ने धन देने से इनकार किया था। उसका ऐसा करना सर्वथा उचित था, क्योंकि स्टुअर्ट राजा स्वेच्छाचारी शासन करना चाहते थे।

नागरिकता का सदुपयोग

४—अधिकार की प्राप्ति कर्तव्य के लिये होती है। नागरिक चाहे तो एक ही अधिकार से बहुतों को हानि पहुँचा सकता है। मान लीजिये किसी देश में हथियार रखने की सब को स्वतंत्रता है। यह इसलिये किया गया है ताकि आपत्ति के समय नागरिक अपनी रक्षा कर सके। नागरिक चाहे तो इस स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर सकता है। वह अपने ही पड़ोसी पर वार कर सकता है अथवा किसी भी बेगुनाह व्यक्ति पर हाथ साफ कर सकता है। ऐसी दशा मे राज्य इस स्वतंत्रता का अपहरण कर सकता है। इसी प्रकार सभी अधिकारों का दुरुपयोग किया जा सकता है। इसलिये नागरिक का सबसे बड़ा कर्तव्य है अधिकारो का सदुपयोग। नागरिक अपने अधिकारों को समझे और उसका उचित प्रयोग करे। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की तरह अधिकार का उलंघन हानिकर होता है। किसी की स्वतंत्रता मे बाधा डालकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना नितान्त अनुचित है। इससे मनुष्य का पतन होता है। इसी को रोकने के लिये दड की व्यवस्था बनाई गई है। शारीरिक दंड ठीक है बशर्ते कि मनुष्य सुमार्ग पर आ जाय। जो नागरिक अपने कर्तव्य का ध्यान नहीं रखता और अधिकार का दुरुपयोग करता है उसकी भलाई के लिये राज्य उसे दंड देता है ताकि इस चेतावनी से उसका सुधार हो जाय। साथ ही औरो को भी इससे शिक्षा मिलती है।

केवल अधिकार प्राप्त करने से ही नागरिक की उन्नति नहीं हो सकती। उन्नति तो तभी संभव है जब उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जाय। धन कमाना सरल है परन्तु उसका उचित उपभोग अत्यन्त कठिन है। थोड़े ही धन से कुछ लोग बहुत ही आदर्शमय जीवन व्यतीत कर लेते हैं। इसके विपरीत लाखों की सम्पत्ति रखने वाला चिन्ता के जाल में फँसा रहता है और दूसरों को

कष्ट देता है। इसी प्रकार बहुत से अधिकारो की आवश्यकता नहीं है। जरूरत है थोड़े ही अधिकारो के उचित प्रयोग की। किसी भी प्रकार से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होनी चाहिये। किन्तु अनुचित ढंग पर इसकी प्राप्ति ठीक नहीं है। पूर्ण विकास उसी का नाम है जो अहिंसा द्वारा हो सके। सदुपयोग मे ही शान्ति और सुख है। आदर्श नागरिक ही इसे समझ सकते हैं और ऐसा कर सकते हैं।

५—श्रम से मेरा तात्पर्य शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के श्रम से है। एक से पूरी उन्नति नहीं हो सकती। केवल कसरत करके शरीर को मोटा ताजा करना ठीक नही है। मनुष्य का जन्म केवल खाने के लिये नहीं है। इसके विपरीत केवल दिमागी शक्ति को बढ़ाना भी ठीक नही है। शरीर का ध्यान छोड़ कर मस्तिष्क की उन्नति करना सर्वथा हानिकर है। रुग्ण शरीर वाला गुणी भी हो तब भी वह क्या कर सकता है? मध्यम मार्ग सबसे उत्तम है। शरीर का ध्यान रखते हुये मनुष्य अपनी मानसिक उन्नति करे। दोनो के मेल से ही उसकी उन्नति हो सकती है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह दोनों प्रकार का श्रम करे। इससे राज्य की शक्ति बढ़ेगी। इसीलिये भीख माँगना कई देशो में जुर्म ठहराया गया है। क्योकि इससे काहिल लोगो की संख्या बढ़ती है और राज्य की आमदनी कम होती है। यही नही, समाज में इससे आध्यात्मिक अवनति होती है।

श्रम

किसी देश में काहिलो की संख्या बढ़ जाय तो इसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होगा। इसी भय से राज्य तरह तरह के कारोबार की सुविधाये लोगो को देता रहता है। नैतिक दृष्टि से परिश्रम के बिना भोजन करना पाप है। जब हम परिश्रम नहीं करते हैं तो हमें रोटी कहाँ से मिलती है। भोजन के बिना एक दिन भी सुख से नहीं बीत सकता। परिश्रम हीन मनुष्य दूसरो की कमाई खाता है। इसे कर्तव्य का पालन नहीं कह सकते। हर मनुष्य को हाथ और बुद्धि है। वह अपनी शक्ति के अनुसार उनसे पैदा करे। स्वयं खावे और दूसरों को भी दे। इसी से देश में शान्ति रह सकती है और सबकी उन्नति हो सकती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सबको समान

अवसर दे। मनुष्य मात्र का यह उद्देश्य होना चाहिए कि एक दूसरे के परिश्रम का फल कोई भी न भोगे। अपने बाहुबल पर चलकर ही उसके अन्दर आत्म-सम्मान और आत्म-गौरव प्राप्त होगा। इसी से भीतरी शक्तियो का विकास होता है। श्रम मनुष्य को बहुत सी बुराइयों से बॅचाता है। बेकार मस्तिष्क भूतों का घर है। कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। संसार में कार्य की कमी नहीं है। कमी है करने वालों की। प्रत्येक नागरिक सोचे और अपने आप कार्य निकाले और उन्हे करे। राज्य उसकी सहायता मात्र कर सकता है।

नागरिक के अन्य कर्तव्य

प्रत्येक देश में हर समय कोई न कोई समस्या उपस्थित रहती है। जन साधारण उन्हे सुलझाने मे असमर्थ होते हैं। उच्च नागरिक का यह कर्तव्य है कि उसे सुलझावे और जनता का उद्धार करें। तरह तरह के सामाजिक सुधार होते रहते हैं। इनकी सहायता करना नागरिक का धर्म है। अपनी ही चिन्ता में व्यस्त रहना स्वार्थ का शिकार बनना है। समाज मे कितने ही लँगड़े लूले, अपाहिज, अन्धे आदि रहते हैं। समाज का यह कर्तव्य है कि उनकी जीविका का प्रबन्ध करे। विधवाओं को शरण दे। तरह तरह की सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का प्रयत्न करे। अनाथालय, धर्मशालायें, शिक्षा गृह, व्यायाम शाला आदि खोलने की व्यवस्था करना भी नागरिको का कर्तव्य है। केवल सरकार पर सभी भार छोड़ देना उचित नही है। सामाजिक सुधार उतने ही आवश्यक हैं जितने राजनैतिक प्रबन्ध। दोनों की जिम्मेवारी नागरिकों पर है। किसी अवस्था तक बच्चो को शिक्षित करना भी नागरिक का कर्तव्य है। सम्पूर्ण समाज मे प्रेम का बीज बोना नागरिक का ही कर्तव्य है। हर राज्य में कुछ संख्या विदेशियों की होती है। उनके साथ सज्जनता का व्यवहार करना सम्पूर्ण प्रजा का कर्तव्य है। वे मानव समाज के एक अङ्ग हैं। उनके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है। इस प्रकार कर्तव्य से ही आत्म-विकास होता है और आत्म-विकास से कर्तव्य का उचित पालन होता है।

अध्याय ४

स्वतन्त्रता और समानता

स्वतंत्रता स्वाभाविक स्वतंत्रता—सामाजिक स्वतत्रता—राजनैतिक स्वतत्रता राष्ट्रीय स्वतंत्रता—स्वतन्त्रता की आवश्यकता—राज्य और स्वतत्रता—कानून और स्वतंत्रता—क्या मनुष्य स्वतत्र है?—समानता—समानता सम्बन्धी कुछ भ्रम—शारीरिक समानता—आर्थिक समानता—सास्कृतिक समानता—राजनैतिक समानता—सामाजिक समानता—नैतिक समानता—समानता और समाजवाद—समानता और अध्यात्मवाद।

राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इसीलिये है कि मनुष्य का विकास हो। प्रजातन्त्रवाद विकास के लिये सबसे उपयुक्त माना गया है। समानता और स्वतन्त्रा इसकी पहली आवश्यकतायें हैं। शुद्ध प्रजातन्त्रवाद वही है जिसमे व्यक्ति को अपनी उन्नति करने की पूरी स्वतन्त्रता है और जिसका सिद्धान्त समानता पर निर्भर है। यदि विश्वबन्धुत्व की सम्भावना करनी है तो संसार का राजनैतिक संगठन चार सिद्धातो पर किया जा सकता है:—प्रजातंत्रतवाद, स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता और समानता के बिना मनुष्य की उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। अब हमे यह देखना है कि इन दोनों शब्दो का तात्पर्य क्या है और वर्तमान राजनैतिक संगठन में इनका कहाँ तक पालन होता है। पहिले हम स्वतंत्रता पर विचार करेंगे।

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता गुलामी का विपरीत शब्द है। जो गुलाम नही है वही स्वतंत्र कहा जा सकता है। स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को इस बात का पूरा अवसर मिले कि वह आत्मोन्नति कर सके। जिस हद तक उसे इसकी स्वतंत्रता दी गई है वहाँ तक वह स्वतंत्र है। प्राचीन काल मे स्वतंत्रता से तात्पर्य यह था कि अत्याचारी राजाओ से रक्षा हो। राजा लोग प्रजा पर इतना अत्याचार करते

थे कि उन्हे रोकना ही एक बहुत बड़ी स्वतंत्रता समझी जाती थी। किन्तु आधुनिक युग मे जिसे प्रजातंत्रवाद का युग कहते हैं इस प्रकार के अत्याचारी राजा नहीं रह सकते। आज स्वतंत्रता का एक दूसरा ही अर्थ लगाया जाता है। प्रजातंत्रवाद और स्वतंत्रता दोनो साथ साथ चलते हैं। दोनो एक ही सिद्धान्त के दो पहलू है। सभी नागरिको को इस बात की पूरी स्वतत्रता होनी चाहिये कि वे भाषण दे सकें, मीटिंगे कर सकें, सामाजिक सगठन बनावें, वादविवाद करें तथा शासन प्रबन्ध मे टीका टिप्पणी कर सके। प्रेस को भी पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। व्यक्तित्व का विकास इन्हीं स्वतंत्रताओ द्वारा हो सकता है। टीका टिप्पणी सत्य की खोज का सबसे बड़ा साधन है। जब तक सत्य की खोज न होगी तब तक मनुष्य का उद्देश्य पूरा न होगा। उन्नति का तात्पर्य स्वतंत्र विकास से है। स्वतंत्र विकास स्वाभाविक विकास को कहते हैं। इसीलिये स्वतंत्रता एक स्वाभाविक वस्तु है। किसी मनुष्य को इससे वचित करना उसके स्वाभाविक विकास को रोकना है। स्वतंत्रता के भिन्न भिन्न अर्थ हैं। एक है स्वाभाविक स्वतंत्रता। दूसरी सामाजिक स्वतंत्रता, तीसरी राजनैतिक स्वतंत्रता और चौथी राष्ट्रीय स्वतंत्रता। इन पर हम अलग अलग विचार करेंगे।

स्वाभाविक स्वतंत्रता

१—फ्रांस का प्रसिद्ध विद्वान रूसो लिखता है "मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है, और सब जगह परतंत्रता के जाल मे जकड़ा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य अपने को एक दूसरे का स्वामी समझता है, परन्तु उसकी ग़ुलामी उसके नौकरो से भी बढ़ कर है।" जब मनुष्य का जन्म स्वतंत्र होता है तो वह स्वभाव से ही स्वतंत्र रहने का अधिकारी है। यह मनुष्य की कमजोरी है जो सामाजिक बन्धनो मे अपने आप को बाँध देता है। शरीर और विचार दोनो ही स्वतंत्र हैं। शरीर को बन्धन मे डाला जा सकता है परन्तु विचारों की ग़ुलामी कदापि सम्भव नहीं है। एक विद्वान का कहना है 'विचार पूर्ण स्वतंत्र है"। अपने राज्य मे नागरिक जो चाहे कर सकता है। विचार को दबाने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। स्वाभाविक स्वतंत्रता

के सिद्धान्त के अनुसार शरीर से वाणी से तथा कर्म से मनुष्य को पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिये।

सामाजिक स्वतत्रता

२—जब तक समाज की रचना नहीं हुई थी तब तक प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार खाता, पीता घूमता तथा विचारता था। उसके ऊपर किसी भी प्रकार के बन्धन नहीं थे। यदि कोई उसे कष्ट पहुँचाता तो शक्ति से ही उसका निवारण किया जा सकता था। ऐसी दशा मे कमज़ोर व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता था। इसी लिये समाज की रचना हुई कि प्रत्येक मनुष्य समान रूप से स्वतंत्रता से लाभ उठावे। बहुत से सामाजिक नियम बना कर मनुष्य को चेतावनी दे दी गई कि वह एक दूसरे की स्वतंत्रता में बाधक न हो। यदि समाज में रहना है तो सब की भलाई का ध्यान रखना होगा। समाज में मनुष्य वहीं तक स्वतंत्र है जहाँ तक वह औरो की स्वतंत्रता मे बाधा नहीं पहुँचाता है। इसीलिये उसे बहुत से सामाजिक नियमो का पालन करना पड़ता है। सामाजिक स्वतंत्रता से यह तात्पर्य है कि मनुष्य को सच्ची स्वतंत्रता समाज मे ही प्राप्त हो सकती है। सभ्यता और स्वतंत्रता दोनों वस्तुयें स्वाभाविक हैं। यदि मनुष्य सभ्य बनना चाहता है तो वह समाज में स्वतंत्रता को तलाश करे। समाज से अलग यदि कोई स्वतंत्रता है तो वह जंगली और असभ्य है। इसमे थोड़े गुण भी हो तब भी समाज को उनसे कोई लाभ नहीं है।

राजनैतिक स्वतत्रता

३—स्वतंत्रता का तीसरा क्षेत्र राजनीति है। इसका तात्पर्य 'स्वतंत्र देश' अथवा 'स्वतंत्र सरकार' है। जिस राज्य मे प्रजा को यह अधिकार है कि वह शासन मे हाथ बटावे वहीं राजनैतिक स्वतंत्रता है। जनता स्वय यह निश्चित करती है कि उसका शासन प्रवन्ध कैसे हो। साम्राज्यवाद राजनैतिक स्वतन्त्रता का शत्रु है। एक देश को कोई अधिकार नहीं है कि वह किसी दूसरे देश को गुलाम बनावे। इसी सिद्धान्त के अनुसार कोई भी राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण कदापि नहीं कर सकता। शक्ति के आधार पर निर्माण किया हुआ राज्य चिरस्थायी नहीं बन सकता। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। अग्रहम

लिंकन ने प्रजातन्त्रवाद की जो परिभाषा की है कि "सरकार प्रजा की वस्तु है प्रजा उसे अपनी भलाई के लिये चलावे", वह सबको मान्य है। राजसत्ता और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का युद्ध इतिहास का सबसे बड़ा अध्याय है। प्राचीन तथा मध्य काल तक यह युद्ध चलता रहा है कि राजसत्ता का क्या तात्पर्य है और राजा के क्या क्या अधिकार हैं। आज भी प्रजा की सम्पूर्ण माँग पूरी नहीं हो सकी। अभी यह सिद्धान्त सभी देशों में सर्वमान्य नहीं है कि राजसत्ता प्रजा की चीज़ है। और वह उसे घटाने बढ़ाने में पूर्ण स्वतन्त्र है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

४—जो देश स्वतन्त्र नहीं है वह राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। भारतवर्ष राष्ट्र नहीं है। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयता दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। जैसे व्यक्ति को राज्य मे स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उसी प्रकार किसी देश को पूर्ण स्वतन्त्रता की आवश्यकता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अधिक आवश्यक है। कोई देश एक दूसरे का ग़ुलाम बन कर अपनी उन्नति नहीं कर सकता। जो देश परतन्त्र हैं वे ग़रीब और असन्तुष्ट रहते हैं। उनके अन्दर जीवन का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसीलिये किसी राज्य के सम्पूर्ण व्यक्तियों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि न वे किसी देश को ग़ुलाम बनावें और न स्वयं ग़ुलाम रहें। नैतिक दृष्टि से दोनों ही बुरे हैं।

स्वतन्त्रता की आवश्यकता

स्वतन्त्रता मानव जीवन का तत्व है, जिसे खोकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता है। जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी जीभ में कोई कुंजी नहीं लगी रहती है। और न उसके हाथ पैर बँधे होते हैं। यह बात मनुष्यता के विरुद्ध है कि उसकी जीभ में ताला लगा दिया जाय और उसकी गति रोक दी जाय। ऐसा करने से मनुष्य पशु और पक्षियों से भी नीचे गिर जाता है। मछली पानी में अपनी इच्छानुसार घूम सकती है और पक्षी जहाँ चाहे उड़ सकता है। फिर मनुष्य को आने जाने में रुकावट क्यों हो? स्वतन्त्र मनुष्य ही अपने सम्मान की रक्षा कर सकता है; वही सत्य बोल सकता है; और मनुषत्व की प्राप्ति भी उसी को हो

सकती है। पूर्ण स्वतन्त्रता वह भूमि है जिसमें व्यक्तित्व का बीज अपने आप उगता है और स्वयं बढ़कर ज्ञान, आनन्द, प्रेम और सच्चरित्रता आदि फल लाता है। स्वतन्त्र मनुष्य के ही मुख से यह वाक्य निकल सकता है कि "मैं विचार करता हूँ; मैं महसूस करता हूँ; और मेरी यह इच्छा है।" स्वतन्त्रता के बिना मनुष्य मशीन की तरह है जो दूसरों के हाथों की कठपुतली है। जन्म से ही मनुष्य की आत्मा यह चिल्ला चिल्ला कर कहती है कि "स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है। मैं कानून का वहीं तक आदर करती हूँ जहाँ तक वह मेरी उन्नति करती है।" स्वतन्त्रता का यह ऊँचा आदर्श समानता से ही पूरा हो सकता है। स्वतन्त्रता उन्नति की जननी है। कूइस का निवासी निकोलस लिखता है, "मनुष्य स्वभाव से ही स्वतन्त्र और समान है। किसी भी सत्ता अथवा नियम का श्रोत जनता से आरम्भ होता है।"

जान स्टुअर्ट मिल अपनी "स्वतन्त्रता" नामक पुस्तक में लिखता है "मनुष्य मात्र अपनी राय क़ायम करने के लिये स्वतन्त्र है। उसे अपनी राय ज़ाहिर करने का पूरा पूरा अधिकार है।" यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है? यदि कार्य करने का अधिकार नहीं है तो केवल विचार से क्या लाभ है। मिल का यह कहना है कि "कार्य करने मे मनुष्य को वहीं रुकावट डाली जाती है जहाँ वह अपने कार्य से दूसरो को हानि पहुँचाता है।" इससे यह स्पष्ट है कि यदि कोई अपने कामों से औरो को हानि न पहुँचाये तो वह कार्य करने के लिये स्वतन्त्र है। न्याय भी ऐसा ही कहता है कि दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है। यदि राज्य की ओर से मनुष्य के कामों पर थोड़ा प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है तो केवल इसी दृष्टि से कि एक के काम से औरो को हानि न पहुँचे। मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पहुँचाता है। जो वृक्ष अपनी इच्छानुसार बढ़ता है उसका विस्तार अधिक दायरे मे होता है और उसकी नीव दृढ़ होती है। यही हालत मनुष्य की भी है। दूसरों की इच्छा पर चलने वाला मनुष्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा नही कर सकता। उसकी सभी शक्तियाँ तभी विकसित होंगी जब वह स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करे और उसी

के अनुसार चले। पग पग पर रोक कर मनुष्य की उन्नति-शक्ति कुंठित की जा सकती है। स्वतन्त्र विचारों से ही चरित्र बल की नींव पड़ती है। पशु की तरह मनुष्य बाँधा नहीं जा सकता। उसका मूल्य तभी हो सकता है जब वह स्वतन्त्र है।

आवश्यकता अनुसन्धान की जननी है। स्वतन्त्रता मे ही अपनी आवश्यकताओं को हम समझ सकते हैं। हमारी आवश्यकताये भिन्न भिन्न हुआ करती हैं। इसलिये बाहरी नियम इसे निश्चित नहीं कर सकते। अपनी इच्छानुसार आवश्यकता की पूर्ति कर मनुष्य विचार में निमग्न होता है। जितने भी नये नये आविष्कार दिखलाई पड़ते हैं सभी स्वतन्त्र विचारों के फल हैं। संसार में जितनी नवीनता हमें दिखलाई पड़ती है वह सब स्वतन्त्र मस्तिष्क की उत्पत्ति है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो नये नये सिद्धान्त हमे मिलते हैं वे स्वतन्त्र बुद्धि के ही फल हैं। यदि स्वतन्त्रता न हो तो नवीनता नहीं रह सकती। यदि राज्य की ओर से यह क़ानून बना दिया जाय कि सब लोग अपना घर एक ही प्रकार का बनावे तो इसका परिणाम क्या होगा? वास्तु-कला विशारद नये नये नकशे बनाना बन्द कर देंगे और कुछ दिनों में गृह-निर्माण कला का विनाश हो जायगा।

राज्य और स्वतन्त्रता

'राज्य नागरिक की स्वतन्त्रता मे बाधक है।' जो लोग ऐसा कहते हैं वे न राज्य को समझते हैं और न स्वतन्त्रता को। उनकी समझ मे स्वतन्त्रता का अर्थ जंगली स्वतन्त्रता से होता है। परन्तु समाज में ऐसी स्वतन्त्रता ठीक नहीं है। जो मनुष्य जिसे चाहे मार दे और जिसका धन चाहे छीन ले तो हम उसे स्वतन्त्र तो जरूर कहेंगे, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता की सराहना नहीं करेंगे। यदि ऐसी स्वतन्त्रता सब को दे दी जाय तो दुनियाँ मे आततायियों का बोल बाला हो जाय। कोई भी कार्य करना असम्भव हो जायगा। रोज़ ही लूट मार और अत्याचार होने लगेंगे। सभ्यता और नियम आदि का नामो निशान ही इस दुनियाँ से मिट जायगा। इसी को रोकने के लिये और शान्ति की स्थापना कर न्याय की रक्षा के लिये राज्य की उत्पत्ति हुई है। इसलिये राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं है। राजकीय नियम मनुष्य

की जंगली स्वतन्त्रता को बुरा ठहराते हैं। वे मनुष्य की शक्ति को संगठित कर अच्छे कामों की ओर अग्रसर करते हैं। क़ानून आदि जो मनुष्य को बन्धन मालूम पड़ते हैं सभी उसकी रक्षा के लिये हैं और उसके विकास में सहायक होते हैं। यह कहा जाता है कि "कानूनों की इतनी भरमार है कि व्यक्ति को वे भार मालूम पड़ते हैं। विभिन्न संगठनो का जोर इतना बढ़ता जा रहा है कि व्यक्ति की उसमे कोई हस्ती नही है। सामाजिक संगठन में वह मशीन बन गया है।" मै इससे सहमत नहीं हूँ। क़ानूनों की अधिकता से और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से कोई सम्बन्ध नहीं है। क़ानून हमारी ही कठिनाइयों को दूर करने के लिये बनाये जाते हैं। हमे उनकी आवश्यकता है। स्वार्थ की दृष्टि से वे हमें भले ही बुरे लगे लेकिन आवश्यकता पड़ने पर हम उसका प्रयोग करते हैं।

विभिन्न सामाजिक संगठन हमारी विभिन्न माँगो की पूर्ति करते हैं। जो हमे संस्थाओं का बिखरा हुआ जाल दिखलाई पड़ रहा है उसको हमी बैठ कर बुनते हैं। स्कूल मे पढ़ने के लिये जब कोई बच्चा भेजा जाता है तो शिक्षा उसे भार मालूम पड़ती है। स्कूल को वह जेल समझता है। फिर भी शिक्षा को कोई बन्धन नही कह सकता। इसी प्रकार और भी संस्थाये बन्धन नही हैं। उनमें रह कर हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकते हैं। वे हमारी स्वतन्त्रता मे बाधक नही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य और समाज हमारी उन्नति के साधन हैं, बाधक नहीं। वे बाधक तभी सिद्ध होते हैं जब हम अपनी उन्नति का मार्ग छोड़ कर अवनति-पथ पर चलने लगते हैं। राज्य मे किसी व्यक्ति को चोरी करने की स्वतन्त्रता नही है। व्यभिचार, अन्याय, अपहरण, प्रतिकार आदि की स्वतन्त्रता किसी को भी नही है। किन्तु इससे समाज को हानि तो नहीं होती है। इसे तो सभी मानेगे कि ऐसी स्वतन्त्रता की आवश्यकता नही है।

कभी कभी राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधक होता है। भय और स्वार्थ वश राज्य को उस समय कोई बुरा नही ठहराता है किन्तु न्याय की दृष्टि से हम उसे बुरा ठहरा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नही है कि इस रुकावट के कारण राज्य बुरी चीज है। दो चार अवगुणो के कारण हम सैकड़ो गुणो का बहिष्कार नहीं

कर सकते। राज्य जहाँ कभी कभी बाधक सिद्ध हुआ है वहाँ हमारे लिये वह अत्यन्त आवश्यक भी है। अब हमे देखना चाहिये कि किस प्रकार राज्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे बाधक होता है और उससे क्या हानि होती है। यूनान का विद्वान सुकरात अपने स्वतन्त्र विचारो के कारण फाँसी पर चढ़ा दिया गया। यह बहुत सम्भव है कि आज उसके विचारो से दुनियाँ को लाभ पहुँचता। उसे मृत्यु दंड देकर सरकार ने बुरा किया। इसी प्रकार प्रत्येक युग में कितने ही मनुष्य अपने विचारों को स्पष्ट करने से वंचित कर दिये जाते हैं। उस समय उन विचारो से लाभ भले ही न हो परन्तु भविष्य के लोग उससे लाभ उठा सकते हैं। इटली का महापुरुष गैलिलियो केवल यही कहने पर कि "ज़मीन गोल है" अपने प्राण से हाथ धो बैठा। उस समय उसके कथन मे सचाई भले ही न मालूम पड़ी हो परन्तु बात बिलकुल ठीक थी। सरकार कभी कभी अखबारो पर प्रतिबन्ध लगाकर लेखन की स्वतन्त्रता को छीन लेती है। इससे कितनी ही सच्ची बाते छिपी रह जाती हैं। बहुत सी राय को सरकार ग़लत ठहरा देती है और उसे ज़ाहिर करने से व्यक्ति को रोक देती है। यदि सब नहीं तो उसका अंश ठीक हो सकता है।

क़ानून और स्वतन्त्रता

पैस्कल का कहना है "अत्यन्त स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये घातक है" इसी लिये कानून का प्रतिबन्ध लगा कर स्वतन्त्रता को रोका गया है। प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्रता और रोक ये दोनो कैसे रह सकते हैं। या तो मनुष्य को रोका ही जाय या उसे स्वतन्त्र ही किया जाय। इस प्रकार के विचार वाले क़ानून को एक बन्धन समझते हैं। उनका कहना है कि, "क़ानून का थोड़ा भी बन्धन स्वतन्त्रता का उसी प्रकार सर्वनाश कर देता है जिस प्रकार थोड़ा सा जहर मनुष्य का प्राण हरण कर लेता है। क़ानून और स्वतन्त्रता दोनो साथ साथ नहीं चल सकते। कानून एक दबाव है और स्वतन्त्रता का सम्बन्ध विनय और प्रार्थना से है। क़ानून ने आज तक एक भी महापुरुष पैदा नहीं किया, परन्तु स्वतन्त्रता ने अनेक महापुरुषो को उत्पन्न किया। रोशनी और हवा की तरह स्वतन्त्रता पर रोक नहीं लगाया जा सकता।" व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी मनुष्य इस विचार से सहमत नहीं हो सकता। हीगल का कहना है

"क़ानून के पालन में ही स्वतन्त्रता है।" रोम का विद्वान सिसरो लिखता है "स्वतन्त्रता कार्य करने की वह शक्ति है जिसकी आज्ञा क़ानून द्वारा प्राप्त है।" बात बिलकुल ठीक है। उस स्वतन्त्रता से क्या लाभ जो सार्वभौम नहीं बनाई जा सकती। क़ानून हमारे विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। वे हमारे गुणों का समर्थन और बुराइयो का विरोध करते हैं। रैम्जे म्योर ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता" में यह लिखा है कि "क़ानून और स्वतन्त्रता पाश्चात्य सभ्यता के प्रधान अंग हैं।" दोनों का जीवन साथ साथ मिला हुआ है। क़ानूनो से स्वतन्त्रता की रक्षा होती है और स्वतन्त्र मनुष्य ही क़ानून का पालन कर सकता है।

क्या मनुष्य स्वतन्त्र है?

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। वह अपने कर्तव्यो से बँधा हुआ है। जहाँ अधिकार उसे स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं वहाँ कर्तव्य फिर उसे बन्धन में जकड़ देते हैं। अधिकार और कर्तव्य के चक्कर मे मनुष्य पड़ा रहता है। पूर्ण स्वतन्त्रता, जो जंगली स्वतन्त्रा से कहीं ऊँची चीज़ है, एक स्वप्न है जो इस संसार मे पूरा नहीं हो सकता। राजनैतिक तथा सामाजिक बन्धन मनुष्य के मस्तिष्क को एक विशेष मार्ग पर ले चलते हैं। सारा वायुमंडल ऐसा बना दिया जाता है कि एक ही दृष्टि कोण से मनुष्य चीज़ो को देखने लगता है। जो अपना दृष्टि कोण बदलता है और कोई नई बात कहता है तो सरकार और समाज उसे रोकते हैं। वह अपराधी और पागल करार दिया जाता है। महात्मा गांधी, जो संसार में सबसे बड़े जीवित महापुरुष हैं अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करने में आज असमर्थ हैं। इसके दो कारण हैं। सरकार उन्हे इसकी पूरी स्वतन्त्रता नहीं देती और समाज भी उनके आदर्शों को नहीं समझ पाता। फिर कैसे कहा जाय कि मनुष्य स्वतन्त्र है। सामाजिक परिपाटियाँ, राजनैतिक वातावरण और धार्मिक कठिनाइयाँ उसकी स्वतन्त्र विचार धारा में चट्टान की तरह बाधक होते हैं। आज से १० बीस वर्ष पहले कोई ब्राह्मण यह नही कह सकता था कि चमार का छुआ भोजन करना चाहिये। ब्राह्मण जाति उसे इसकी स्वतन्त्रता नही दे सकती थी।

मनुष्य वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह परिपाटियो का गुलाम

नहीं है। सरकारी क़ानून उसकी स्वतन्त्रता में उतनी बाधा नहीं डालते हैं जितने कि सामाजिक बन्धन। जो अपने आप को जितना इनसे ऊपर उठा पाता है वह उसी दर्जे तक स्वतन्त्र है। रेल किसी को भी यात्रा करने से नहीं रोकती परन्तु आर्थिक कठिनाई और धार्मिक रूढ़ि अनेक व्यक्तियो को रेल यात्रा से वंचित कर देती है। मनुष्य की परिस्थिति भी उसकी स्वतन्त्रता मे बाधक होती है। रोटी की चिन्ता मे पड़ा हुआ मनुष्य बड़ी बड़ी बातो को नहीं सोच सकता। मानसिक कमजोरियाँ सबसे बड़ी बाधायें है। जो शराबी है वह ज्ञान की बाते पसन्द नहीं कर सकता। उसकी कमजोरी उसे इस बात की स्वतन्त्रता नही देती कि वह कही भी रह कर आत्म-उन्नति कर सके। शराब की दूकान उसके पास रहनी चाहिये। शारीरिक त्रुटियो के कारण भी मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छाओ से वंचित हो जाता है। जिसकी टांग टूट गई है वह बद्रीनाथ की यात्रा कदापि नहीं कर सकता चाहे उसकी इच्छा कितनी ही प्रबल क्यो न हो। अशिक्षित मनुष्य इच्छा रखते हुए भी कोई नौकरी नही प्राप्त कर सकता। जब मनुष्य के ऊपर इतने बन्धन है तब कैसे कहा जाय कि वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अपनी उन्नति के लिये तो सभी स्वतन्त्र हैं; परन्तु अपनी परिस्थिति के अनुसार। इस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्रता चारो ओर से घिरी हुई है। परन्तु उसकी शक्ति अनन्त है। वह अपनी परिस्थिति का दास नही है। यदि वह अपने आप को पहचान ले तो वह स्वतन्त्र हो सकता है।

समानता

समानता स्वतन्त्रता की छोटी बहन है। अमेरिका के 'स्वतन्त्रता-पत्र' मे दोनो का प्रयोग किया गया था। आदर्श नागरिकता के लिये समानता अत्यन्त आवश्यक है। सभी वर्तमान राज्य अपने नागरिको को एक दृष्टि से देखते हैं। यदि इस प्रकार की समानता न हो तो लोग स्वतन्त्रता का अनुभव नहीं कर सकते। जो राज्य सबको समान अवसर नहीं देता और जिसका न्याय समानता पर निर्भर नही होता वह राज्य स्थिर नहीं रह सकता। समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि सबके पास बराबर सम्पत्ति हो और सभी समान शिक्षित हो। यह बात स्वभाव के विरुद्ध है कि सबके विचार समान हो। सभी एक समान बुद्धिमान और पराक्रमी नहीं हो

सकते। प्रकृति में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। इसीलिये समानता से हमारा तात्पर्य कुछ और है। प्रकृति में भी एक समानता है। प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु सुन्दर होती है, सबका कोई न कोई उपयोग है, सबको एक समान रोशनी और हवा मिलती है। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सबके लिये खुली हुई है। सूर्य की किरणे सबको गर्मी पहुँचाती हैं। अरस्तू के कथनानुसार "सच्ची समानता मित्रता में निहित है।" समानता का अर्थ है कि राज्य सबको एक समान समझे। सबको अपनी उन्नति का समान अवसर दे। एक ही अपराध के लिये वह धनी के लिये कुछ और ग़रीब के लिये कुछ और दंड का विधान न बनावे। जाति, रूप रंग के कारण किसी का पक्षपात न करे। सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखे। व्यक्तित्व का समान आदर करे। किसी वर्ग अथवा सम्प्रदाय को विशेष अधिकार न दे। सभी शासन प्रबन्धों में यह बात स्पष्ट कर दी जाय कि कानून की दृष्टि में प्रजा एक है।

समानता सम्बन्धी कुछ भ्रम

जिस वस्तु का जितना मूल्य है वह उतने पर बिकेगी। मिट्टी और सोना एक भाव नहीं बिक सकते। इसी तरह समाज में सभी मनुष्य एक सा उपार्जन नहीं कर सकते। जो मज़दूरी एक घास काटने वाले को मिले वही एक प्रोफ़ेसर को दी जाय—यह किसी भी दृष्टि से न्याय संगत नहीं है। मनुष्य की योग्यता और उसकी उपयोगिता का भी ध्यान रखना होगा। यदि ऐसा न किया जाय तो सभी लोग क्यों परिश्रम करके विद्याभ्यास करेंगे। वे कुछ भी काम कर दिया करेंगे और एक सी मज़दूरी लेंगे। यदि किसी राज्य में काने अधिक हों तो सबको समान करने के लिये राज्य सबकी एक आँख तो नहीं फोड़ सकता। राज्य या समाज यह भी नियम नहीं बना सकता कि सब लोग बराबर भोजन करें और एक सी पोशाक पहनें। शिक्षा में भी यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि सबको इन्ट्रेंस पास करना होगा। मान लीजिये कोई बीस बार इन्ट्रेंस में फेल होता है तो क्या सरकार उसे राज्य से बाहर निकाल देगी? इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि समानता का तात्पर्य समान अवसर को छोड़ कर और कुछ नहीं है।

समानता के मुख्य ६ भेद किये जा सकते हैं :—

शारीरिक समानता, आर्थिक समानता, राजनैतिक समानता, सामाजिक समानता, सांस्कृतिक समानता और नैतिक समानता। इनके बिना कोई भी राज्य उन्नति नहीं कर सकता।

शारीरिक समानता—

१—राज्य का यह आदर्श होना चाहिये कि वह प्रजा की शारीरिक उन्नति का इतना ध्यान रक्खे कि उनमें शक्ति, स्वास्थ्य और सौन्दर्य में अधिक से अधिक समानता हो। किसी राज्य में रोगियों की संख्या यदि अधिक है तो इससे यही सूचित होगा कि प्रजा की शारीरिक उन्नति पर ध्यान कम दिया जाता है। अंधे, लूले, लंगड़े, बहरे—इनका समाज में सर्वथा निरस्कार किया जाता है। राज्य इनकी व्यवस्था करे। इनकी आवश्यकतानुसार व्यवसाय निकाल कर इन्हें भी उन्नति का उचित अवसर दे। प्रजा के शारीरिक बल में अधिक विषमता होने से निर्जीव और निरुत्साही व्यक्तियों की संख्या बढ़ने लगती है। हमारे देश में शारीरिक समानता का अवसर सबको समान नहीं मिलता है। आर्थिक विषमता के कारण बहुत से लोग भरपेट भोजन तक नहीं कर पाते हैं। उनका शरीर दुबला पतला होता है और अपने अन्दर वे एक प्रकार का छोटापन महसूस करते हैं। यदि समाज में थोड़े ही से लोग मोटे ताज़े बने रहें तो उनके विलासी जीवन का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर बहुत ही बुरा होगा। जिस प्रकार शासन व्यवस्था में प्रजातन्त्रवाद सबसे उपयुक्त माना गया है उसी प्रकार शारीरिक उन्नति में प्रजातन्त्रवाद होना चाहिये। हमारा तो यह सिद्धान्त होना चाहिये कि हम किसी को भी राज्य में कुरूप और कमजोर न देखें। यूनान में स्पार्टा नगर का यही सिद्धान्त था। स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

आर्थिक समानता

२—आर्थिक समानता का उद्देश्य यह है कि लोगों की आमदनी और सम्पत्ति समान कर दी जाय। समाजवादियों का यही सिद्धान्त है। इंगलैंड के राजनीतिज्ञ लास्की का कहना है कि आर्थिक समानता का तात्पर्य यह है कि राज्य मे सबको समान सुविधायें और अवसर दिये जायँ। लार्ड ब्राइस, जो प्रजातन्त्र-

वाद के पूरे पक्षपाती हैं, अपनी "वर्तमान प्रजातन्त्र वाद" नामक पुस्तक में लिखते हैं "प्रजातन्त्र वाद का आदर्श आर्थिक समानता नहीं है। वह तो एक प्रकार की शासन व्यवस्था है और उसका यह मतलब नहीं है कि वह सम्पूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था को बदल दे।" इस प्रकार आर्थिक समानता पर भिन्न भिन्न विचार हैं। राज्य का यह धर्म है कि वह सबकी रोज़ी की व्यवस्था करे। सबको कम से कम इतनी मजदूरी जरूर मिलनी चाहिये जिससे वह अच्छी तरह अपने कुटुम्ब का भरण पोषण कर सके। आधुनिक पूँजीवाद आर्थिक समानता में बहुत बड़ा बाधक है। एक ओर तो लोग बड़े बड़े महलो में रह कर विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं और दूसरी ओर कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें परिश्रम करने पर भी भर पेट भोजन नहीं मिलता है।

अत्यन्त ग़रीब नैतिक पतन का कारण है। राज्य को चाहिये कि आर्थिक विषमता को अधिक से अधिक दूर करे। पूँजीवाद राज्य को धनी ग़रीब दो वर्गों में विभाजित कर देता है। डिज़रेली इन्हें दो राष्ट्र कह कर पुकारता है। धन एक शक्ति है। जिसके पास यह शक्ति रहती है वह सम्पूर्ण शक्तियों को धीरे धीरे प्राप्त कर लेता है। आधुनिक भौतिकवाद के युग में धन का स्थान और भी बढ गया है। जिसके पास धन है वह राजनीति और समाज दोनों पर अधिकार किये हुये है। बेकारी और गरीबी की भयंकरता पूँजीवाद को और भी कलंकित कर रही है। इसे दूर करने का एक ही उपाय है। वह यह है कि धनिक वर्ग से अधिक से अधिक कर लेकर तरह तरह के कारोबार बढ़ाये जायें ताकि बेकारी और गरीबी का प्रश्न दूर हो जाय। इससे आर्थिक समानता भी होगी और राज्य की उत्पादन शक्ति भी बढ़ेगी। ज़िनकी रहन सहन बिलकुल गिर गई है वे भी ऊपर को उठेंगे।

सांस्कृतिक समानता

३—प्रत्यक देश की अलग अलग संस्कृति है। उसकी रक्षा के लिये हर देश में शिक्षा आदि का प्रचार किया जाता है। शिक्षा से ही नागरिकता की उत्पत्ति होती है। नागरिक अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान शिक्षालयो में ही प्राप्त करता है। शिक्षा से ही चरित्रबल की उन्नति होती है। इसलिये शिक्षा प्राप्ति का

सबको समान अवसर मिलना चाहिये। जिस प्रकार हवा और पानी सबको ही मिलते हैं और लोग अपनी इच्छानुसार अपना स्वास्थ्य ठीक कर सकते हैं उसी प्रकार शिक्षा भी सबको खुली होनी चाहिये। ग़रीबी तथा किसी अन्य कारण वश किसी को वंचित नहीं करना चाहिये। सभ्यता की सबको ज़रूरत है। जब तक मनुष्य को संस्थाओ से वंचित रक्खा जायगा तब तक वह अपनी संस्कृति का पुजारी नहीं बन सकता। बहुत से लोग दूसरे धर्मों को इसी लिये ग्रहण कर लेते है कि उन्हें अपने धर्म का ज्ञान नहीं होता। यदि होता तो उहें धर्म बदलने की कोई आवश्यकता न होती, क्योकि धर्म सभी अच्छे हैं। ऊँची से ऊँची शिक्षा सभी लोग नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु किसी ख़ास हद तक सबको शिक्षित किया जा सकता है।

शिक्षा के अतिरिक्त सभी नागरिकों को इस बात की ट्रेनिंग मिलनी चाहिये कि वे दिमाग़ तथा हाथ दोनों से काम कर सकें। शिक्षित वर्ग आज कल शारीरिक परिश्रम को पाप समझता है। सभी देशों मे शिक्षित और अशिक्षित दो वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। इससे उस देश की संस्कृति का ह्रास होता है। दिमाग़ से काम करने वाले मज़दूरों के मूल्य को नहीं समझते हैं। उनकी समझ में शारीरिक परिश्रम का कोई मूल्य नही है। इससे समाज में एक दूसरे के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। बड़े बड़े दिमाग़ियों को तो 'विद्या का मास्टर' और "विद्या का डाक्टर" आदि उपाधियाँ दी जाती है। उन्हे हाथ से एक गिलास पानी तक लेने का अवसर कम मिलता है। परन्तु बिचारे मज़दूरों के लिये, चाहे वे कितने भी परिश्रमी क्यो न हो, कोई भी उपाधि नहीं है। कुछ विद्वानो मे दिमाग़ी शक्ति और शारीरिक परिश्रम दोनों पाया जाता है। उनसे किसी देश की सांस्कृतिक समानता मे बड़ी सहायता मिलती है। थोरो एक बहुत बड़ा लेखक और आदर्शवादी था परन्तु साथ ही साथ वह माली का भी काम करता था, पेंसिल बनाता था और अपना कपड़ा अपने आप धोता था। महात्मा गाँधी शारीरिक परिश्रम को उतना ही महत्व देते हैं जितना दिमाग़ी उन्नति को। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि शिक्षा का आधार शरीर श्रम को ही बनाना चाहिये। इसी से

लोगों में प्रेम और सच्ची सभ्यता की वृद्धि होगी और साथ ही समानता का राज्य होगा।

४—राजनैतिक अधिकार के अन्तर्गत इसका वर्णन किया गया है। प्रत्येक नागरिक को वोट देने का समान अवसर मिलना चाहिये। सरकारी नौकरी प्राप्त करने में सब को बराबर अधिकार होना चाहिये। अधिकार और कर्तव्य में राज्य की ओर से कोई भेद भाव नहीं होना चाहिये। किसी वर्ग अथवा जाति को कोई भी विशेष सुविधा नहीं मिलनी चाहिये। राज्य तो सब की भलाई के लिये है। उसकी व्यवस्था में सब का हाथ होना चाहिये। शासन में भाग लेने से उन्हीं को वंचित किया जाय जो सर्वथा अयोग्य हों। राजनीति जब थोड़े से लोगों के हाथ की कठपुतली हो जाती है तो राज्य में असन्तोष बढ़ता है। इससे तरह तरह की बुराइयाँ फैलती हैं और प्रसन्नता का अभाव होने लगता है। राजनैतिक संगठन सब से श्रेष्ठ और दृढ़ संगठन माना गया है। यदि उसकी शक्ति समानता को जीवित नहीं कर सकती तो और कौन कर सकता है। वह स्वयं समानता को स्थान देकर औरों से इसकी रक्षा की आशा करे।

राजनैतिक समानता

५—समाज में नीच ऊँच, धनी ग़रीब का प्रश्न जब तक रहेगा तब तक वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग को विशेषाधिकार देना उचित नहीं है। भारतीय समाज में सामाजिक समानता का सर्वथा अभाव है। जाति पाँत के कारण लोग एक दूसरे का छुआ भोजन तक नहीं करते हैं, कुओं से पानी तक नहीं निकालने देते हैं। छोटी जाति के लोग बड़ी जाति के सामने चारपाई पर नही बैठ सकते। धार्मिक रसम-रवाजों को भी थोड़े ही से लोगों को करने की आज्ञा दी गई है। अब यह भेद-भाव दूर हो रहा है। इस सामाजिक समानता के अभाव का कारण बहुत कुछ आर्थिक विषमता है। धर्म का कट्टरपन भी समाज को विभाजित किये हुये है। क़ानून द्वारा यह समानता नही लाई जा सकती। सामाजिक सुधारों द्वारा धीरे धीरे इसे करना होगा। इसकी पूर्ति तभी होगी जब हम एक दूसरे को अपना मित्र समझें,

सामाजिक समानता

उसके साथ उठे बैठें और खान-पान में कोई भेद भाव न रक्खें। सबको यह अधिकार होना चाहिये कि वे सभाओं में बैठ सकें और भाषण दे सकें। वर्ण व्यवस्था सामाजिक समानता में बाधक है। जब लोगों के अन्दर यह भाव आ जायगा कि सभी मनुष्य बराबर हैं और रूप रंग अथवा धन के कारण उन्हें छोटा बड़ा समझना भूल है, तभी समानता की मर्यादा बढ़ेगी। किसी पेशे को नीच समझना मनुष्य की कमजोरी है। भंगी को हम नीच समझते हैं लेकिन उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। वह भी मनुष्य है और हमारे समाज का सबसे आवश्यक अंग है। फिर उसे छोटा हम क्यों समझते हैं? राष्ट्रीयता के विकास में सामाजिक समानता अपने आप आती जायगी। विज्ञान की उन्नति इसमें बहुत बड़ी सहायता कर रही है।

नैतिक समानता

६—चरित्र की उन्नति के बिना मनुष्य का विकास नहीं हो सकता। इसलिये इसे प्राप्त करने का सबको एक समान अधिकार है। सभी गुणों का प्रचार नागरिकों में एक समान होना चाहिये। केवल थोड़े से आदर्शवादी पुरुषों से पूरे समाज की उन्नति नहीं हो सकती। आवश्यकता तो इस बात की है कि सभी निःस्वार्थी हों, सभी उद्यमशील हों। सबके अन्दर बुराई-भलाई पहचानने की शक्ति हो। एक ओर तो बड़े बड़े साधु महात्मा हों और दूसरी ओर पापी और अत्याचारी हों—जिस समाज मे इस प्रकार के लोग पाये जाते हैं वहाँ सामाजिक विकास की सम्भावना अधिक नहीं की जा सकती। आज कल नागरिकों में बड़ा ही अन्तर दिखाई पड़ता है। कुछ तो बहुत ही सुशिक्षित और सभ्य हैं और कुछ ऐसे है जो मूर्ख और असभ्य हैं। दोनों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। उनके मेल की सम्भावना कभी हो सकती है? कदापि नहीं। जब तक मनुष्य की भीतरी शक्तियाँ एक न होंगी तब तक बाहरी समानता स्थापित नहीं हो सकती। जैसी मनुष्य की रहन-सहन होती है वैसे ही उसके विचार बनते हैं। जब विचार एक होंगे तभी मेल की आशा हो सकती है। इसलिये चारित्रिक शिक्षा आरम्भ से ही सबको समान रूप से दी जाय ताकि उनके विचार एक मार्ग पर चलने लगें।

समाजवाद की परिभाषा निश्चित नहीं है। कहा गया है कि जितने समाजवादी हैं उतने ही प्रकार का समाज-वाद भी है। परन्तु एक बात सब मे पाई जाती है। वह है आर्थिक समानता। समाजवाद का उद्देश्य है कि उत्पादन शक्ति पर सरकार का अधिकार हो और उत्पत्ति पर सम्पूर्ण प्रजा का समान अधिकार हो। व्यक्तिगत लाभ से पूँजीवाद की वृद्धि होती है, इसलिये इसे दूर कर देना होगा। सबकी आमदनी बराबर हो और किसी पेशे को बड़ा मान कर उस पर अधिक मजदूरी न दी जाय। चीज़ों के मूल्य मे समानता हो। मनुष्य मात्र मे किसी प्रकार का भेद भाव न किया जाय। सभी मनुष्य बराबर हैं इसलिये धनी गरीब का अन्तर ठीक नहीं है। समाजवाद यहाँ तक कहता है कि सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयों की जड़ विषमता है। आर्थिक, आध्यात्मिक, दिमाग़ी और शारीरिक सभी प्रकार की समानता की आवश्यकता है। कोई वजह नही है कि शारीरिक परिश्रम करने वाले को उतनी ही मजदूरी न दी जाय जितनी एक दिमाग़ी काम करने वाले को दी जाय। समाज में थोड़े से लोगो का राज्य है। वे अपनी भलाई के लिये ग़रीबो की कमाई का अपहरण करते है। न्याय और नीति दोनो से यह अनुचित है कि कोई धनी हो और कोई ग़रीब। इसीलिये समाजवाद समानता का प्रतिपादन करता है। इसे आर्थिक प्रजातन्त्रवाद कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

समानता और समाजवाद

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजवाद के अन्दर समानता का काफी अंश मौजूद है। वह सभी प्रकार की विषमताओ को दूर कर मनुष्य-समाज मे एक न्याय, एक धर्म, एक विचार तथा एक परिवार की भावना को जागृत करना चाहता है। कार्य रूप में इसका सेवन भले ही न हो सके, परन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से समाजवाद कोई बुरी चीज नही है। जिसे मनुष्य मात्र से प्रेम है और जिसके अन्दर सच्ची दया है उसके लिये विषमता काल रूप है। वह समाज की प्रसन्नता को निगलजाने पर तुला हुआ है। गरीब भी मनुष्य है और धनी भी। यह संसार किसी एक का नही है। यह सबका है और किसी का भी नहीं है। अमीरी, ग़रीबी, निचाई, ऊँचाई का भाव समाज की बनाई हुई चीजे हैं।

कोई ग़रीब जन्म नहीं लेता और न कोई हीरे जवाहर लेकर पैदा होता है। सभी ख़ाली हाथ आते है और ख़ाली हाथ जाते हैं। तब फिर सामाजिक भेद-भाव से मनुष्य की उन्नति में बाधा क्यों डाली जाय ?

समानता और अध्यात्मवाद

जितनी समानता अध्यात्मवाद मे पाई जाती है उतनी कहीं और नहीं पाई जाती। प्राणीमात्र एक ईश्वर की सन्तान है ; सभी एक प्रकार की वायु सेवन करते हैं ; एक ही चन्द्रमा और एक ही सूर्य सब को शीतल और उष्ण करते हैं। आत्मा एक है, वह अजर और अमर है। धनी-ग़रीब, बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबमे एक ही ईश्वर का अंश है। सारा संसार एक ब्रह्म की रचना है और एक ही विष्णु भगवान इसका भरण-पोषण करते तथा एक ही शंकर इसका विनाश करते हैं। स्त्री-पुरुष में एक ही आत्मा है। सभी माया के दास हैं, और जीवन मरण के बन्धन से बँधे हुये है। परमात्मा की दृष्टि मे न कोई नीच है और न कोई ऊँच है। उसे तो सभी समान हैं। उसकी दृष्टि में झोपड़ी और महल में कोई भेद नहीं है। समय के प्रवाह मे दोनों का विनाश होगा। धन और बुद्धि के कारण छोटे बड़े का भेद आध्यात्मिक दृष्टि से ग़लत है। एक आध्यात्मिक पुरुष सबको समान समझता है। उसे चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीव बराबर हैं।

अध्याय ५

सामाजिक-जीवन

मनुष्य का स्वभाव — समाज के विभिन्न अंग — सामाजिक जीवन की आवश्यकता — कुटुम्ब — जाति — ग्राम — देश — आर्थिक समुदाय — धार्मिक समुदाय — सांस्कृतिक समुदाय — व्यावसायिक समुदाय — व्यावसायिक समुदाय का सिद्धान्त — सेवक मण्डल — मनोविनोद शालायें — राज्य — समुदायों की सफलता — समाज और समुदाय ।

" मनुष्य को मनुष्य से बढ़कर कोई लाभदायक वस्तु नहीं है ।"

मनुष्य का स्वभाव

स्वभाव से ही मनुष्य एक सामाजिक जीव है । किसी एकान्त वातावरण में थोड़े समय तक वह भले ही रह ले, परन्तु समस्त जीवन वहीं व्यतीत करे यह सर्वथा असम्भव है । अन्य जीवों में भी यह गुण पाया जाता है कि वे अपनी हीं जाति की गिरोह में रहना चाहते हैं । एकान्त जीवन उन्हे भी प्रिय नहीं है । मनुष्य सभी जीवों मे सबसे कमजोर है । न तो उसके पास हाथी की तरह मोटे मोटे बाल और चमड़े हैं ताकि वह अपनी रक्षा कर सके; और न उसके शरीर पर साही की तरह काँटों का जाल है । उसका शरीर दुर्बल और कोमल है । कोई भी जंगली जीव क्षण मात्र मे उसका काम तमाम कर सकता है । इसी भय से उसका यह स्वभाव हो गया है कि वह अकेले जीवन नहीं व्यतीत कर सकता । जिस समय मनुष्य जन्म लेता है उस समय उसकी माता उसका पालन-पोषण करती है । ज्यों ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह लोगों की रहन-सहन की नकल करने लगता है, उनकी बोली सीखता है और वस्तुओं के नामों से परिचित होने लगता है । उसकी आवश्यकता की पूर्ति अन्य मनुष्यो द्वारा की जाती है । कुछ और बढ़ने पर वह स्कूल जाता है । वहाँ शिक्षा ग्रहण कर अपनी बुद्धि का विकास करता है । शिक्षा समाप्त होने पर उसकी बुद्धि कार्य रूप में प्रगट होती है । उसके अन्दर यह

अभिलाषा उत्पन्न होती है कि वह समाज मे कुछ करे। इस विचार से प्रेरित हो वह समाज का कीड़ा बन जाता है। अन्त में उसकी मृत्यु भी समाज में होती है और मरने के पश्चात् भी उसके कुटुम्बी उसके अन्तिम संस्कार के लिए वाध्य होते हैं।

सामाजिक होने के अतिरिक्त मनुष्य स्वभाव से कर्मशील है। कर्म के बिना एक क्षण भी वह जीवित नहीं रह सकता। उसकी इन्द्रियाँ प्रतिक्षण अपने काम करती रहती हैं। मस्तिष्क समस्त इन्द्रियों का स्वामी है। वह भी कार्य के बिना नहीं रह सकता। यही कार्य करने की शक्ति मनुष्य को वाध्य करती है कि वह अन्य मनुष्यो तथा समुदायों से अपना सहयोग प्राप्त करे। कर्त्तव्यहीन पुरुष को इस सहयोग की भले ही आवश्यकता न हो, परन्तु कार्यशील व्यक्ति अपने आपको इनसे अलग नहीं कर सकता। कुटुम्ब, स्कूल, मन्दिर, जाति, सभा, बाज़ार, आदि ऐसे समुदाय हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। यदि वह इनसे सम्पर्क न रक्खे तो करे क्या? भोजन तो उसे करना हीं पड़ेगा फिर वह बाज़ार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कैसे कर सकता है? वह मूर्ख भी नहीं रह सकता, इसलिये स्कूल भी उसे जाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार उसकी सभी आवश्यकताये समाज मे ही पूरी हो सकती हैं। इसीलिये जन्म से मृत्यु तक उसे समाज मे रहना पड़ता है। सामाजिक और व्यक्तिगत विकास मे भेदभाव मिटता जाता है। समाज में हीं मनुष्य अपने व्यक्तित्व का भी विकास करता है। जब समाज से उसे इतने लाभ होते हैं तो वह इसे क्यो छोड़े? यदि उसने अपने स्वभाव को सामाजिक बना रक्खा है तो उसकी कोई हानि नहीं है।

समाज के विभिन्न अंग

'समाज' शब्द को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहिले इसके अंगों का ज्ञान प्राप्त किया जाय। विभिन्न अंग हम तभी समझ सकते हैं जब व्यक्ति के सामाजिक जीवन का इतिहास जाने। मनुष्य अकेले जन्म लेता है। उसकी प्रगति कैसे आरम्भ होती है, और किस प्रकार उसकी आवश्यकताये उसे तरह तरह के संगठन की ओर ले जाती हैं—इसे समझने के लिये मनुष्य की आवश्यकताओं को जानना होगा। सामाजिक जीवन के पहिले

भी कोई जीवन रहा होगा। कुछ लोग इसे पूर्व ऐतिहासिक काल कहते हैं और कुछ इसे जंगली और असभ्य काल कह कर सूचित करते हैं। हमे यहाँ पर पूर्व ऐतिहासिक काल का वर्णन नही करना है। इसका उचित स्थान राज्य की उत्पत्ति के वर्णन मे आयेगा। मनुष्य की जितनी आवश्यकतायें हैं समाज के उतने ही अंग हैं। जन्म से मृत्यु तक उसकी आवश्यकताओ का कही अन्त नही है। इसलिये समाज के अंग भी अनन्त हैं। जन्म लेते ही इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि बच्चे का पालन-पोषण किया जाय, उसे उचित शिक्षा दी जाय। और सभी प्रकार से उसकी रक्षा का उपाय किया जाय। कुटुम्ब से बढ़कर कोई अन्य संगठन इस कार्य को नही कर सकता है। इसलिये समाज का प्रथम और सबसे आवश्यक अग कुटुम्ब है।

कौटुम्बिक जीवन में ही मनुष्य अपनी पूर्ण उन्नति नही कर सकता। उसे शिक्षा मिलनी चाहिये तथा अन्य भी रसम-रवाज का ज्ञान होना चाहिये तब उसे स्कूल की आवश्यकता होती है। केवल एक कुटुम्ब अपना घर बना कर एकान्त मे नहीं रह सकता। उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब और भी कुटुम्ब आस पास रहे। इसलिये गाँवो और शहरों की आवश्यकता होती है। गाँव और शहर तब तक सुरक्षित नहीं रह सकते जब तक इनमे जातीय तथा धार्मिक संगठन न हों। इस कमी को पूरा करने के लिये पंचायतें और धार्मिक संस्थायें उत्पन्न होती हैं। मनुष्य की जीविका का प्रश्न सबसे आवश्यक है। इसकी सुविधा के लिये आर्थिक उपाय ढूँढ़ने पड़ते है और बाजारों का निर्माण होता है। किसी खास दायरे में सब लोग मिल जुल कर रहें और एक दूसरे को अपना भाई समझे इसके लिये राष्ट्रीय भावना की जागृति होती है और राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। सभी व्यक्ति और समुदाय अपनी सीमा के अन्दर अपने अपने कर्त्तव्य का पालन करें और एक दूसरे की उन्नति मे बाधक सिद्ध न हो, इसकी देख-भाल के लिये राज्य की उत्पत्ति होती है। सरकार का संगठन होता है। इसी प्रकार मनुष्य की आवश्यकताये प्रतिक्षण नये नये संगठन का निर्माण करती रहती हैं। अभी कुछ विद्यार्थियो को इस बात की आवश्यकता हो कि अमुक विषय पर विशेष

चर्चा की जाय तो वे एक संगठन बना लेंगे। सभी संगठनों का वर्णन करने के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी। इसलिये हम यहाँ पर मुख्य मुख्य समुदायो और व्यक्ति से उनका सम्बन्ध—इस पर विचार करेंगे। ये समुदाय समाज के विभिन्न अग हैं। इन्हीं के मेल से राज्य की तथा किसी राष्ट्रीय समाज की स्थापना होती है।

समाज के अंग दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो मनुष्य को बने बनाये मिल जाते हैं। इन्हे स्वाभाविक अंग कहते है। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही इनका सदस्य बन जाता है। कभी न कभी इनका भी निर्माण किया गया होगा किन्तु इसका ठीक ठीक पता नही चलता। दूसरे प्रकार के अंग वे हैं जो मनुष्य को अपने आप बनाना पड़ता है। विभिन्न देशो मे दोनो प्रकार के संगठन भिन्न भिन्न रूप मे पाये जाते हैं। समय समय पर इनमें सुधार भी होते रहते हैं। स्वाभाविक संगठन भी बदलता रहता है। सम्पूर्ण समाज जब स्थिर नहीं है तो उसके अंग स्थिर कैसे रह सकते हैं। स्वाभाविक समुदायों मे कुटुम्ब, जाति, ग्राम तथा देश मुख्य हैं। मनुष्य के बनाये हुए समुदायो में आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक, सेवक मंडल, मनोविनोद शाला, तथा राज्य मुख्य हैं। इनका अलग अलग वर्णन हम करेंगे। दोनो प्रकार के समुदाय मनुष्य के लिये आवश्यक हैं। इनसे अलग रह कर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

सामाजिक जीवन की आवश्यकता

<u>एकान्त जीवन निष्क्रिय जीवन है</u>। योगी और सन्यासी एकाकी जीवन व्यतीत करते है। वे भी समाज की कम सेवा नहीं करते हैं। उनकी सरलता, निस्पृहता और त्याग से समाज को कम लाभ नहीं होता है। परन्तु एकान्त जीवन इतना कठिन है कि सब लोग इसे व्यतीत नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य एकान्त मे भयभीत हो सकता है और अपने चरित्र को खो सकता है। इसी लिये समाज की आवश्यकता पड़ी है कि साधारण मनुष्य क्रमशः अपनी उन्नति करते करते बड़ा बन सके। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन सरस और स्वाभाविक है। मनुष्य सुखपूर्वक अपना जीवन समाज मे हीं व्यतीत कर सकता है। मनुष्य के

अन्दर दया, दान, धर्म, शील, सरलता आदि गुण होते हैं। किसी मे इन गुणो की अधिकता होती है और किसी में इनका अभाव होता है। एक दूसरे के सम्पर्क से मनुष्य अपनी उन्नति करता है। सामाजिक टीका टिप्पणी उसके चरित्र को बनाती है। गरीब, दुखी तथा रोगी व्यक्तियो की सेवा समाज मे ही हो सकती है। मनुष्य पर अनेक दैवी आपत्तियाँ आती रहती हैं। यदि इनके निवारण के लिये सेवा मंडल आदि न बनाये जायँ तो उसकी दशा बड़ी ही शोचनीय होगी। आत्म उन्नति मानव जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। सामाजिक जीवन में मनुष्य स्वार्थ आदि बुराइयों का परित्याग कर अपने अन्दर समन्वय की भावना का संचार करता है। एक दूसरे के उदाहरण से अनेक सेवक और त्यागी पैदा होते रहते हैं। 'सभ्यता' शब्द सामाजिक जीवन के पश्चात् बनाया गया। हम मनुष्य को इसीलिये सभ्य कहते हैं कि वह शान्तिपूर्वक मिलजुल कर अपनी तथा औरों की उन्नति करता है। बुराई को हटाकर भलाई का संगठन करना सामाजिक जीवन का उद्देश्य है। इसी से मनुष्य मनुष्य बन सकता है।

कुटुम्ब

सामाजिक जीवन का प्रधान अंग कुटुम्ब है। पृथ्वी पर कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ कुटुम्ब का संगठन न हो। जंगली जीवन मे कुटुम्ब की रचना नहीं हुई थी। मनुष्य जंगलों मे रहता था, इधर उधर घूमता था और जंगली पशुओं को मार कर अपना पेट भरता था। झुंड के झुंड मनुष्य साथ साथ रहते थे। जब लोगो ने जंगलो को साफ किया और पशु पालना आरम्भ किया तो उन्हे एक निश्चित स्थान पर रहने की आवश्यकता पड़ी। कृषि आरम्भ हुई। इस प्रकार ग्रामो की स्थापना हुई। ग्रामों में विभिन्न कुटुम्ब बन गये। लोग अलग अलग अपना घर बना कर रहने लगे। माता, पिता, स्त्री-बच्चे एक एक कुटुम्बी हो गये। फिर एक एक कुटुम्ब में जब मनुष्यो की संख्या बढ़ जाती तो उसी में से कई कुटुम्ब बन जाते। आज भी एक कुटुम्ब के लोग दो या अधिक कुटुम्बों में विभाजित हो जाया करते हैं। इसी तरह गाँवों की आबादी बढ़ती गई।

प्रत्येक बच्चा किसी न किसी कुटुम्ब मे जन्म लेता है। माता पिता

के सम्पर्क में आकर वह उनसे बहुत सी बाते सीखता है। यहीं से उसका सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। जो बाते वह बाल्यावस्था मे सीखता है उसका प्रभाव उसके मस्तिष्क पर गहरा पड़ता है। यदि माता पिता योग्य हुए तो बच्चा भी चरित्रवान् होगा। कुटुम्ब बच्चे के लिये एक प्रकार का स्कूल है जहाँ वह सभी बातें सीख सकता है। माता पिता की आज्ञा पालन करके उसे जीवन मे आज्ञा-पालन की शिक्षा मिलती है। जो लड़के अपने माता पिता की आज्ञा का उलंघन करते हैं वे आगे चलकर राजकीय नियमों की भी अवहेलना करते हैं। नियन पालन उन्हे भार मालूम पड़ता है। आज्ञा पालन के अतिरिक्त सयम की भी शिक्षा कुटुम्ब से ही आरम्भ होती है। कोई भी व्यक्ति अपने लड़के को असयमी नहीं बनाना चाहता है। जितना अवसर बालक को अपने कुटुम्ब मे उन्नति करने का प्राप्त होता है उतना किसी अन्य समुदाय मे नहीं। स्वभाव से ही बच्चा अपने माता पिता से प्रेम करने लगता है। माता पिता भी बड़ी ही सख्ती से अपने बच्चे की देखभाल करते हैं। इस सख्ती के अन्दर एक प्रेम का बहुत बड़ा अंकुर छिपा रहता है। वही बच्चा जब सयाना होता है तो अपने कुटुम्ब का स्वामी बनता है। जो कुछ शिक्षा उसने अपने जीवन काल मे प्राप्त की है उसका प्रयोग वह अपने बच्चो पर करता है। इस प्रकार कौटुम्बिक जीवन का चक्र चलता रहता है।

हमारे देश मे कुटुम्ब का मतलब केवल स्त्री और पुरुष से ही नही है। भारतीय कुटुम्ब मे दो दो पीढ़ियों तक के लोग एक ही घर में रहते हैं। उनकी सम्मिलित सम्पत्ति होती है और उनका एक स्वामी होता है। यहाँ पर लड़के को अपने ही माता पिता की आज्ञा का नहीं पालन करना पड़ता है बल्कि उन सब के सम्मान का ध्यान रखना पड़ता है जो उससे आयु मे बड़े हैं। यदि कुटुम्ब ने बच्चे को अपनी इच्छानुसार चलने दिया तो आगे चल कर इसका प्रभाव कुटुम्ब तथा देश के लिये हानिकारक होता है। निस्वार्थ सेवा की इच्छा कुटुम्ब से ही आरम्भ होती है। माता पिता अपने सुख का ध्यान उतना नहीं रखते हैं जितना अपने बच्चे की। प्रकृति ने स्वभाव से ही मनुष्य मे इतनी सहन-शक्ति दी है कि वह अपने बच्चे के लिये सभी प्रकार का कष्ट उठावे। ग़रीब से ग़रीब मनुष्य अपने बच्चे

का उतना ही ध्यान रखता है जितना एक धनी व्यक्ति। दोनों की सहानुभूति एक सी होती है। छोटी छोटी बातों की शिक्षा भी कुटुम्ब से ही आरम्भ होती है। खाना पीना, उठना बैठना, इनका भी एक ढग हुआ करता है। कुटुम्ब को छोड़ कर किसी अन्य समुदाय मे इनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता। इनका सीखना उतना ही आवश्यक है जितना बड़ी बड़ी परीक्षाओं को पास करना। जीवन मे जितनी आवश्यकता इन नियमो की पड़ती है उतनी बड़ी बड़ी बातों की कम पड़ती है।

आर्थिक दृष्टि से कुटुम्ब का महत्व व्यक्ति के लिये सबसे बड़ा है। प्रत्येक कुटुम्ब में सभी प्रकार के लोग होते हैं। कोई अपनी बुद्धि और बल से अधिक पैदा करता है कोई बहुत थोड़ा ही पैदा कर पाता है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो थोड़ा भी नहीं कमा सकते। शारीरिक तथा मानसिक कमजोरियो के कारण वे किसी भी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते। इतना अन्तर होते हुये भी कुटुम्ब में सब का भोजन एक जगह और एक ही समान बनता है। कुटुम्ब का स्वामी इस बात का ध्यान रखता है कि आपस मे किसी प्रकार का भेद भाव न होने पावे। वह स्वयं कष्ट उठायेगा पर औरो का ध्यान रक्खेगा। प्रत्येक कुटुम्ब मे सब के अलग अलग कार्य बँटे होते हैं। सबको पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। फिर भी एक दूसरे से लोग सहमत रहते हैं और हृदय से अपने कार्य मे तत्पर रहते हैं। कोई भी व्यक्ति चाहे वह कितना ही परिश्रमी क्यो न हो, अपनी आमदनी को कुटुम्ब से अलग नही समझता है। यदि कोई मनुष्य कुटुम्ब में रहते हुए खान पान मे किसी तरह का भेद भाव करता है तो सारा समाज उसे बुरा ठहराता है। इसी भय के कारण कौटुम्बिक जीवन मे सर्वत्र एकता और समता दिखलाई पड़ती है। एक दूसरे को कष्ट में सहायता देना, कठिन से कठिन अवसर पर अपने आप को आगे रखना तथा कुटुम्ब के अधिकार के लिये सदैव तत्पर रहना इत्यादि बातो की परीक्षा पहले कुटुम्ब में ही होती है।

शासन की दृष्टि से कुटुम्ब एक प्रकार का राज्य है। जिस प्रकार राज्य में एक राजा होता है, बहुत से नियम होते हैं और सम्पूर्ण प्रजा उनका पालन करती है, उसी तरह प्रत्येक कुटुम्ब का

स्वामी होता है। कुटुम्ब के संचालन के लिये कई नियम होते हैं जिन्हे समस्त कुटुम्ब को पालन करना पड़ता है। कौटुम्बिक जीवन मे ही स्वामी और सेवक का भाव उत्पन्न होता है। यद्यपि ये नियम लिखित नहीं होते फिर भी सभी लोग इनका पालन करते हैं। राज्य की आज्ञा भंग हो सकती है परन्तु कुटुम्ब के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। राजा और प्रजा मे अक्सर भेद भाव उत्पन्न होते रहते हैं परन्तु कौटुम्बिक जीवन में ऐसे अवसर कम आते है। यदि किसी कारण वश कोई कुटुम्ब के नियम को भंग करता है तो बिना किसी दबाव के वह स्वामी के दंड को सहन करता है। इसीलिये कुटुम्ब को राज्य का एक छोटा रूप कहा गया है। जो जो गुण राज्य में दिखाई पड़ते हैं वे सब कुटुम्ब में भी पाये जाते हैं। कुटुम्ब राज्य से बढ़ कर है। यदि प्रत्येक कुटुम्ब अपने अधिकार और कर्तव्य का पालन करे तो राज्य की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। जिस राज्य मे कौटुम्बिक जीवन सुसंगठित नहीं है वहाँ राजकीय नियमो की अवहेलना अधिक होती है, लोगो में प्रेम और सहानुभूति का अभाव होता है। कौटुम्बिक जीवन को नष्ट कर मनुष्य एक बहुत बड़े समुदाय से हाथ धो बैठेगा। जो स्वाभाविकता इस संगठन मे दिखलाई पड़ती है वह किसी भी संगठन मे नहीं दिखलाई पड़ती। किसी कुटुम्ब के लोग उसी समय अपना सम्बन्ध विच्छेद करते हैं जब उन्हे एकता का और कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता। इतने पर भी समाज मे उस कुटुम्ब की कड़ी आलोचना की जाती है जिसमे लोग मिल जुल कर नहीं रहते।

जब कुटुम्ब का इतना बड़ा महत्व है तो इसके संगठन के लिये सभी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। आज कल जो समाज मे उथल पुथल दिखलाई पड़ती है उसका बहुत कुछ कारण हमारे पारिवारिक जीवन का ह्रास है। पाश्चात्य सभ्यता हमारे देश में इतनी अधिक फैल रही है कि हमारे सभी संगठनों और समुदायों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। आज कल स्त्री और पुरुष इन्हीं को लोग कुटुम्ब समझते हैं। कितने ही व्यक्ति विवाह के पश्चात् अपने माता पिता को छोड़ कर अलग हो जाते हैं। उन्हें यह भूल जाता है कि अपने बड़ों के प्रति भी अपना कुछ कर्तव्य है। सांसारिक

सुख के लोभ मे वे स्त्री बच्चों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो इसका कारण हमारी शिक्षा की कमी है। यदि हम कुटुम्ब के महत्व को समझते तो कभी भी उससे अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करते। भारतीय कुटुम्ब आदर्श नहीं है। उसमे दो प्रकार के लोग पाये जाते हैं। एक तो वे लोग जो सभी प्रकार से भारतीय हैं और पुराने विचारों के समर्थक हैं। दूसरे वे जो नवीन विचारो से सहमत हैं और नई रहन सहन के अनुयायी है। इन दोनो मे आज इतना अन्तर दिखाई पड़ता है कि कोई भी कुटुम्ब सुखी नहीं है। इस कमी को दूर करने के लिये प्रयत्न किया जा रहा है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे ही हमारा कौटुम्बिक जीवन हरा भरा दिखाई पड़ेगा।

एक आदर्श कुटुम्ब के लिये बहुत सी चीजो का होना आवश्यक है। शिक्षा इन सब मे प्रधान है। जो कुटुम्ब शिक्षित नही होगा—वह सुखी नही रह सकता। आधुनिक युग विज्ञान का युग है। इससे विपरीत जीवन व्यतीत कर कोई भी व्यक्ति प्रसन्न नही रह सकता। स्वयं कोई वस्तु अच्छी या बुरी नहीं हुआ करती है। प्रत्येक युग मे मनुष्य का दृष्टिकोण बदलता रहता है। एक ही वस्तु जो किसी ज़माने मे बुरी ठहराई गई थी आज अच्छी मानी जाती है। इसी प्रकार मनुष्य को इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वह ज़माने की प्रगति को पहचाने। तभी वह भले और बुरे को पहचान सकता है। जो बात प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है वह कुटुम्ब के लिये भी उतनी ही आवश्यक है। जिस सहानुभूति और सहृदयता की आवश्यकता आज दिखाई पड़ती है उसकी प्राप्ति शिक्षा के बिना नहीं हो सकती। जब तक कुटुम्ब मे शान्ति नही है तब तक सारे समाज मे शान्ति नही रह सकती। कानून और शक्ति शरीर को दबा सकते हैं लेकिन हृदय पर उनका राज्य तब तक स्थापित न होगा जब तक उनके पीछे न्याय की भावना न होगी। शिक्षा से ही न्याय की आशा की जा सकती है। शिक्षित व्यक्ति अपने कर्तव्य का ध्यान रखता है। वह जिस भी कुटुम्ब मे रहेगा नियम का पालन करेगा और दूसरो के अधिकार की रक्षा करेगा। कौटुम्बिक जीवन मे सच्ची एकता तभी रह सकती

है जब सभी व्यक्ति अपने अपने कर्तव्य का ध्यान रक्खें। शिक्षा के बिना इस कर्तव्य का पालन नहीं हो सकता। शिक्षा के अतिरिक्त कुटुम्ब मे परिश्रम की भावना एक समान होनी चाहिये। जिस कुटुम्ब मे अधिक संख्या काहिलों की होगी वह कुटुम्ब दुखी और ग़रीब होगा। किसी बड़े कुटुम्ब में एक दो व्यक्ति बैठकर भले ही जीवन व्यतीत कर लें परन्तु यदि आधे से अधिक व्यक्ति औरों की ही कमाई पर निर्भर रहे तो इसका परिणाम कुटुम्ब और समाज दोनो के लिये बुरा होगा। यद्यपि एक कुटुम्ब मे कोई किसी को कार्य करने के लिये विशेप बाध्य नहीं करता फिर भी न्याय की दृष्टि से बैठ कर भोजन करना उचित नहीं है। जिस कुटुम्ब में इस नियम का पालन नही होता वह कलह का घर बन जाता है। लोगो में अपनापन का भाव आने लगता है। स्वार्थ और अपरिग्रह की बुराई पैदा हो जाती है। सारा कुटुम्ब दुखी होने लगता है।

शिक्षा और कार्य करने की शक्ति के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी कुटुम्ब के लिय अनिवार्य है। बड़ा से बड़ा कुटुम्ब धन के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। सम्पत्ति पारिवारिक जीवन का आधार है। प्रत्येक कुटुम्ब के पास कम से कम इतनी सम्पत्ति जरूर होनी चाहिये जिससे सभी व्यक्तियों का अच्छी तरह से भरण पोपण हो सके। प्रत्येक कुटुम्ब के रहने के लिये एक सुन्दर और सुडौल घर की आवश्यकता होती है। भोजन वस्त्र के अतिरिक्त बच्चों की शिक्षा के लिये कुछ धन की आवश्यकता पड़ती है। विशेष परिस्थितियों के लिये कुछ संयम भी करना पड़ता है। जिस कुटुम्ब के लोग केवल खाने पीने में ही लगे रहते हैं वे अक्सर संकट मे पड़ जाया करते हैं। आदर्श कुटुम्ब में संयम से ही जीवन व्यतीत करना चाहिये। कुटुम्ब मे जितने भी लोग रहते हैं उनका यह धर्म है कि वे सम्मिलित सम्पत्ति इतनी मात्रा में अवश्य कमाये जिससे वे भोजन, वस्त्र तथा शिक्षा के अतिरिक्त कुछ बचा भी सकें। नित्य के जीवन में सेवा और त्याग की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को पड़ती रहती है। जो व्यक्ति कुटुम्ब में इन गुणो को नहीं सीखता वह फिर इन्हें नहीं सीख सकता। व्यक्ति की कमज़ोरियों को छिपाने का जितना अवसर अपने

कुटुम्ब मे मिलता है उतना शायद ही कहीं मिल सके। छोटी छोटी बातों का ध्यान कुटुम्ब मे ही मनुष्य एक दूसरे के प्रति रख सकता है। जो संस्कार कुटुम्ब में एक बार पड़ जाता है वह फिर जीवन भर नही मिटता। अच्छा या बुरा जो भी स्वभाव बाल्यावस्था में बन जाता है वह फिर मुड़ नहीं सकता।

इस प्रकार कुटुम्ब सभी समुदायो में श्रेष्ठ है। जो शिक्षा मनुष्य को कुटुम्ब में मिलती है वह बाहर सम्भव नहीं है। बच्चे की जितनी सेवा सुश्रूषा उसके कुटुम्ब में हो सकती है उतनी और कहीं नहीं। मनुष्य के अन्दर जो बड़े बड़े विचार उत्पन्न होते हैं उनका बीजारोपण कुटुम्ब में ही होता है। कुटुम्ब से अलग मनुष्य का जीवन सराय मे ठहरे हुये यात्रियो की तरह है। कठिन से कठिन परिस्थिति में कुटुम्ब उसका सहायक होता है। जिस प्रकार बालक की असहाय अवस्था मे उसके माता पिता उसका पालन पोषण करते हैं उसी प्रकार वृद्धावस्था मे लड़के बच्चे उनकी देख भाल करते हैं। कुटुम्ब का जैसा सच्चा चित्र भारतीय ग्रामो में दिखाई पड़ता है वैसा संसार के किसी भी कोने मे मौजूद नही है। आर्थिक कठिनाई के कारण उनकी दशा आज शोचनीय है फिर भी उनके अन्दर एक सच्चा प्रेम है, सच्चा संगठन है और सच्ची सहानुभूति है। एकता और समता से उनका जीवन ओत प्रोत है। यद्यपि हमारा शहरी जीवन विदेशी जीवन से काफी प्रभावित होगया है तथापि ग्रामीण कुटुम्ब अभी तक सच्चे भारतीय हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति ग्रामो मे देखने को भी न मिलेगी। जितना ध्यान एक ग्रामीण को अपने कुटुम्ब का होता है उतना अपने निजी सुख का नहीं। उसे यह पूरा विश्वास है कि कुटुम्ब को छोड़ कर कोई दूसरा उसका सहायक नहीं हो सकता। लोग अपने कुटुम्ब में एक दूसरे के लिये जेल यातनाये तक भोगने के लिये तैयार रहते हैं।

जाति

जिस प्रकार सामूहिक जीवन मे कुटुम्ब का प्रमुख स्थान है उसी प्रकार जाति भी एक बहुत बड़े संगठन को प्रदर्शित करती है। जातियाँ कब बनीं और किस प्रकार इनका विकास हुआ यह एक दूसरा विषय है। सामाजिक इतिहास के अन्तर्गत इस विषय पर भली

प्रकार प्रकाश डाला जा सकता है। यहाँ पर हमारा तात्पर्य केवल जातीय संगठन के थोड़े से गुण और दोष प्रकट करना है। प्रत्येक जाति अपना अलग अलग चिन्ह रखती है। जो मनुष्य जिस जाति का रहता है वह अपने चिन्हों का आदर करता है, जैसे प्रत्येक हिन्दू सर पर चोटी रखता है, एक खास तरह की पोशाक पहनता है। विभिन्न प्रान्तों मे खान पान तथा वेश भूषा में थोड़ा अन्तर जरूर दिखाई पड़ेगा। लेकिन सब मे कोई न कोई समता है। सब पर हिन्दू संस्कृति की एक छाप है। सब के जीवन का एक ही इतिहास है। रसम रिवाज भी लगभग एक से है। मुसलमानों मे भी यह एकता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक मुसलमान एक दूसरे को अपना भाई समझता है। सभी एक समय नमाज पढ़ते हैं। और एक ही तिथि पर अपने त्योहार मनाते हैं। इसी प्रकार और भी जातियों में घनिष्ठ एकता के भाव पाये जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति पर गर्व करता है। उसे इस बात का भरोसा रहता है कि अवसर पड़ने पर जाति उसकी रक्षा करेगी। यदि एक जाति का मनुष्य किसी दूसरी जाति द्वारा अपमानित किया जाता है तो सम्पूर्ण जाति उसकी रक्षा करती है। प्रत्येक जाति का एक प्रमुख नेता होता है। सभी लोग उसका सम्मान करते हैं और उसकी आज्ञा मानते हैं।

जाति बहुत से परिवारों का एक संगठन है। जिस प्रकार व्यक्ति की रक्षा कुटुम्ब में होती है उसी प्रकार कुटुम्ब की रक्षा अपने जाति मे रहकर होती है। आजकल प्रत्येक जाति के अन्तर्गत बहुत सी उपजातियाँ उत्पन्न हो गई हैं। उपजातियों के अन्दर भी बहुत से छोटे छोटे टुकड़े दिखाई पड़ते हैं। इन विभिन्न जातियों से लाभ यह होता है कि अलग अलग संस्कृति की रक्षा होती है। किसी खास दायरे में व्यक्ति अपने आप को सुसंगठित समझता है। अपनी जाति के अन्दर वह तरह तरह के संगठन बनाता है और उनके द्वारा अपनी उन्नति करता है। अपना सम्पर्क वह अपनी ही जाति में अधिक रखता है। विवाह शादी, रोटी-बेटी, लोग अपनी ही जाति में कायम रखते हैं। अपने जातीय नियम को तोड़ने में लोग डरते हैं। यदि कोई व्यक्ति इन्हें तोड़ता है तो उसकी जाति उसे दण्ड देती है। जहाँ जातीय संगठन से इतने

लाभ हैं वहाँ कुछ हानियाँ भी हैं। एक जाति का मनुष्य दूसरी जाति वाले को छोटा समझता है। लोगो के अन्दर साम्प्रदायिकता का भाव बढ़ता है। उनका सम्बन्ध व्यापक न होकर एक छोटे से दायरे में घिरा रहता है। जो कुछ भी हो जाति एक स्वाभाविक संगठन है। जैसे कोई व्यक्ति अपना सम्बन्ध विच्छेद कुटुम्ब से नहीं कर सकता उसी प्रकार उसे किसी न किसी जाति का सदस्य रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति जाति पाँति का बन्धन तोड़कर उन्नति कर जाता है, तब भी उसकी जाति वाले उसे अपना समझते हैं। उसे सदैव आदर की दृष्टि से देखते हैं। आजकल जाति पाँति का भेद भाव मिट रहा है, फिर भी इस बात की सम्भावना नहीं पाई जाती कि जातीय संगठन एक दम छिन्न भिन्न हो जायगा। जिस प्रकार विभिन्न समुदाय हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उसी तरह जाति भी करती है। बहुत से व्यक्ति अपनी ही जाति के लिये तरह तरह की सुविधायें देते रहते हैं। विश्व सेवा के भाव से शायद वे इसे नहीं कर सकते परन्तु जाति के नाम पर सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। यदि प्रत्येक जाति अपनी अपनी उन्नति करे और एक जाति दूसरी जाति को छोटा न समझे तो इसका संगठन कुटुम्ब से कम आवश्यक नहीं है।

ग्राम

ऊपर कहा गया है कि कोई भी कुटुम्ब किसी एकान्त स्थान में नहीं रह सकता। रक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि बहुत से कुटुम्ब एक स्थान पर रहें। कुटुम्बो के एक साथ रहने से ही ग्रामों की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक ग्राम पहले थोड़े से कुटुम्बों का एक समूह था। ज्यों ज्यों आबादी बढ़ती गई त्यों त्यों कुटुम्बो की संख्या भी बढ़ती गई। ग्रामो की आवश्यकता अन्य दृष्टियों से भी दिखलाई पड़ती है। मनुष्य की सारी आवश्यकतायें कुटुम्ब मे ही पूरी नही हो सकतीं। इसलिये आवश्यकता पड़ती है कि विभिन्न पेशे वाले कुटुम्ब एक साथ मिल कर रहे। गाँवो मे कोई खेती करता है, कोई गौ पालता है, कोई कपड़े धोता है, कोई बाल बनाता है और कोई लोहार और बढ़ई का काम करता है। यदि ये विभिन्न पेशे वाले न हो तो कोई भी काम नहीं हो सकता। ग्राम एक ऐसा

संगठन है जो स्वतंत्र और स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। वहाँ बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध हो सकता है। उन्हें तरह तरह के व्यवसाय सिखाये जा सकते हैं।

आरम्भ में गाँव स्वावलम्बी और स्वतंत्र थे। प्रत्येक ग्राम का एक मुखिया होता था। सब लोग उसकी आज्ञा मानते थे। ग्राम के सारे झगड़ों को वही निपटाया करता था। उसे प्राण दण्ड देने तक का अधिकार था। प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतायें अपने ही अन्दर पूर्ण हो जाती थीं। सबको अपने परिश्रम के अनुसार उचित मजदूरी मिलती थी। ग्राम की आय का कुछ हिस्सा सरकार को भी दिया जाता था। ग्राम पचायतें ग्रामो का शासन करती थीं। प्रत्येक ग्राम मे एक पचायत होती थी। कई ग्रामो को मिला कर एक अलग पचायत हुआ करती थी। इसका नाम 'मण्डल सभा' था। आज कल ग्राम न तो स्वावलम्बी है और न स्वतंत्र है। ग्रामो की पंचायतें नष्ट हो गई हैं। वहाँ शिक्षा का सर्वथा अभाव है। ग़रीबी के कारण ग्रामीण जीवन दुखमय हो रहा है। न तो वहाँ किसी प्रकार का रोजगार है और न कृषि के लिये उचित साधन ही प्राप्त है। ग्राम कुटुम्ब का एक वृहत् आकार है। जो शिक्षा मनुष्य को अपने कुटुम्ब मे मिलती है वही शिक्षा बड़े पैमाने पर ग्राम मे मिलती है। एक पड़ोसी अपने दूसरे पड़ोसी का सभी प्रकार से ध्यान रखता है। यदि किसी के घर मे आग लगती है तो ग्राम के सभी लोग उसे बुझाते हैं और उसके साथ दुख प्रकट करते हैं। जिस दिन ग्राम मे कोई व्यक्ति मर जाता है उस दिन समस्त ग्राम शोक मनाता है। यदि किसी के घर कोई उत्सव होता है तो सारा गाँव अपनी खुशी प्रकट करता है। यदि कोई दूसरा ग्रामवासी अपने पड़ोस के ग्राम निवासी को दबाता है तो सारा गाँव उसकी सहायता करता है। ग्राम मे रहने वाले सभी कुटुम्ब अपने आपको सर्वथा सुरक्षित समझते हैं। ग्राम की सम्पूर्ण सम्पत्ति सम्मिलित न होने पर भी सभी लोग उसकी देख भाल रखते हैं। ग्राम की बहुत सी चीजें सम्मिलित होती हैं। सभी कुओं से सब लोग सिंचाई करते हैं। जंगलो से सब लोग लकड़ी काटते है। तालाबों से सभी लोग पानी ले सकते हैं। बहुत से गाँवों मे सम्मिलित पंचायत घर बने रहते हैं, जहाँ

अतिथि और बाहरी यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध रहता है। इन्हें 'चौपाल' कहते हैं। और भी आवश्यक वस्तुयें ग्राम के लोग सम्मिलित रूप से रखते हैं।

सामाजिक संगठन मे ग्राम बहुत ही आवश्यक हैं। भारतवर्ष मे इन ग्रामों की आवश्यकता शहरों से कही अधिक है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। प्रत्येक ग्राम के चारों ओर खेती के लिये ज़मीन होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण देश ग्रामो के जाल से भरा हुआ है। लगभग साढ़े सात लाख ग्राम भारत मे पाये जाते हैं। इन्हीं की पैदावार से आज न केवल गावों का बल्कि शहरों तथा कुछ विदेशियो का पालन पोषण हो रहा है। जैसे कोई व्यक्ति कुटुम्ब से अलग होकर अपनी उन्नति नहीं कर सकता और उनका सम्बन्ध स्वाभाविक है उसी प्रकार गाँव भी एक स्वाभाविक समुदाय है। इससे अलग होकर मनुष्य किसी भी पेशे आदि की शिक्षा नहीं ले सकता। पाठक-गण ऐसा न समझे कि ग्राम और शहर में कोई बहुत बड़ा भेद है। इन दोनों मे कोई जाति भेद नहीं है। शहर ग्राम के उन्नत रूप हैं। जिन ग्रामों मे तिजारत की वृद्धि हुई और, जो किसी नदी आदि के किनारे थे उनकी आबादी बढ़ती गई। वे ही शहर हो गये। वर्तमान जीवन मे शहर और ग्राम में बहुत बड़ा अन्तर दिखाई पड़ता है। परन्तु नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत जब हम ग्रामों पर विचार करते हैं तो शहर और ग्रामों मे किसी भी दृष्टि से भेद भाव नहीं रख सकते।

देश

प्रत्येक नागरिक अपने देश का सदस्य होता है। कुटुम्ब और ग्राम में उसकी उन्नति उतनी नहीं हो सकती जितनी सम्पूर्ण देश मे। इसीलिये नागरिकता की आवश्यकता पड़ती है। सम्पूर्ण देश से प्रत्येक व्यक्ति उतना लाभ नही उठा सकता जितना वहाँ का नागरिक उठा सकता है। उसका देश ही एक वृहत् परिवार है। नागरिक का व्यक्तित्व कुटुम्ब और ग्राम मे उतना विकसित नहीं हो सकता जितना कि सम्पूर्ण देश में। देश से उसे बहुत से लाभ होते हैं। वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने देश का भ्रमण कर सकता है। उसके व्यापार के लिये सारे देश के बाज़ार एक समान खुले होते हैं।

अपने देश में वह किसी भी जगह जाकर रह सकता है और अपनी जीविका कमा सकता है। कोई भी व्यक्ति उसके राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकार में बाधा नहीं डाल सकता। यदि कोई विदेशी राज्य किसी देश पर चढ़ाई करता है तो देश की सरकार ही उसकी रक्षा करती है। रक्षा के अतिरिक्त देश राज्य की सीमा को निश्चित करता है। बड़े पैमाने पर व्यक्ति के लिये उन्नति का साधन उपस्थित करता है। प्रत्येक देश अपना एक इतिहास और संस्कृति रखता है। राष्ट्रीय भावना की जागृति किसी देश में ही हो सकती है। राजनैतिक संगठन किसी न किसी देश मे ही किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति कुटुम्ब, जाति और ग्राम के अतिरिक्त किसी न किसी देश का नागरिक हुआ करता है। देश का विस्तृत वर्णन राजनैतिक समुदाय के अन्तर्गत किया जायगा।

आर्थिक समुदाय

समाज में धन की सब को आवश्यकता पड़ती है। विशेष कर इस युग मे, जब कि पैसे के बिना मनुष्य का कोई भी काम नहीं चल सकता, धन की महत्ता और भी बढ़ गई है। सारा समाज दो विभिन्न वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक धनी और दूसरा ग़रीब। आर्थिक उन्नति और कारोबार की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक देश में अनेक आर्थिक समुदाय होते हैं। प्रत्येक युग मे इनका संगठन बदलता रहता है। जैसी आर्थिक दशा होती है और जिस प्रकार के आवागमन के साधन उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार के आर्थिक संगठन बनाये जाते हैं। आज कल मिलों और फैक्ट्रियों का युग है। इसलिये पूँजीपतियों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है बाजार में चीज़ों का भाव ठीक रखना। कोई भी मिल वाला अपनी चीज़ को एक निश्चित दर से कम पर नहीं बेंच सकता। ऐसा न करने से और पूँजी-पतिओं को घाटा होगा। मज़दूरों का एक अलग संगठन है। इसका उद्देश्य है कि उनकी मज़दूरी एक ख़ास दर से कम न की जाय, काम के घंटे न बढ़ाये जायँ, और उनके साथ किसी प्रकार की ज्यादती न की जाय। इस संगठन को "Labour Union" कहते हैं। आर्थिक संगठनों का उद्देश्य है समाज मे धन की वृद्धि और उसका उचित उपयोग।

विदेशो से जो लोग तिजारत करते हैं उनका भी एक संगठन है। अपने ही देश मे किसी वस्तु-विशेष का प्रचार करने के लिये भी संगठन बना लिये जाते हैं। कुछ लोग उनके सदस्य बन जाते हैं और उससे लाभ उठाते हैं। बंगाल मे जूट से चीजें बनाने वालों का एक सगठन है। शहरो में जो बैंक हैं वे एक प्रकार के आर्थिक संगठन हैं। ग्रामों मे जो " village co-operative societies " स्थापित की गई हैं वे भी एक तरह के आर्थिक संगठन हैं। प्रत्येक बाजार और मंडी में इस प्रकार का कोई न कोई संगठन अवश्य पाया जाता है। राष्ट्र संघ (League of nations) के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन (International Labour Union) भी एक आर्थिक समुदाय है। इसका उद्देश्य है मज़दूरो और पूँजी-पतियों मे मेल उत्पन्न करना और मज़दूरो की भलाई का ध्यान रखना। इसकी एक शाखा हमारे देश में भी है जिसका आफिस दिल्ली मे है।

धार्मिक समुदाय

प्राचीन काल मे धर्म एक आवश्यक चीज़ समझा जाता था। सभी व्यक्ति धार्मिक हुआ करते थे। धर्म के पुजारियो का समाज में बोल-बाला था। उनकी आज्ञा राजा तक को माननी पड़ती थी। स्वयं राजा लोग धार्मिक हुआ करते थे। अशोक ने, राजा होते हुये भी धर्म का इतना प्रचार किया जितना बौद्ध भिक्षु भी न कर सके। यूरप मे भी मध्यकाल तक पाप का समाज पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक काल में धर्म का सगठन बड़ा ही दृढ़ रहा है। आज भी, जब कि विज्ञान की उन्नति के कारण तर्क वितर्क का भाव लोगो के अन्दर काफी बढ़ रहा है, धर्म की महिमा कम नही है। बड़े बड़े मन्दिरों में अब भी लाखों रुपये की पूजा रोज़ चढ़ती है। बड़े बड़े मठो के पास अब भी गाँव के गाँव मौजूद हैं। तीर्थ स्थानो मे आज भी धर्म के नाम पर पंडों की तिजारत चल रही है। धर्म के नाम पर जितना दान हमारे देश मे होता है उतना शायद ही किसी देश मे होता हो। यदि यह दान संगठित कर दिया जाय तो बड़े बड़े सार्वजनिक कार्य किये जा सकते हैं।

धर्म एक बहुत ही ऊँची चीज़ है। मनुष्य के अन्दर ईश्वर के प्रति एक सच्ची लगन है। उसी लगन से प्रेरित होकर वह

धार्मिक क्रियाओं की ओर अग्रसर होता है। कोई सन्ध्या करता है। कोई माला जपता है और कोई गंगा स्नान करता है। इसी से उसे सन्तोष नहीं होता। वह कुछ धार्मिक चर्चायें भी सुनना चाहता है। वह किसी साधु सन्त के पास जाता है। जब बहुत से लोग किसी साधु के पास जाने लगते हैं तो वहीं एक धार्मिक संघ बन जाता है। वहीं भजन-कीर्तन आदि का प्रबन्ध होता है और लोग ज्ञान की चर्चा करते हैं। इससे उन्हें शान्ति मिलती है। कुछ लोगो का तो यहाँ तक कहना है कि जब तक धर्म का संगठन न होगा तब तक सच्ची शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। धार्मिक व्यक्ति अधिकतर सदाचारी होते हैं। उनके अन्दर लोभ, क्रोध, मोह आदि विकार नहीं रह जाते। आज कल सच्चे धार्मिक संगठनो का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। भौतिकवाद के युग में त्याग की ओर बहुत कम लोग जा पाते हैं। यही कारण है कि धर्म का ह्रास हो रहा है। तब भी आज कोई न कोई संगठन सभी व्यक्तियों को बाँधे हुये है। कोई वैष्णव है, कोई शैव है, कोई राधा स्वामी सतसंगी है तो कोई बौद्ध अथवा जैनी है। यूरप में भी अधिकतर लोग ईसाई धर्म के आनुयायी हैं। धर्म का ह्रास कुछ दिनो के लिये भले ही हो जाय किन्तु इसका लोप नहीं हो सकता।

सांस्कृतिक समुदाय

केवल भोजन और वस्त्र से ही मनुष्य सन्तुष्ट नहीं रह सकता। उसे जितनी आवश्यकता शरीर को भोजन देने की पड़ती है उससे अधिक आवश्यकता मस्तिष्क को भी भोजन देने की होती है। ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है। ज्ञान के लिये ही मनुष्य व्याकुल है। अज्ञान सभी दुखों का मूल है। यदि मनुष्य को सचा ज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसके सारे दुख अपने आप दूर हो जायँ। मनुष्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है कि वह अपने आप को पहचाने। हमारे वेद और शास्त्रों ने भी यही कहा है 'आत्मानं विद्धि'। सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य ज्ञान की ही चिन्ता में निमग्न है। इसी की प्राप्ति के लिये उसने स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, गुरुकुल आदि खोल रक्खा है। इनका उद्देश्य यही है कि मनुष्य अज्ञान का निवारण कर ज्ञान की प्राप्ति करे। इनके अतिरिक्त और भी लाइब्रेरी तथा व्यक्तिगत समुदाय बनाये जाते हैं। सरकार भी इनकी सहायता

करती है। इनमें प्रवेश करने की सबको पूरी स्वतन्त्रता है। रूप, रंग, जाति अथवा धर्म के कारण कोई व्यक्ति इनसे वंचित नहीं किया जाता। किसी किसी राज्य मे तो शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है।

संस्कृति शब्द का अर्थ है एक प्रकार की सभ्यता। जब मनुष्य के विचार एक प्रकार के होने लगते हैं, उसकी रहन सहन में एकता आने लगती है, तो उस जाति की एक विशेष संस्कृति बन जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक जाति तथा देश अपनी अपनी संस्कृति रखते हैं। किन्तु ऊपरी एकता से ही संस्कृति नहीं बना करती है। विचारों में भी एकता होनी चाहिये। यदि किसी देश को अपनी संस्कृति बनानी है तो उसे एक खास ढंग की शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। प्राचीन काल में यूनान देश में एथेन्स और स्पार्टा नाम के दो शहर थे। दोनों स्वतन्त्र थे और अपनी अलग अलग संस्कृति रखते थे। एथेन्स शान्ति-प्रिय शहर था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य शान्ति की स्थापना करना था। इसके विपरीत स्पार्टा की शिक्षा फौजी थी। सबको फौजी शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। परिणाम यह था कि वहाँ की संस्कृति फौजी थी। लोग शारीरिक बल को ही महत्व देते थे। साहित्यिक उन्नति उनके लिये बेकार थी। यह संस्कृति समय समय पर बदलती रहती है। एक ही देश विभिन्न काल में अपनी अलग अलग संस्कृति रखता है। भारतवर्ष को ही ले लीजिये। जो संस्कृति इस देश की गुप्त काल में थी वही मौर्य काल में नहीं। मुसलमानी काल की संस्कृति कुछ और ही थी। आज बृटिश राज्य में हमारी संस्कृति बिलकुल भिन्न है। आजकल हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ रहा है। कोई भी व्यक्ति संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता। जो जिस देश में रहेगा वह उसकी सस्कृति को अवश्य अपनायेगा। यदि कोई व्यक्ति विदेश में जाकर बस जाय तो वह अपनी संस्कृति को छोड़ कर उसी देश की संस्कृति का पुजारी बन जाता है। संस्कृति केवल ऊपरी रहन सहन तथा शिक्षा से नहीं बना करती है। किसी देश की जल वायु तथा प्राकृतिक स्थान के कारण भी उसकी संस्कृति अन्य देशों से भिन्न होती है। उस देश के धर्म, रसम-रवाज, शिक्षा तथा रहन-सहन बिलकुल

भिन्न होते हैं। इसलिये संस्कृति मे भी भेद होता है। सारे संसार की एक संस्कृति नहीं हो सकती। यह प्रकृति के विरुद्ध है। जैसे और क्षेत्रो में मनुष्य उन्नति-अवनति करता रहता है उसी तरह संस्कृति भी नीची और ऊँची हुआ करती है। जिस देश की सामाजिक दशा उन्नति पर रहेगी, लोगो में चरित्र बल की वृद्धि होगी, और शिक्षा का पूरा प्रचार होगा, उस देश के लोगो की संस्कृति भी ऊँचे दर्जे की होगी। उनके विचार ऊँचे होगे। आर्थिक और राजनैतिक गुलामी किसी देश की सांस्कृतिक अवनति का कारण होती है।

व्यावसायिक समुदाय

कोई भा व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता। प्राचीन काल में लोगों की आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थीं। अपनी अपनी जरूरतें लोग पूरी कर लिया करते थे। अठारहवीं शताब्दी में व्यावसायिक क्रान्ति ने मनुष्य के जीवन मे महान परिवर्तन किया। समस्त संसार का आर्थिक आधार ही बदल गया। लोगों की आवश्यकताये प्रति दिन बढ़ने लगीं। एक मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता था। लोगों के दृष्टि कोण में नवीनता आ गई। इसलिये कार्य विभाजन (Division of labour) का प्रचार हुआ। एक ही काम को पूरा करने के लिये कई हाथों की आवश्यकता पड़ी। कोई कपास बोता, तो कोई उसके बेचने का प्रबन्ध करता, कोई सूत कातता, कोई कपड़ा बुनता और कोई उसे धोकर साफ करता, तब वह कपड़ा बन कर बाज़ार में आता था। इन विभिन्न पेशे वालों के अलग अलग समुदाय बन गये। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में ये समुदाय और भी बढ़ते गये। इन समुदायो में किसी जाति, अथवा धर्म का भेद भाव नहीं होता। जो जिस पेशे को करता है, वह उसका एक सदस्य समझा जाता है। एक पेशे वाले आपस में भाई भाई का सा व्यवहार रखते हैं। यदि किसी पेशे में एक हिन्दू होता है, एक मुसलमान और एक ईसाई तब भी वे आपस मे मिल जुल कर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता पहुँचाते हैं। अलग अलग पेशे की अलग अलग जातियाँ बन गई हैं। जो धोबी का काम करने लगे उनका एक अलग पेशा और संगठन हो गया। इसी प्रकार,

नाई, लुहार, कुम्हार, कोइरी आदि भिन्न भिन्न व्यावसायिक समुदाय बन गये। आज कल इन्हे हम अलग अलग जाति समझते हैं लेकिन यह हमारी भूल है। सभी हिन्दू जाति के हैं। आरम्भ में इनमें ऊँच नीच का भाव न था। कोई पेशा छोटा और बड़ा नहीं माना जाता था। लेकिन समय के प्रवाह में पेशे को लोग ऊँच नीच समझने लगे। इसी प्रकार अन्य पेशे वालों का भी समुदाय है, विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, वैद्य, डाक्टर, महाजन, मजदूर इत्यादि अपना अपना संगठन बनाये हुये हैं। प्रत्येक पेशे वाला अपने गिरोह का सदस्य होता है। इससे उसे लाभ पहुँचता है। समुदाय मे उसे बहुत सी नई बाते मिलती रहती हैं और उसकी शक्ति बढ़ती है। संगठन से उसके पेशे का महत्व बढ़ता है और लोगों मे उसका प्रचार होता है। लोग अपने पेशे के समुदाय को अपनाने मे अपना गौरव समझते हैं।

व्यावसायिक समुदाय का सिद्धान्त

प्रत्येक संगठन कोई न कोई सिद्धान्त रखता है। धर्म का सिद्धान्त है कि लोग सदाचारी बनें। राजनैतिक संगठन का सिद्धान्त देश की रक्षा और प्रजा की उन्नति करना है। अब प्रश्न यह है कि व्यावसायिक संगठन किस सिद्धान्त पर बनने चाहिये। आर्थिक लाभ से प्रेरित होकर मनुष्य किसी भी समुदाय का सदस्य बन सकता है। प्रत्येक व्यवसाय एक आर्थिक संगठन है। लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये उसका सदस्य बनते हैं। परन्तु केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से समुदाय की रचना करना ठीक नहीं है। यदि अध्यापक वर्ग अपना संगठन इसलिये बनावें कि उनकी तनख्वाह मे वृद्धि हो और उन्हें कम से कम काम करना पड़े तो यह ठीक नही है। स्वार्थ कोई बुरी चीज़ नहीं है। परन्तु निरा स्वार्थ ठीक नहीं है। जहाँ अध्यापक वर्ग अपनी भलाई और सुविधा का ध्यान रक्खे वहाँ विद्यार्थियो की उन्नति पर भी वह विचार करे। वकीलो का भी एक संगठन है जिसे Bar Association कहते हैं। लगभग सभी वकील इसके सदस्य होते हैं। प्रति वर्ष इसका जलसा होता है। यदि इसका उद्देश्य यह हो कि वकील लोग अधिक से अधिक फीस कैसे ले सके तो यह सिद्धान्त ग़लत है। उनका ध्यान यह होना चाहिये कि कचहरियों

मे न्याय कैसे हो सकता है और मुकद्मो की संख्या कम करके व देश का कल्याण कैसे कर सकते है। यही हालत मजदूरों के संगठन की भी है। यदि मज़दूर वर्ग केवल मज़दूरी की चिन्ता करता है और कार्य का ध्यान नहीं रखता तो उसका संगठन नहीं चल सकता। तात्पर्य यह है कि व्यावसायिक समुदायों का सिद्धान्त न केवल स्वार्थपूर्ति होना चाहिये, बल्कि समाजोन्नति तथा व्यवसाय उन्नति भी। प्रत्येक समुदाय इस बात पर विचार करे कि किस प्रकार वह अधिक से अधिक अपने देश की सेवा कर सकता है। वह अपना सिद्धान्त सेवा बनावे, न कि स्वार्थ पूर्ति और लड़ाई की फौज। आपस में एक दूसरे पेशे वाले नीच ऊँच का भेद भाव दूर करे और एक दूसरे से प्रेम पूर्वक मिलकर अपने देश की उन्नति करें।

सेवक मडल

सेवा का क्षेत्र अनन्त है। जो रास्ते मे यात्रियो को पानी पिलाता है वह भी सेवा करता है और जो बड़ी बड़ी धर्मशालाये और क्षेत्र चलाता है वह भी सेवा ही करता है। कोई धन से सेवा करता है, कोई शरीर से और कोई बुद्धि से। कुछ लोग सेवा को एक संस्था का रूप दे देते है और उसी संस्था द्वारा समाज की सेवा होती रहती है। बहुत से दानी पुरुष अपनी सम्पत्ति का ट्रस्ट आदि बना देते है जिससे समाज मे तरह तरह के भलाई के काम होते रहते हैं। लोग सेवक मंडल, भारत सेवक मंडल, स्काउट संघ, महानन्द मिशन आदि सेवक मंडल समाज की भलाई के लिये बनाये गये हैं। प्रत्येक का जन्म दाता कोई न कोई महापुरुष होता है। लोक सेवक मंडल की स्थापना पंजाब केसरी लाला लाजपत राय ने की थी। भारत सेवक मंडल की स्थापना गोखले ने की थी। ये मंडल आज भी देश की भलाई मे लगे हुये हैं और जब तक भारतीय समाज जीवित रहेगा तब तक ये भी उसकी सेवा करते रहेंगे। आज कल सेवा का भाव लोगो के अन्दर काफी बढ़ रहा है। यही कारण है कि अनेक प्रकार के नये नये संगठन आज कल बन रहे हैं। सबका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की सेवा करना है। प्रत्येक मनुष्य को इनमे हाथ बँटाना चाहिये। जिस समाज मे हम रहते है उसके प्रति हमारे बहुत से कर्तव्य हैं। उन्हें हम तभी पूरा

कर सकते हैं जब समाज की भलाई करें। अपनी रक्षा और स्वार्थ की देख रेख तो पशु भी करता है। मनुष्य तो सब मे श्रेष्ठ है। उससे यह आशा की जाती है कि वह अपनी चिन्ता के अतिरिक्त औरों की भलाई का भी ध्यान रक्खे। सेवा के विना मनुष्य समाज के ऋण से मुक्त नही हो सकता। सेवा की पहिली सीढ़ी सहानुभूति है। जिसके अन्दर एक दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है वह सेवा नहीं कर सकता। इन सेवक मंडलों में आकर लोगों के अन्दर और भी सेवा के भाव उत्पन्न होते हैं।

मनोविनोद शालायें

सामाजिक जीवन सुखमय तभी रह सकता है जब लोगों के अन्दर जीवन हो, उनके चेहरे पर हँसी हो और उनका शरीर स्वस्थ हो। यदि समाज में सब लोग उदासीन रहें और बीमारी के जाल से जकड़े हों तो सभी सेवायें व्यर्थ हैं। जीवन का उद्देश्य है 'आत्मा नन्द'। इसी की पूर्ति के लिये तरह तरह के मनोविनोद के साधन की आवश्यकता होती है। कार्य से छुट्टी पाकर लोग कुछ मन बहलाव का साधन चाहते हैं। केवल चुपचाप बैठ जाने से मन प्रसन्न नहीं रह सकता। इसीलिये तरह तरह के क्रीडा गृह, व्यायाम शालाये और नाटक, थियेटर, सेनिमा आदि बनाये जाते हैं। लोग आपस में कभी कभी दावतें करते हैं। इनसे चित्त का बहलाव भी होता है और एक दूसरे से परिचय प्राप्त होता है। परिचय से सामाजिक जीवन की उन्नति होती है। सभी पदों के लोग इन मनोविनोद शालाओ में बराबरी के साथ एक दूसरे से मिलते हैं और ख़ुशी मनाते हैं। इनकी उन्नति को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि देश की दशा हरी भरी है। जिस देश के लोग खाने पीने की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं वहाँ मनोविनोद की इच्छा कम होती है। यद्यपि ख़ुशी और आनन्द मनाना समाज की उन्नति का चिन्ह है, फिर भी इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। दावतों मे व्यर्थ की चीजो मे अधिक धन व्यय करना ठीक नहीं है। इसी प्रकार अपने समय का वहुत वड़ा भाग नाटक और सेनिमा में ख़र्च करना जीवन के मूल्य को कम करना है। हम मनोविनोद को उतना ही स्थान दें जहाँ तक उसकी आवश्यकता है। साथ ही हम औरों का भी ध्यान रक्खे। यह ठीक नहीं है कि देश मे एक

ओर तो अत्यन्त ग़रीबी है और दूसरी ओर थोड़े से लोग दावतों मे दूध दही की नदी तक बहा दे। यह तो समाज की कमजोरी है और सहानुभूति का अभाव है। सच्चा मनोविनोद समाज को साथ साथ ले चलने मे है। सम्पूर्ण समाज प्रसन्न और हरा भरा दिखाई पड़े यह हमारी मनोविनोद शालाओ का उद्देश्य होना चाहिये।

राज्य

आज तक जितने भी समुदाय मनुष्य ने बनाया है, राज्य उन सब मे बड़ा है। यह समुदाय कब और कैसे बना इसका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति वाले अध्याय मे किया जायगा। राज्य की उत्पत्ति कर मनुष्य ने अपने आपको राजनैतिक बंधन मे बाँध दिया। परन्तु यह किसी भी दृष्टि से हानिकर नही है। राज्य का उद्देश्य है कि वह मनुष्य को कुमार्ग पर जाने से बँचावे और सुमार्ग पर ले चले। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का एक सदस्य होता है। उसे नागरिक कहते हैं। यदि कोई व्यक्ति नागरिक नही है तो वह राज्य का पूरा सदस्य नहीं कहा जा सकता। राज्य उसे भी बहुत सी सुविधाये देता है। केवल राजनैतिक अधिकार उसे नही दिये जाते। परन्तु वह भी किसी न किसी राज्य का नागरिक हो सकता है। और समुदायो मे और राज्य मे यह भेद है कि राज्य का सदस्य बनना सबके लिये अनिवार्य है। मनोविनोद शाला का सदस्य कोई भले ही न हो, व्यावसायिक समुदाय से कोई भले ही अपना सम्बन्ध न रक्खे परन्तु राज्य से उसे सम्बन्ध रखना होगा। राजनीति एक ऐसा विषय है जिसकी आवश्यकता सबको पड़ती है। इसलिये राजनैतिक संगठन से कोई अपने आपको अलग नहीं रख सकता। राजनीति मे कोई अपने अधिकारो का प्रयोग भले ही न करे परन्तु अपने कर्तव्यो का ध्यान रखना पड़ता है।

राज्य सबसे बड़ा राजनैतिक संगठन है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे छोटे राजनैतिक सगठन होते है। राजनैतिक दल उनमे से एक है। इसका सदस्य होना किसी के लिये अनिवार्य नहीं है। ये दल कई कारणो से बनते है। कभी तो विचारों के मतभेद के कारण नये नये दल उठ खड़े होते है और कभी स्वार्थ की पूर्ति के लिये भी दलों का संगठन होता है। राज्य सभी समुदायो से ऊपर रहता है। वह उनकी देख रेख रखता है और उन्हें आपस मे

मिलकर काम करने का अवसर प्रदान करता है। राज्य एक ऐसा संगठन है जिसके विभिन्न रूप भिन्न भिन्न देशों में पाये जाते हैं। उनके संगठन में अन्तर भले ही हो परन्तु उद्देश्य सबके एक होते हैं। बहुत से लोग राज्य को सर्व शक्तिमान बनाना चाहते हैं और कुछ लोग उससे सम्पूर्ण शक्ति छीन लेना चाहते हैं। परन्तु उत्तम मार्ग इन दोनों के बीच मे है। सामाजिक जीवन की रक्षा का पूर्ण भार राज्य पर ही होता है। भीतरी लड़ाइयो तथा बाहरी हमलों से वह देश की रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त सभी समुदायों और सगठनों को अपने अपने कर्तव्य और अधिकार का ज्ञान कराता है।

समुदायों का मनुष्य के जीवन पर प्रभाव

प्रत्येक समुदाय मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। आर्थिक समुदाय से व्यक्ति अपना भरण पोषण करता है। धार्मिक समुदाय में शान्ति ग्रहण करता है, सेवक मंडल द्वारा समाज की सेवा करता है और इसी प्रकार सभी समुदायो से अपनी उन्नति करता है। समाज की रचना इसीलिये हुई है कि व्यक्ति अपना पूर्ण विकास करे। परन्तु समाज कोई ऐसी चीज नहीं है जहाँ चले जाने से मनुष्य की सारी शक्तियाँ एक दिन मे विकसित हो उठेगी। इसीलिये इन विभिन्न समुदायो की उत्पत्ति हुई है कि इन्हीं के द्वारा मनुष्य अपनी सभी प्रकार से उन्नति करे। इन्हीं के मेल को समाज कहते हैं। जो व्यक्ति इन समुदायों से लाभ नही उठाता वह अर्द्ध सामाजिक है। उसकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती। मनुष्य के अन्दर जितने भी विचार हैं उनकी पूर्ति के लिये उतने ही प्रकार के समुदाय भी बन सकते हैं। यह मनुष्य की इच्छा पर है कि वह इनका निर्माण करे। संगठित जीवन का यही अर्थ है कि मनुष्य की विभिन्न शक्तियाँ अलग अलग सगठित हो और फिर किसी जगह उन सबका एकीकरण हो। एक समुदाय का सदस्य बन कर मनुष्य एक शक्ति को प्राप्त करता है। औरो के घनिष्ठ सम्पर्क मे आने का जितना अवसर इन समुदायो द्वारा मिलता है उतना और कहीं नहीं मिलता। जो जितनी ही समुदाय का सदस्य है वह उतना ही सामाजिक गिना जाता है और उसकी बुद्धि उसी मात्रा में सार्वजनिक होती है। सार्वजनिक भावनायें पहले कुटुम्ब से आरम्भ होती हैं। फिर

बढ़ते बढ़ते समुदायों में प्रवेश करती हैं। फिर देश हित का ध्यान होता है। यदि इससे भी आगे मनुष्य बढ़ता है तो अन्तर्राष्ट्रीय सेवा की पिपासा उसे महसूस होता है। फिर वह मनुष्यमात्र का सेवक बन जाता है। इस प्रकार हमारे जीवन की उन्नति इन्हीं समुदायों से आरंभ होती है।

समुदायों की सफलता

कोई भी समुदाय तभी बन सकता है जब कुछ लोग आपस में मिलें। यदि सहवास और सहयोग की इच्छा नहीं है तो कोई भी संगठन नहीं बन सकता। इसलिये सहयोग इसकी पहली आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त सच्ची सहानुभूति की भी आवश्यकता होती है। स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर हम कोई संगठन नहीं बना सकते। यदि बनाने का प्रयत्न भी करें तो उसमें बहुमत नहीं प्राप्त कर सकते। अच्छी नियत से ही हम कोई स्थायी संगठन बना सकते हैं। किसी भी संगठन की सफलता और असफलता उसमें सम्मिलित व्यक्तियों की नेक नीयती पर निर्भर करती है। यदि सभी व्यक्ति उसके उद्देश्य का ध्यान रक्खें और उसी ओर अपने आपको ले चलें तो सफलता अवश्य मिलेगी। किसी संगठन की सफलता सदस्यो की संख्या पर निर्भर नहीं रहती है। थोड़े ही से लोग एक बहुत बड़े संगठन को सफल बना सकते हैं, और बहुत से लोग बड़े से बड़े संगठन को तोड़ सकते है। व्यक्ति में जितनी कार्य करने की शक्ति है उसी हद तक वह किसी समुदाय को आगे बढ़ा सकेगा। जब तक समुदाय सफल न होंगे तब तक सामाजिक जीवन पूरा नहीं समझा जा सकता। बिखरे हुये समाज की यही पहचान है कि उसमें व्यक्तियों का किसी प्रकार का संगठन न हो। जो जाति संगठित नहीं हो सकती वह उन्नति कदापि नहीं कर सकती। ईर्ष्या और द्वेष के कारण अथवा एक दूसरे संगठन को धक्का देने की नियत से जो संगठन बनाया जाता है उसमे उन्नति के विपरीत व्यक्ति की अवनति होती है।

समाज और समुदाय

समुदाय समाज का अंग है। बहुत से समुदायों से समाज का निर्माण होता है किन्तु समाज की रचना पहले होती है और समुदाय बाद में बनते हैं। जो व्यक्ति समुदाय का सदस्य है वह समाज का सदस्य

अवश्य होता है। समाज से अलग मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं है, परन्तु समुदाय से कितने ही व्यक्ति सदैव अलग रहते हैं। समाज एक होता है, परन्तु समुदाय अनन्त हैं। समाज की शक्ति इन्हीं समुदायों में बँटी रहती है। यह कहना कठिन है कि सारे समाज का पूर्ण स्वामी कौन है। प्रत्येक समुदाय का स्वामी अपनी शक्ति रखता है। वह शक्ति उसे समाज से ही प्राप्त है। समुदायों की वृद्धि सामाजिक विकास का लक्षण है। समुदाय में व्यक्तित्व के किसी एक अंग का विकास होता है परन्तु समाज में उसकी पूर्ण उन्नति होती है। समुदायों के परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। यदि कौटुम्बिक जीवन आज बदल जाय तो हमारा सामाजिक जीवन भी कुछ और ही हो जायगा। दोनों ही सहयोग और नेक नीयती (co-operation and good will) पर स्थायी बनाये जा सकते हैं।

अध्याय ६

व्यक्ति और समाज

सभ्यता—व्यक्ति और समाज का सामंजस्य—समाज और देश—क्या समाज एक बन्धन है?—व्यक्ति और सामाजिक सुधार—व्यक्ति और समाज—सामाजिक विचार—सामाजिक विकास और व्यक्ति—गाधीवादी और समाज—समाज वादी और समाज—समाज के उद्देश्य।

सभ्यता

नागरिक शास्त्र के अन्दर हम व्यक्ति का अध्ययन करते हैं। परन्तु व्यक्ति का अध्ययन तभी सम्भव है जब वह समाज में रहे। स्वभाव से ही मनुष्य समाज में रहता है। एकान्त जीवन उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिये व्यक्ति और समाज का अध्ययन ही नागरिक शास्त्र का विषय है। एक दूसरे के सम्पर्क से विचारों मे आदान प्रदान होता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक नियम व्यक्ति को सदैव सुधारते रहते हैं। समाज से नित्य वह कुछ न कुछ सीखता रहता है। उसकी उन्नति से सभ्यता की नींव पड़ती है। जब समाज में सभी व्यक्ति उन्नति कर जाते हैं और किसी खास दर्जे तक पहुँच जाते हैं तो उस समय की एक सभ्यता बन जाती है। 'सभ्यता' शब्द समाज मे ही उत्पन्न होता है। यदि नागरिक और समाज मे कोई सम्बन्ध न हो तो कोई भी सभ्यता उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी सभ्यता का अन्त तभी होता है जब व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के सिद्धान्त बदल जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अधिक से अधिक सभ्य बनाना चाहता है। इसीलिये शिक्षा तथा विभिन्न समुदायों की वह व्यवस्था करता है। नागरिक शास्त्र नागरिक और उसकी सभ्यता दोनों का प्रतिपादन करता है। सबसे ऊँची सभ्यता वही है जिसके अन्दर व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता और उन्नति प्राप्त हो। सभ्यता का इतिहास व्यक्ति और समाज का एक इतिहास है। बिना व्यक्ति के न तो कोई समाज बन सकता है और न समाज के बिना व्यक्तित्व का विकास ही सम्भव है। जहाँ कहीं

भी समाज होगा उसकी कोई न कोई सभ्यता होगी। यदि संसार की सभ्यता का इतिहास देखा जाय तो मनुष्य प्रतिदिन कुछ न कुछ उन्नति करता जा रहा है। एक आदर्श नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह समाज की सभ्यता को बढ़ावे। यह तभी हो सकता है जब वह अपनी और सामाजिक उन्नति को एक समान समझे।

पूर्व ऐतिहासिक काल को हम असभ्य और जंगली कहते हैं। यह निष्कर्ष हमने इसी से निकाला है क्योंकि व्यक्ति और समाज में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध न था। उनके सम्बन्ध की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। व्यक्ति तब भी समाज में रहता था और आज भी रह रहा है। अन्तर इतना ही है कि उस समय इन दोनों का सम्बन्ध किसी सिद्धान्त पर निर्भर नहीं था। व्यक्ति के विकास के लिये कोई सामाजिक व्यवस्था न थी। फिर भी उस समय कोई सभ्यता ज़रूर थी। चाहे वह जंगली ही सभ्यता थी परन्तु थी तो अवश्य। यह कैसे सम्भव है कि समाज तो रहे परन्तु सभ्यता न हो। अतएव समाज का सबसे बड़ा महत्व व्यक्ति का विकास करना है। यदि सामाजिक व्यवस्थायें न बनाई गई होतीं, नये नये आविष्कार और अनुसन्धान न किये गये होते तो आज भी व्यक्ति जंगली अवस्था में पड़ा रहता।

व्यक्ति और समाज का सामंजस्य

व्यक्ति और समाज दोनों एक ही हैं। प्रत्येक व्यक्ति समाज में घूमता और जीवन निर्वाह करता है। उसके भीतर भी एक समाज है। इसलिये इन दोनों समाजों में कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य के अन्दर अनेक विचार होते हैं। अवसर पाकर वह अपने विचारों के अनुसार बाह्य जगत में संस्थाओं और समुदायों की स्थापना करता है। उसे शिक्षा की आवश्यकता महसूस होती है इसलिये वह स्कूल और पाठशालायें खोलता है। जब स्वास्थ्य का ध्यान होता है तो व्यायाम शालायें खोलता है। जब उसे एक दूसरे के कारण काम करने में बाधा पड़ती है तो वह सामाजिक नियम आदि बनाता है। इसी तरह मनुष्य की सारी क्रियायें उसके विचारों के फल हैं। पहले विचार उत्पन्न होते हैं तब उसे कार्य रूप में परिणत किया जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि

मनुष्य के अन्दर विचारो का एक समाज है और वाहरी समाज उसी का क्रियात्मक रूप है। अतएव व्यक्ति और समाज मे कोई भेद नहीं है। दोनो एक दूसरे के विलोम नही हैं। जिस दिन मनुष्य अपनी उन्नति का ध्यान छोड़ देगा उसी दिन से समाज की भी उन्नति रुक जायगी। व्यक्तियों की वुद्धि का ही चमत्कार सामाजिक चमत्कार कहलाता है। समाज स्वय कोई कार्य नहीं कर सकता। विभिन्न व्यक्ति ही कार्य कर सकते हैं। उनके कार्य चूँकि समाज मे होते हैं इसलिये वे सामाजिक कहलाते है। उनसे सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुँचता है। जिस समाज मे बड़े बड़े वीर और विद्वान् पैदा होते हैं उस समाज की प्रतिष्ठा होती है। शिवाजी और राणा प्रताप के पराक्रम से भारतीय समाज का गौरव कम ऊँचा नही है। वुद्ध के व्यक्तित्व का ऋणी न केवल भारतीय समाज है वल्कि संसार उसका ऋणी है। इसी तरह जितने भी महापुरुप किसी देश मे पैदा होते हैं वे उस समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया करते है। फिर व्यक्ति और समाज दो चीजे कैसे अलग की जा सकती हैं।

व्यक्ति की ही उन्नति समाज की उन्नति समझी जाती है। जिस देश मे सदाचारी व्यक्तियो की अधिकता होगी वह देश और समाज सभ्य माना जायगा। इसके विपरीत जिस देश के निवासी लुटेरे होंगे और आपस मे लड़ते झगड़ते रहेंगे वह देश असभ्य और अत्याचारी समझा जायगा। इगलैंड को आज हम सबसे शक्तिशाली समझते है। इसकी वजह यह है कि अँग्रेज़ी समाज मे कुछ ऐसे महापुरुष हुये जिन्होने अपने देश को आगे बढ़ाया। विदेशों में जाकर अपने देश के लिये उन्होने सब कुछ कष्ट उठाया। जो भी देश उन्नति करता है वह व्यक्तियो के ही बल पर कुछ कर सकता है। व्यक्तियो की एकता सामाजिक एकता कहलाती है, व्यक्तियो की कमजोरी सामाजिक कमज़ोरी कही जाती है। भारतीय समाज आज बिखरा हुआ है, इसके अन्दर न तो राष्ट्रीय भावना है और न साम्प्रदायिक सहानुभूति। भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस कमी का भागी है। जब तक प्रत्येक मनुष्य अपने अन्दर सम्पूर्ण समाज को नही समझेगा तब तक न वह अपनी उन्नति करेगा और न समाज की। समाज मे रहते हुये मनुष्य जो

कुछ करता और सोचता है उसका असर उसके पड़ोसियों पर अवश्य पड़ता है। जिस प्रकार शब्द अमर हैं और उनका नाश कभी भी नहीं होता उसी प्रकार व्यक्ति का उपचार भी सामाजिक इतिहास मे अमर हो जाता है। कोई समाज कितना हूँ छिन्न भिन्न हो जाय, परन्तु व्यक्तियो की अमर कीर्ति तारे की तरह चमकती रहेगी। भारतवर्ष का नाम मिट जाय, परन्तु भगवान बुद्ध संसार मे अमर रहेगा। हिन्दू समाज अवनति के गड्ढे मे भले ही चला जाय, लेकिन शंकराचार्य और दयानन्द को कोई नहीं भूल सकता। समाज से व्यक्ति की और व्यक्ति से समाज की रक्षा होती है।

समाज और देश

समाज और देश मे क्या सम्बन्ध है इस प्रश्न को सुलझाना कठिन है। एक ही समाज के लोग कई देशो मे फैले रह सकते हैं। यहूदी समाज आज यूरप के कई देशों मे बिखरा हुआ है। फिर भी उसके अन्दर एक सामाजिक संगठन है। यदि यह संगठन न होता तो यहूदियों का नाम आज मिट गया होता। एक ही देश मे कई समाज के लोग रह सकते हैं। अपने ही देश को ले लीजिये। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज़ सभी यहाँ रहते हैं। इनकी अलग अलग राष्ट्रीयता है और वे अपने समाज द्वारा शासित होते हैं। इसीलिये यह कहना कठिन है कि अमुक समाज का विस्तार कितना है अथवा अमुक देश मे कितने समाज के लोग रहते हैं। साधारण लोग यह समझते हैं कि एक देश के लोग एक ही समाज के होते हैं। यदि कोई अमेरिकन भारतवर्ष मे कोई नई ईजाद करे तो उसकी प्रतिष्ठा अमेरिकन समाज को होगी। इसी तरह यदि कोई भारतीय जर्मनी में कोई नई खोज करे तो वह भारतीय समाज की चीज़ समझी जायगी। राजनैतिक संगठन और सामाजिक एकता से कोई खास सम्बन्ध नहीं हुआ करता है। भारतीय शासन के अन्दर लगभग सभी देशो के लोग रहते हैं। और भी देशो मे विदेशियो की संख्या कम नही होती है। उन्हे उस राज्य के नियम मानने पड़ते है। परन्तु उनका समाज अलग होता है, उनके रसम रवाज भिन्न होते हैं। समाज का सम्बन्ध मनुष्य की रहन सहन, खान पान तथा आचार विचार से हुआ करता है। देश शब्द से एक शासन व्यवस्था का आभास होता है।

जब हम जर्मनी कहते हैं तो इसका यही तात्पर्य होता है कि जर्मनी की एक सरकार है। परन्तु जर्मन समाज से और जर्मन सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बन्धन क़ानूनी है और दूसरा स्वाभाविक। इसीलिये हम दोनों को एक में नहीं जोड़ सकते। प्रत्येक देश में जो सबसे बड़ा समाज होता है वही उस देश को अपना समझता है। उसी की संस्कृति उस देश की संस्कृति कही जाती है। उसी समाज की कीर्ति उस देश की कीर्ति कहलाती है। देश की राजनैतिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट की जा सकती है, परन्तु सामाजिक एकता का सर्वनाश नहीं किया जा सकता।

क्या समाज एक बन्धन है ?

जब व्यक्ति समाज में ही रह सकता है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि वह सामाजिक नियमों का पालन करे। समाज की अवहेलना करके वह नहीं रह सकता। ऐसी दशा में तो यही दिखलाई पड़ता है कि समाज व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता में एक बाधक है। व्यक्ति इस बन्धन को विवश होकर निबाहता है, क्योंकि वह समाज को छोड़ने में असमर्थ है। यदि कोई भारतवासी अपने देश को छोड़ कर अमेरिका मे जाकर रहना चाहे तो उसे बहुत सी कठिनाइयाँ आयेगी। यह भी सम्भव है कि अमेरिका उसे बिलकुल ही अच्छा न लगे। वहाँ का खाना पीना, और रहन सहन उसके स्वभाव के अनुकूल न हो। फिर वह आदमी क्या करेगा ? वह लौट कर फिर हिन्दुस्तान में आयेगा। यही हालत प्रत्येक समाज की है। समाज अपने अन्दर रहने वाले व्यक्तियो को एक ख़ास ढंग मे ढाल दिया करता है। उससे निकलने में मनुष्य को कठिनाइयाँ होती हैं। जैसे लोहे की बेड़ी कुछ दिनों तक तो कैदी को भार मालूम पड़ती है, परन्तु जब वह इसका आदी हो जाता है तो उसे इसका पता भी नही चलता। इसी प्रकार सामाजिक बन्धनो का मनुष्य को अभ्यास हो गया है। जो शाका-हारी है उसे माँसाहारी बनने से घृणा है और जो माँसाहारी है वह शाकाहारी नही बन सकता। पूजा पाठ की भी यही बात है। हिन्दू नमाज नहीं पढ़ सकता और मुसलमान सन्ध्या नहीं कर सकता। कठिनाई और सरलता का प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक

संस्कृति की बात है। हर एक विदेशी एक दूसरे देश में अनेक दिक्कतो का सामना करता है।

सामाजिक बन्धन के अन्तर्गत आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक सभी प्रकार के बन्धन आ जाते हैं। कोई व्यक्ति अपने समाज में तभी तक प्रतिष्ठा का पात्र समझा जाता है जब तक वह अपने को सामाजिक बन्धनों से जकड़े रहता है। बन्धन को तोड़ कर वह समाज से अछूत बन जाता है। ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य यह दलील पेश करते हैं कि शूद्रों को समाज में बराबरी का दर्जा नही मिलना चाहिये। इन्होने कभी न कभी हिन्दू समाज के नियमो को भंग किया था इसीलिये इन्हें ग्रामो से निकाल कर बाहर रहने की आज्ञा दी गई और इन्हे घृणित ठहराया गया। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि सामाजिक बन्धन कितना कठोर होता है। चिड़ियों और बन्दरो मे भी सामाजिक दण्ड का विधान पाया जाता है। बहुत से कौवे अपने झुण्ड से निकाल दिये जाते है और कौवे उनकी पाँखें तक नोच डालते हैं। बन्दरों मे भी सामाजिक नियम बड़ी सख्ती के साथ बर्त्ते जाते हैं। यदि कोई बन्दर पेड़ से गिर जाता है तो वह अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वर्षों उसे अकेले जीवन बिताना पड़ता है। सभी जीवो मे कोई न कोई सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है। फिर मनुष्य इससे क्योकर वचित रह सकता है? उसे तो पग पग पर अपने सामाजिक नियम को बरतना पड़ता है। जब व्यक्ति इस कदर समाज का कीड़ा है तो समाज उसके लिये बन्धन नही तो और क्या है?

वास्तव मे समाज बन्धन नहीं है। सामाजिक नियम व्यक्ति को बाँधने के लिये नही बनाये गये है; बल्कि उसकी रक्षा के लिये हैं। जिस समाज की जैसी परिस्थिति है उसके वैसे ही नियम हैं और उसी के अनुसार उसकी संस्कृति भी है। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही विद्वान् और चतुर नहीं हुआ करता है। कुछ दिन तक उसे औरो से सीखना पड़ता है। समाज उसे इसका मौका देता है। शिक्षा की व्यवस्था न हो तो कोई विद्वान नहीं बन सकता। बाद मे वह सामाजिक बुराइयों का सुधार भले ही करे, परन्तु आरम्भ में तो उसे समाज की सभी बातो से लाभ उठाना

पड़ता है। शहरों में तरह तरह के संगठन बने होते हैं। प्रत्येक मनुष्य उनसे लाभ उठा सकता है। जन्म से बालक सारी बातें समाज मे ही सीखता है। सामाजिक संस्थायें उसके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। समाज सबको अपनी उन्नति का पूरा पूरा अवसर देता है। जो समाज ऐसा नहीं करता वह निकृष्ट है। हम जिन घरों में रहते हैं, जिस कुयें से पानी पीते हैं और जिन वृक्षों की साया का आनन्द लेते हैं वे हमारे ही बनवाये नहीं हैं यह सब समाज की देन है। आज हम जितनी चीजों का प्रयोग करते हैं वे नहीं मालूम कितने व्यक्तियों के सहयोग से बनाई जाती हैं। जिन विचारों को लेकर हम विद्वान् कहलाते हैं वे नहीं मालूम कितने मस्तिष्क से होकर हमारे पास पहुँचते हैं। क्या इनके लिये व्यक्ति समाज का ऋणी नहीं है? जिन शब्दों का प्रयोग हम अपने दैनिक जीवन मे करते है क्या वे हमारे हैं? आवागमन की जितनी सुविधायें आज हमे प्राप्त है उनके लिये क्या हम समाज के ऋणी नहीं हैं? यदि हम विचार से देखे तो हमें समाज से जितना लाभ पहुँचता है और जिस मात्रा मे हमारी उन्नति होती है उसका हजारवाँ हिस्सा भी हम समाज के लिये नहीं करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा समाज का ऋणी है। कदाचित दो एक व्यक्ति कभी कभी ऐसे उत्पन्न हो जाया करते हैं जिनका समाज ऋणी हुआ करता है। उन्हें हम या तो अवतार कहते हैं या कोई महापुरुष।

इससे स्पष्ट है कि समाज के बन्धन को तोड़ कर हम अपनी उन्नति को रोक देंगे। कुछ ऐसे भी सामाजिक बन्धन हुआ करते हैं जिन्हे तोड़ कर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। सामाजिक संगठन अनादि काल से चला आता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसके बहुत से नियम समय के प्रवाह में व्यर्थ प्रतीत हों। जिस समय वे नियम बनते हैं उस समय उनकी आवश्यकता कम नहीं हुआ करती है। कुछ वर्षों तक लोग प्रसन्नता पूर्वक उनका पालन करते हैं, बाद में जब लोगों के विचारो में परिवर्त्तन हो जाता है तो दूसरे नियमों की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये विचारवान मनुष्य पुराने नियमों की बुरी तरह अवहेलना करते हैं। साधारण लोग उसे बुरा समझते हैं। परन्तु वह व्यक्ति समाज-हित की

दृष्टि से अच्छा करता है। यदि ऐसा न हो तो पुराने सामाजिक नियम समाज की उन्नति को सभी प्रकार से रोक दें। प्रत्येक युग में समाज की ऐसी दशा हो जाती है। जब लोगों के विचार शिथिल पड़ जाया करते हैं, पुराने नियम समय के अनुकूल नहीं रह जाते, तब भी लोग उनसे चिपटे रहते हैं। समाज में अशान्ति बढ़ जाती है और चारों ओर ढोंग का राज्य छा जाता है। किसी को कोई ऐसा रास्ता नहीं दिखाई पड़ता जिससे होकर वह अपनी उन्नति कर सके। इसी संकट को दूर करने के लिये संसार में महापुरुषों का जन्म होता है। वे समाज के सड़े हुये नियमों को उठा कर फेंक देते हैं और नई बातों का संचार करते हैं। आरम्भ में लोग उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हीं नियमों पर चलने के लिये वे स्वयं तत्पर हो जाते हैं। उनका हित उनके पालन में ही दिखाई पड़ता है।

व्यक्ति और सामाजिक सुधार

धन्य है वह समाज जो किसी ऐसे व्यक्ति का जन्म देता है जिससे उसकी उन्नति होती है; और धन्य है वह व्यक्ति जो समाज को आगे बढ़ाता है। समाज का सुधारक कोई व्यक्ति ही हुआ करता है। कोई गिरोह समाज सुधार का कार्य आरम्भ नहीं करता है। जब एक व्यक्ति सुधार आरम्भ करता है तो उसके बहुत से अनुयायी मिल जाते हैं। फिर तो वे सारे समाज को अपना अनुयायी बना लेते हैं। प्रत्येक समाज को कभी न कभी सुधार की आवश्यकता पड़ती है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार प्रत्येक समाज को पुराने नियमों को बदल कर नये नियम अपनाने पड़ते हैं। यह कार्य आसानी से नहीं हुआ करता है। समाज के प्रवाह को बदलना कोई खेल नहीं है। स्वभाव से ही मनुष्य हठी है। जिस वातावरण में वह एक बार रह जाता है फिर उसे बदलने मे उसे तरह तरह की कठिनाइयाँ मालूम पड़ती हैं। यदि कोई व्यक्ति इनके लिये उसे बाध्य करता है तो वह शत्रु समझा जाता है। इसी प्रकार के शत्रु जिन्हें आगे चल कर लोग मित्र समझते हैं, सामाजिक सुधारक हुआ करते हैं। यह श्रेय किसी न किसी व्यक्ति को ही प्राप्त होता है कि वह जनता के अन्ध विश्वास को दूर करे।

कभी कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि समाज सुधारकों को तरह तरह की यातनाये भोगनी पड़ती हैं; प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। नई नई चीज़ों के आविष्कार करने वाले समाज के कम सेवक नहीं कहे जा सकते। परन्तु उन्हें भी लोग सम्मान का पात्र नहीं समझते हैं। कुछ व्यक्ति विचारों में सदियों पहले जन्म लिया करते हैं। कोई भी समाज उनके विचारों से सहमत नहीं होता है। लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। उनका सारा सिद्धान्त कुछ उलटा सा मालूम पड़ता है। ऐसे ही व्यक्तियों का हाथ ज़माने को पलटने में सफल हुआ करता है। समाज ऐसे व्यक्तियों का मूल्य भले ही न समझे परन्तु ऐसे ही व्यक्ति समाज की उन्नति करते हैं। अपने साहस और बल से अन्ध विश्वासी जनता का विरोध कर समाज सुधार की ओर अग्रसर होते हैं। अपने विचारों का ऋण जो वे समाज पर छोड़ जाते हैं. उसकी पूर्ति कई शताब्दियों तक नहीं हो पाती। महा पुरुषों के स्थान सदैव खाली रहते हैं। यह समझना भूल है कि एक महापुरुष दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकता है। गोखले, तिलक, स्वामी दयानन्द, स्वामी राम तीर्थ, लाला लाजपत राय तथा मोतीलाल इत्यादि का स्थान भरने के लिये न कोई पैदा हुआ और न होने की सम्भावना है। जब एक शकल के दो मनुष्य नहीं हो सकते तो विचारों में समता की सम्भावना कैसे की जाय। प्रत्येक समाज सुधारक अपना विचार और अपना ढंग लेकर संसार मे आता है।

व्यक्तित्व और समाज

समाज एक शक्ति है। उसके सामने व्यक्ति की शक्ति बहुत छोटी है। विशाल काय समाज के सामने व्यक्ति अपने आपको बहुत छोटा समझता है। उसे अपने विचारों को दबा कर सामाजिक विचारों को कार्य रूप मे परिणत करना पड़ता है। आज भी जब कि विचारों की पूरी स्वतंत्रता है और वैज्ञानिक उन्नति ने अन्ध-विश्वास को चकना चूर कर दिया है, दक्षिण भारतवर्ष मे, विशेष कर मद्रास प्रान्त में, छुआछूत का रोग कम नहीं है। यदि कोई ब्राह्मण किसी अछूत का छुआ हुआ भोजन कर लेता है तो वह फिर ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नही रह जाता। उसे मन्दिर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं मिलती। उसके मुँख से निकले

हुए वेद वाक्य अपवित्र समझे जाते हैं। छूआछूत में उसका विश्वास न भी हो, परन्तु समाज के भय से वह इसमें विश्वास करता है। इसी प्रकार अनेक अवसरों पर व्यक्ति को अपने विचार दबाने पड़ते है। क्या इससे उसकी आत्मा को धक्का नहीं पहुँचता? यदि पहुँचता है तो हम यही कहेंगे कि उसके व्यक्तित्व का पूरा विकास नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक नियम कभी कभी व्यक्तित्व की उन्नति में बाधक होते हैं। जब समाज मे कोई वर्ग विशेष अपनी उन्नति सम्पूर्ण समाज से अधिक कर जाता है तो उसका व्यक्तित्व समाज द्वारा दबाया जाता है। अज्ञानवश समाज उनके विचारों से सहमत नहीं होता है। इसका बहुत कुछ दोष उन स्वार्थी व्यक्तियों पर है जिन्होने स्वार्थ हित के लिए सम्पूर्ण समाज की अवहेलना की है। यदि आरम्भ से वे इसका ध्यान रखते तो समाज उनके साथ चलता और उनके व्यक्तित्व का विकास होता रहता। समाज सबको अपनी उन्नति का उतना ही अवसर देता है जहाँ तक वह व्यक्तियों को समझने में समर्थ होता है। व्यक्ति से अलग समाज की कोई बुद्धि नही है। विचारों की जिस सतह पर बहुत से व्यक्ति होते हैं उसी सतह पर सारा समाज भी खड़ा रहता है। जिसे अपने व्यक्तित्व के बढ़ाने की अधिक चिन्ता है, वह सामाजिक उन्नति करके ही उसे बढ़ा सकता है। यह सम्भव नहीं है कि कोई समाज बहुत ही पिछड़ा हुआ हो और कुछ व्यक्ति उसमें अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास कर सके। इस स्वार्थपरता को समाज सहन नहीं कर सकता। समाज की आखें व्यक्ति की आँखों से कहीं तेज होती हैं। व्यक्ति अपनी बुराइयों को भले ही न समझे परन्तु समाज व्यक्ति की कमजोरी को भली भाँति समझता है।

व्यक्तित्व का विकास समाज का उद्देश्य है। सामाजिक व्यवस्था इसीलिये बनाई गई है कि प्रत्येक मनुष्य जहाँ तक चाहे उन्नति कर सके। यदि उसके मार्ग मे कोई बाधा पड़ती है तो समाज उसे दूर करता है। किसी भी दृष्टि से समाज व्यक्ति का विरोधी नहीं ठहराया जा सकता। यदि वह किसी व्यक्ति की उन्नति मे बाधक होता है तो यह समाज की कमजोरी का चिन्ह है। वह अपनी अवनति को समझने में असमर्थ है। समाज मे कुछ व्यक्ति

जिन्हे इन कमज़ोरियों का ज्ञान है, अपने विचारों द्वारा उसे आगे बढ़ा सकते हैं।

जब मनुष्य का शरीर एक है तो उसका विचार भी एक होना चाहिये। विचार करने की मशीन जिसे मस्तिष्क कहते हैं, एक ही है। लेकिन एक ही मनुष्य के भिन्न भिन्न विचार होते हैं। इतना जरूर है कि एक समय एक ही विचार मन मे आ सकता है। जब हम किसी वस्तु को बुरा कहते हैं तो उतनी देर तक उसकी अच्छाइयों पर हम नही विचार कर सकते। विचार उसी तरह है जैसे कोई चौड़ा तख्ता। हम एक बार उस तख्ते की एक बगल को ही देख सकते है। यह सम्भव नहीं है कि तख्ते का आगा पीछा दोनों एक साथ हमारी नज़रो के सामने आ जाय। ठीक इसी तरह दो विचार एक साथ हमारे मस्तिष्क में नहीं आ सकते। प्रकृति ने मन को इतना चंचल बनाया है कि हमारे मस्तिष्क मे विचारो का ताँता सा लगा रहता है। एक विचार के जाते ही दूसरे विचार आने लगते हैं। यहाँ तक कि दिमाग़ कभी खाली रहता ही नहीं। जब हम सोते हैं तब भी हमें स्वप्न दिखलाई पड़ते है। आँख तो हमारी बन्द रहती है, लेकिन मस्तिष्क अपना काम करता रहता है। यदि विचारों की गणना की जाय तो सैकड़ो विचार नित्य हमारे मन में आते हैं और चले जाते है।

सामाजिक विचार

यदि हम इन विचारो को बाँटे तो इसकी दो किस्मे हो सकती है :—

१—व्यक्तिगत विचार (Self-regarding thoughts)

२—सामाजिक विचार (Othe1-regarding thoughts)

व्यक्तिगत विचार वे है जिनसे मनुष्य अपने स्वार्थ सम्बन्धी बातों को सोचता है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर यह विचार आता है कि उसका अमुक काम कैसे हो, उसकी जीविका कैसे चले, इत्यादि इत्यादि। परन्तु हर समय मनुष्य अपनी हीं चिन्ता मे पड़ा रहे यह भी सम्भव नहीं है। ग़रीब से ग़रीब व्यक्ति भी दान, धर्म, दया, आदि की ओर झुकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह औरो के विषय मे भी सोचे। अपने पड़ोसी

से पहले वह सम्पर्क बढ़ाता है। उसके सुख दुख में साथ देता है। फिर उसका क्षेत्र बढ़ता जाता है। ग्राम, जिला, प्रान्त और देश तक की उसे चिन्ता होने लगती है। इसी को सामाजिक विचार कहते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सामाजिक विचारों के आते ही व्यक्तिगत विचारों का लोप हो जाय। दोनों साथ साथ चलते हैं। एक ही मस्तिष्क वारी वारी से उन पर विचार करता है। प्रश्न यह है कि क्या कोई व्यक्ति केवल सामाजिक विचारों में ही लीन रह सकता है? यह कोई असम्भव बात नहीं है। लेकिन ऐसा व्यक्ति करोड़ों में एक हुआ करता है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाते हैं। वह अपने आपको समाज का एक घनिष्ठ अंग मान लेता है। जो कुछ करता और विचारता है सब समाज के लिये। उसका यह विश्वास हो जाता है कि यदि वह समाज की भलाई में लगा हुआ है तो उसी मे उसकी भलाई भी शामिल है क्योंकि समाज से वह अलग नहीं है। जिस प्रकार सारा भोजन और पानी पेट में जाता है और वहाँ से खून बन कर प्रत्येक अंग में आवश्यकतानुसार बँट जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपना सब कुछ समाज के लिये अर्पण कर देता है वह अपने हिस्से का भी हक़दार हो जाता है।

व्यक्तित्व का विकास सामाजिक विचार के अतिरिक्त कहीं और सम्भव नहीं है। व्यक्तिगत विचार और व्यक्तित्व दोनों में विरोध है। जो व्यक्ति प्रतिक्षण अपनी ही चिन्ता में निमग्न है, जिसे स्वार्थपूर्ति मे ही आनन्द आता है वह अपने व्यक्तित्व को ऊँचा नहीं कर सकता। उसके विचार संकुचित होते जाते हैं और कुछ दिनों में वह अपने व्यक्तित्व को खो बैठता है। इसके विपरीत सामाजिक विचार व्यक्तित्व का विकास करता है। मनुष्य के अन्दर एक ऐसी शक्ति है जो बिजली की तरह औरों को अपनी ओर खींचती है। वह शक्ति सामाजिक विचारो के साथ उत्पन्न होती है। ज्यो ज्यो मनुष्य इस ओर बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह शक्ति भी बढ़ती जाती है। अधिक से अधिक व्यक्तियो को वह अपनी ओर आकर्षित करने लगता है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि उस व्यक्ति से औरों को लाभ पहुँचता है। उसके विचार औरों के लिये लाभदायक होते हैं। इसी शक्ति को व्यक्तित्व कहते

हैं। जिसमें यह शक्ति नहीं है वह कोई भी सामाजिक सेवा नही कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि व्यक्तित्व कार्य करने की सबसे बड़ी शक्ति है। जिसका व्यक्तित्व जितना हीं ऊँचा होगा वह उतना ही बड़ा कार्य कर सकेगा। सामाजिक विचार व्यक्तित्व के सबसे बड़े साथी हैं। जो लोग समाज को बन्धन समझते हैं वे मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध सोचते हैं। यदि यह बन्धन न हो तो सामाजिक विचार जीवित नहीं रह सकते, और व्यक्तित्व भी सर्वदा के लिए लुप्त हो जाय।

सामाजिक विकास और व्यक्ति

जब हम 'समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो एक बहुत बड़ी चीज़ हमारे दिमाग़ मे आ खड़ी होती है। समाज कोई छोटी सी चीज़ नहीं है। एक दो दिन के परिश्रम से वह नही बना है। उसका विकास तो शताब्दियो में हुआ है। आज हमे यह आश्चर्य मालूम पड़ता है कि मनुष्य भी कभी अकेले रहता था। लेकिन हमे इसमे आश्चर्य नहीं होना चाहिये। एक समय ऐसा था जब मनुष्य जंगली अवस्था मे इधर उधर घूमा करता था। न उसका कोई घर था और न कार्यक्रम। उद्योग धंधो का वह नाम भी नहीं जानता था। सदियो तक इसी प्रकार का जीवन वह व्यतीत करता रहा। पृथ्वी पर जन-संख्या की वृद्धि एक स्वाभाविक वस्तु है। जब आबादी बढ़ी और जगलो मे मनुष्य अधिक दृष्टिगोचर होने लगे तो झुड का झुड एक साथ रहने लगा। इसे हम अव्यवस्थित समाज कह सकते हैं। एक साथ रहते रहते उनके अन्दर एक प्रकार की इच्छा उत्पन्न हुई कि एक दूसरे से लाभ उठावें। इसी स्वार्थ भाव से प्रेरित होकर आपस मे सहयोग की वृद्धि हुई। आरम्भ मे गाँवों की रचना हुई। लोगो ने जंगलों को साफ किया और खेती आरम्भ की। इसी तरह अनेक गाँव बस गये। ये गाँव पहले स्वतन्त्र थे और मनुष्य की सारी आवश्यकताये भी वहीं पूरी हो जाती थी। एक गाँव का निवासी दूसरे गाँव से अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता था।

जब मनुष्य की आवश्यकताये बढ़ने लगीं तो ग्रामो का जीवन परावलम्बी होने लगा। एक गाँव को दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। इस प्रकार ज़िला, प्रान्त और देश का विकास

हुआ। इनका विस्तृत वर्णन राज्य की उत्पत्ति नामक अध्याय में किया जायगा। यहाँ पर हमे इतना ही ध्यान देना है कि कैसे हमारा समाज संगठित हुआ। मनुष्य को अकेले तरह तरह की असुविधाये आती थीं। न वह किसी से बोल सकता था और न अपने दुख मे किसी से सहायता ले सकता था। इन्हीं को दूर करने के लिये उसने समाज की रचना की। बाद में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह समाज का क्षेत्र बढ़ाता गया। ग्राम से शहर बनने लगे। आधुनिक युग में ये आवश्यकतायें इतनी बढ़ रही हैं कि संसार का एक कोना भी अपने आपको अलग नहीं रख सकता। यदि कोई देश अपनी पैदावार और देशों में न भेजे तो दुनियाँ को बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। कोई भी देश आज स्वावलम्बी नहीं है। किसी को भोजन की आवश्यकता है तो किसी को बाज़ारों की ज़रूरत है और किसी को आबादी को खपाने के लिये ज़मीन की ही चिन्ता है। इसी तरह मनुष्य पहिले छोटे मे गिरोह को अपना समाज बनाया, लेकिन धीरे धीरे यह समाज बढ़ कर देश का रूप धारण कर लिया। भविष्य में तो यह साफ दिखलाई पड़ता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बढ़ता जायगा और सम्भव है कभी सबसे बड़े समाज की स्थापना हो जाय।

इस सामाजिक विकास से व्यक्ति को हानि हुई है या लाभ, इस प्रश्न को उठाकर हम एक दूसरे ही विषय पर चले जायेंगे। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि आवश्यकताओं ने ही समाज के दायरे को बढ़ाया है। यदि मनुष्य को किसी वस्तु की आवश्यकता न होती तो समाज का विकास कभी भी नहीं होता। सामाजिक विकास से व्यक्ति की आवश्यकतायें इतनी बढ़ती गई हैं कि वर्तमान भौतिक युग इसी का परिणाम है। इन आवश्यकताओं के वशीभूत होकर मनुष्य अपनी ऊपरी चमक दमक में इतना व्यस्त रहता है कि उसे ऊँची बातो की ओर झुकने का अवसर ही नहीं मिलता। इसलिये हमारा उपर्युक्त प्रश्न यह हो जाता है कि नवीन सभ्यता मनुष्य के लिये लाभदायक है अथवा हानिकर। इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि आवश्यकतायें जितनी हीं कम हों उतना ही अच्छा है। सरल जीवन में शुद्धता अधिक रहती है और मनुष्य को कोई चिन्ता नहीं रहती। सामाजिक विकास

के साथ साथ जो मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती गई हैं वे उसके लिये घातक सिद्ध हुई है। समाज में विषमता इसी का परिणाम है। सामाजिक नियम तथा उपनियम कुछ ऐसे भी हैं जो आज सड़ गये हैं, फिर भी हम उसके ऐसे आदी हो गये हैं कि उसे छोड़ नहीं सकते। मनुष्य को यह आशा थी कि जब उसका समाज बढ़ रहा है तो उसकी चिन्ता कम होती जायगी और किसी न किसी दिन वह शान्तिमय जीवन व्यतीत करेगा। लेकिन बात इसके बिलकुल उल्टी हुई। अशान्ति और चिन्ता का रोग इतना बढ़ता जा रहा है कि समाज का एक वर्ग पीछे को लौटना चाहता है। उसे नई सभ्यता बड़ी ही भयंकर मालूम पड़ती है। यदि बहुत बड़ी संख्या मे लोग पीछे को लौटे तो हमारा सामाजिक संगठन एक दूसरा ही रूप धारण कर लेगा। यदि समाज के विकास के साथ साथ व्यक्ति की बुद्धि का विकास हुआ होता, उसके अन्दर की दैवी शक्तियाँ जागृत हुई होतीं, उसकी शान्ति बढ़ती गई होती तो हम इसे मनुष्य का बहुत बड़ा प्रयत्न समझते। जब हम मनुष्य को चारो ओर व्याकुल देख रहे हैं और उसे असन्तुष्ट पाते हैं तो इसे उन्नति कैसे मान बैठें?

समाज ने ही राजनैतिक संगठन का निर्माण किया है। कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ सभी लोग अपनी राजनैतिक व्यवस्था से सहमत हों। यदि थोड़े से लोग असन्तुष्ट होते तो हम इसे बुरा नहीं ठहराते। यहाँ तो तीन चौथाई जनता उससे नफरत करती है। फिर हम उसे अच्छा क्योंकर मानें? इसलिये राजनैतिक विकास भी सन्तोष जनक न हो सका। समाज की जो आवश्यकता थी वह पूरी न हुई। राजनैतिक बन्धन हानिकर नहीं है लेकिन उसका ढंग जनता की इच्छा पर ही होना चाहिये। जिस देश के निवासी प्रजातन्त्रवादी हों वहाँ एकसत्तात्मक राज्य कैसे चलेगा? यदि चला भी तो सब की इच्छा के विरुद्ध। सामाजिक विकास का यह भी अंग उसकी इतनी सहायता नहीं कर सका जितनी उसे आरम्भ में आशा थी। इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार से कोई लाभ ही नहीं है। लाभ तो बहुत हैं, लेकिन शान्ति तो नहीं है। तलवार के बल से शान्ति स्थापित रही तो उससे क्या लाभ। होना

तो यह चाहिये कि मनुष्य हृदय से क़ानूनों का पालन करे और अपने आपको सन्तुष्ट समझे।

जिस भी क्षेत्र में देखें मनुष्य अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं है। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह कभी सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता। पूर्ण सन्तोष उन्नति के लिये घातक है। एक कहावत है कि असन्तोष ही जीवन है और सन्तोष मृत्यु है (Content is life, discontent is death) यदि यह बात ठीक है तो पूर्ण शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। अफलातून ने तो यह स्पष्ट कहा है कि शान्ति और सुख इस संसार में नहीं मिल सकते। इसके लिये स्वर्ग की दुनियाँ है। हमारे धर्म ग्रन्थ भी यही कहते हैं। लेकिन इससे हम यह अर्थ न समझ लें कि यह संसार व्यर्थ है और मनुष्य का सारा परिश्रम निष्फल है। गीता में इसे कर्म भूमि कहा गया है। इसी कर्म से मनुष्य का उद्धार होगा। इसलिये हमारा सामाजिक संगठन ऐसा बन सकता है कि हम अधिक से अधिक उन्नति कर सकें। किसी भी संगठन में ऊपरी बन्धन का उतना महत्व नहीं होता जितना व्यक्तियों की भावना का। भावना सर्वत्र प्रधान होती है। हमारा संगठन चाहे किसी भी प्रकार का हो लेकिन यदि सबके अन्दर सच्ची सहानुभूति है तो ढाँचे से हमारी कोई हानि नहीं है। सामाजिक विकास में भावना की उन्नति होनी चाहिये न कि नियमों और उपनियमों की। स्वर्ग भी तो एक कल्पना ही है। यदि हम इस कल्पना को यहीं प्रयोग में लावे तो बहुत कुछ हमारा कल्याण हो सकता है। उदासीन रहने से काम नहीं चल सकता। उदासीनता सामाजिक जीवन के लिये सबसे बड़ी घातक वस्तु है। यदि हम अपने विकास से सन्तुष्ट नहीं हैं तो इसकी गति को किसी दूसरी ओर मोड़ सकते हैं। महात्मा गाँधी का सारा परिश्रम इसी लिये सराहनीय है कि वे मनुष्य की उन्नति का मार्ग बदलना चाहते हैं।

गाँधीवादी और समाज

हम जिसे उन्नति समझते हैं उसे गाँधी जी अवनति कहते हैं। वे हमारी वैज्ञानिक उन्नति के विरोधी नहीं हैं। उन्हें तो मनुष्य का शोषण सबसे अधिक खटकता है। एक मनुष्य दूसरे की कमाई का उपभोग

करता है यही हमारे वर्तमान समाज का लक्षण है। गाँधी जी का कहना है कि इस गन्दी आदत को हम निकाल दें बाकी सब ठीक है। हमारी सारी उन्नति बड़ी ही सराहनीय है। हमारा सदियों का विकास व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। कमी इतनी ही है कि हममें सच्ची सहानुभूति नहीं है। हम अपने परिश्रम का उपभोग करें। जब हर एक व्यक्ति इस मन्त्र को समझ लेगा तो समाज की सारी अशान्ति दूर हो जायगी। मनुष्य के अन्दर की सारी अच्छी प्रवृत्तियाँ दबी हुई हैं। जब तक वह अपने परिश्रम से अपनी रोटी नहीं कमायेगा तब तक उसकी वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। इस लिये समाज की सच्ची उन्नति जिसे करनी है वह शरीर और मस्तिष्क दोनों प्रकार का परिश्रम करे। जब तक एक का महत्व दूसरे से कम रहेगा तब तक शोषण जारी रहेगा और समाज मे अशान्ति रहेगी।

समाजवादी समाज

समाजवादियों का कहना है कि समाज का बटवारा गलत है। यह बात न्याय के विरुद्ध है कि एक के पास अधिक धन हो और दूसरे के पास कम। इससे व्यक्ति को समान अवसर नहीं प्राप्त होता है। प्रजातन्त्रवादियों का यह कहना ग़लत है कि आर्थिक विषमता रहते हुये भी समान अवसर दिया जा सकता है। प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। इसलिये समाज को भी अपनी व्यवस्था मे कोई भेद भाव नही करना चाहिये। यह भेद भाव कब उत्पन्न हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं है, लेकिन इसकी सारी वृद्धि मशीन के युग मे हुई है। ज्यों ज्यो मशीनें बढ़ती जा रही हैं त्यो त्यो यह विषमता भी बढ़ रही है। इसी से अशान्ति भी बढ़ रही है। यदि व्यक्ति को शान्त करना है और उसके प्रति न्याय की थोड़ी भी भावना है तो वर्तमान समाज को बदलना होगा। हमारे सामाजिक नियम पुराने होगये हैं। हमारी धन सम्बन्धी व्यवस्था तो इतनी गन्दी हो गई है कि इसे हमे जड़ से नष्ट करना होगा। धन का सब में एक समान बटवारा कर दिया जाय। सब को उसकी आवश्यकतानुसार ज़मीने और सम्पत्ति दे दी जायें। जो नियम पुराने हो गये हैं उन्हे हटाकर नये नये नियम बनाये जायें। किसी

को यह कहने का अवसर न रहे कि उसकी उन्नति मे समाज बाधक हो रहा है। आज बहुत से लोग यह कहने को तैयार हैं कि समाज उन्हें ऊँचा उठने से रोकता है। एक ग़रीब आदमी, जिसके पास कोई भी जायदाद नहीं है, शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। क्या समाज इस अन्याय के लिये दोषी नहीं है ? वह एक ग़रीब बच्चे को कहाँ अवसर देता है कि वह अपनी शिक्षा को बढ़ावे और तरह तरह के कारोबार कर सके ? रेल, तार, डाक उसके किस काम के हैं, जब कि उसे घर मे ही खाने को नहीं है ?

समाज के उद्देश्य

समाज का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की उन्नति करना है। सामाजिक संगठन ऐसा होना चाहिये जिसमें व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का पूरा पूरा अवसर मिल सके। व्यक्तित्व का विकास और व्यक्तिगत उन्नति दोनों एक ही चीज नहीं है। सामाजिक विकास मे व्यक्तित्व की उन्नति होती है परन्तु स्वार्थपरता नष्ट होती जाती है। समाज का यह भी उद्देश्य है कि वह व्यक्तियों मे एक दूसरे के प्रति सहानुभूति पैदा करे। जब तक एक मनुष्य अपने पड़ोसी अथवा मनुष्य मात्र को अपना भाई नहीं समझेगा तब तक उसकी स्वार्थपरता दूर नहीं हो सकती। इस भावना की जागृति समाज ही कर सकता है। स्वार्थ परित्याग पूर्ण विकास का द्योतक है। जिसने अपने आप को भुला दिया है और मानव जाति की उन्नति को ही अपनी उन्नति समझ लिया है वही समाज के उद्देश्य को समझ सकता है। समाज की भलाई का जिसे अधिक ध्यान है वही अपनी भी उन्नति कर सकता है।

समाज का तीसरा उद्देश्य सेवा है। सेवा से मेरा तात्पर्य यह है कि मनुष्य औरो की भलाई करे। सेवा भी आत्म सन्तोष और आत्म उन्नति के लिये की जाती है। इससे मनुष्य अपने अन्दर एक प्रकार की उन्नति महसूस करता है। एक भूखे को भर पेट भोजन दे देने से भूखे की तृप्ति होती है, साथ ही भोजन देने वाले को भी बड़ा सन्तोष होता है। उसके अन्दर एक तरह की प्रसन्नता होती है। क्रमशः उसकी उन्नति होने लगती है। सेवा के लिये क्षेत्र तैयार करना समाज का कर्त्तव्य है और उन क्षेत्रों में जाकर अपना विकास करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है। जो समाज जितने ही अधिक सेवक

पैदा करता है वह उतना ही बड़ा समझा जाता है। संसार में उसकी उतनी ही मर्यादा होती है। स्वार्थ परित्याग से ही आत्म उन्नति होती है और यही समाज का मुख्य उद्देश्य है। इसी को सामाजिक आदर्श कहते हैं। जिस प्रकार हम व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर विचार करते है उसी तरह दुनियाँ के विभिन्न समाज भी मिल जुल कर रह सकते है। एक समाज दूसरे समाज की सेवा करके अपनी उन्नति कर सकता है। कोई भी समाज पूर्ण नहीं है। जब बहुत से समाज एक दूसरे से अपना नाता जोड़ते हैं तब उनमे नई नई बाते पैदा होती हैं। एक समाज बहुत सी नई बाते सीख कर अपने व्यक्तियो की उन्नति करता है। जैसे कोई व्यक्ति स्वार्थ को छोड़ कर सामाजिक सेवा द्वारा अपना विकास करता है, उसी प्रकार एक समाज भी अपनी स्वार्थपरता और रूढ़ि को छोड़ कर अन्य समाजो की सहानुभूति और सेवा द्वारा अपनी उन्नति कर सकता है। सच्ची राष्ट्रीयता वही है जो अन्य समाजो को भी साथ साथ ले चले। केवल एक देश की उन्नति से ही संसार की उन्नति नहीं हो सकती।

अरस्तू ने भी सामाजिक संगठन पर बहुत ज़ोर दिया है। वह तो यहाँ तक कहता है "सामाजिक नियम और सामाजिक न्याय के बिना मनुष्य सभी जीवो से खतरनाक है। उसकी पूर्ण उन्नति समाज मे ही हो सकती है।" यदि सामाजिक व्यवस्था न हो तो मनुष्य सभी जीवो से अधिक भयंकर सिद्ध होगा। शेर और चीते उतने भयानक न होगे जितने मनुष्य। इस जंगलीपन को हटा कर शान्ति की ओर अग्रसर करना समाज का उद्देश्य है। यदि सभी व्यक्ति सेवा, त्याग, और अपरिग्रह को ही अपना धर्म समझ लें तो समाज का उद्देश्य पूरा हो जाय। इस अवस्था को लाने मे अभी सदियों की देर है। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति इसके अनुकूल नही है। सारी उन्नति जो आज दिखलाई पड़ रही है। मनुष्य को समान लाभ नहीं पहुँचा रही है। इसीलिये सम्पूर्ण समाज इससे सन्तुष्ट नहीं है। बड़ी बड़ी मिलों तथा फैक्ट्रियो मे मजदूरों का जीवन सुखी नहीं है। उनके जीवन मे न तो स्वाभाविकता है और न प्रसन्नता। समाज की उन्नति तो तभी हो सकती है जब कोई भी वर्ग दबा न रहे। जब तक छोटे बड़े का विचार रहेगा और

मनुष्य मनुष्य से घृणा करेगा तब तक न तो व्यक्ति की उन्नति होगी और न समाज की। समाज को आध्यात्मिक उन्नति की भी कोई न कोई व्यवस्था करनी पड़ती है। जो लोग आत्म उन्नति को ही अपना धेय बना लेते हैं और समाज मे आदर्श जीवन व्यतीत करते है वे भी समाज की बहुत बड़ी उन्नति करते है। समाज को चाहिए कि ऐसे व्यक्तियो की रक्षा करे तथा औरों को उनसे लाभ उठाने का पूरा पूरा अवसर दे।

अध्याय ७

राज्य के आवश्यक अंग और उसकी उत्पत्ति

(The essentials and origin of the state)

राज्य की परिभाषा—राज्य के लिये चार वस्तुयें, १ जनसंख्या २ एक निश्चित स्थान ३ सरकार या राजनैतिक सगठन ४ राजसत्ता—आज्ञापालन का भाव—क्या भारतवर्ष एक राज्य है?—राज्य की उत्पत्ति—१ दैवी सिद्धान्त, २ आर्थिक सिद्धान्त ३ शक्ति सिद्धान्त ४ इकरार सिद्धान्त–इकरार सिद्धान्त के अंग–हाब्स का इकरार सिद्धान्त—लाक का इकरार सिद्धान्त—रूसों का इकरार सिद्धान्त—उपर्युक्त सिद्धान्तों की आलोचना—५ ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त—प्रारम्भिक अवस्था—कृषि और गृह निर्माण काल—ग्राम की उत्पत्ति—व्यवसायों की उन्नति—युद्ध और राज्य की उत्पत्ति।

राज्य की परिभाषा

राज्य एक परिवर्तनशील संगठन है। इसलिये इसकी परिभाषा भी भिन्न भिन्न की जाती है। साधारण तौर से किसी भी देश को जिसका एक राजनैतिक संगठन है राज्य कह सकते है। यदि कोई देश कितना ही विस्तृत हो और उसमे अनेक सामाजिक संस्थाये भी हो, परन्तु यदि राजनैतिक एकता नही है तो उसे राज्य नहीं कह सकते। राज्य के लिये चार वस्तुओ का होना आवश्यक है।

१—जन-संख्या
२—एक निश्चित स्थान
३—सरकार या राजनैतिक संगठन
४—राजसत्ता

प्रोफेसर विलोवी ने एक पाँचवीं वस्तु का होना भी आवश्येक ठहराया है। वे कहते हैं कि इन चारों के अतिरिक्त जनता के हृदय मे राज्य के प्रति आज्ञापालन का भाव भी होना चाहिये। राज्य की आवश्यकता मनुष्य के स्वभाव की माँग है। मनुष्य स्वभाव से ही दूसरों को हुक्म देता है और स्वयं अपने बड़ो की

आज्ञा का पालन करता है। राज्य इन दोनो की पूर्ति करता है। किसी राज्य में बहुत से छोटे छोटे राजनैतिक संगठन हुआ करते हैं। राज्य इन सब से कई माने मे भिन्न है। राज्य का सदस्य होना प्रत्येक देश निवासी के लिये अनिवार्य है। अन्य संगठनों के लिये कोई भी नियंत्रण आवश्यक नहीं है। किसी देश मे एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रह सकता जो राज्य के नियमों की अवहेलना करे। ऐसा करने पर वह उचित दण्ड का भागी होगा। जन्म से ही मनुष्य किसी न किसी राज्य का सदस्य हो जाता है। मृत्यु तक उसे राज्य में राजनैतिक बन्धन को निभाना पड़ता है।

गार्नर ने राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—"राज्य मनुष्यो का एक संगठन है। वे मनुष्य एक निश्चित भू भाग पर अधिकार रखते हैं। समस्त वाह्य अधिकारों से स्वतंत्र होते हैं। उनकी एक संगठित सरकार होती है। वे स्वाभाविक रूप से राज्य की आज्ञाओं का पालन करते हैं।" उडरो विलसन लिखता है, "राज्य एक संगठित समाज है जिसकी स्थापना एक निश्चित भू भाग में नियम पालन के लिये की गई है।" प्लेटो का कहना है कि राज्य व्यक्ति के मस्तिष्क का विकसित रूप है। एक अन्य राजनीतिज्ञ ने यह लिखा है "राज्य एक शक्ति है, जिससे अन्य शक्तियाँ उत्पन्न होती है।" आदर्शवादियों के अनुसार "राज्य एक आध्यात्मिक विचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है" यह एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित किये जाते हैं। राजकीय शक्ति नियम के अनुकूल होती है। मनुष्य राज्य के नियमो का इसीलिये पालन करता है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचान सके। जैसा कि ऊपर कहा गया है राज्य के चार आवश्यक अंग होते हैं। प्रत्येक पर थोड़ा बहुत विचार करना चाहिये।

जनसंख्या

१—राज्य का सर्व प्रथम आवश्यक अंग जनता है। बहुत से जंगली पशु या पक्षियाँ राज्य की स्थापना नही कर सकती। मनुष्यो के संगठन को ही राज्य कहते हैं। यह संख्या कितनी होनी चाहिये इसका कोई भी प्रमाण नही है। इतना जरूर है कि दो चार कुटुम्ब किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। जनता का तात्पर्य एक बहुत बड़े

जनसमूह से है। प्राचीन काल में यूनान देश में बहुत से छोटे छोटे राज्य थे। प्रत्येक की जनसंख्या कुछ हजारों में ही हुआ करती थी। उन्हीं को सामने रख कर अफलातून ने यह लिखा है कि एक आदर्श राज्य के लिये ठीक ठीक जनसख्या ५० ४० होनी चाहिए। किन्तु इस निश्चित संख्या को राज्य के लिये आवश्यक मान लेना सम्भव नहीं है। वर्त्तमान राज्यो की जनसंख्या करोड़ों की तायदाद मे है। इस जनसंख्या का परिमाण राज्य की सीमा पर निर्भर होता है। जितना छोटा बड़ा राज्य होगा उतनी ही कम और अधिक जनसंख्या भी होगी। आधुनिक काल मे एकीकरण की भावना बढ़ रही है। आवागमन के साधन भी सरलता पूर्वक उपलब्ध हैं। इसलिये प्रत्येक राज्य की जनसंख्या अधिक से अधिक बढ़ती जा रही है। फ्रान्स को छोड़ कर संसार मे प्रत्येक राज्य की जनसंख्या इतनी बढ़ रही है कि कितने हीं देशों के सामने यह बड़ी भारी समस्या उपस्थित है कि उनके भरण पोषण के लिये कैसे प्रयत्न किया जाय। भारतवर्ष की जनसंख्या इस समय लगभग ३८ करोड़ के है। संसार की आबादी का पाचवाँ हिस्सा हमारे ही देश में निवास करता है। १८११ ई० मे इङ्गलैंड की जनसंख्या केवल १ करोड़ थी लेकिन बढ़ते बढ़ते आज ४ करोड़ से भी अधिक हो गई है। इटली और जर्मनी की सरकार अपने देश की आबादी बढ़ाने के लिये पूरी पूरी कोशिश कर रही हैं। जिस व्यक्ति के पास अधिक से अधिक सन्तान होती है राज्य मे उसका बड़ा ही सम्मान किया जाता है। आधुनिक लड़ाइयो का बहुत कुछ कारण यह बढ़ती हुई आबादी है। इन्हीं के जीवन निर्वाह के लिये राज्य की आवश्यकता पड़ती है। इङ्गलैंड जो कि एक बहुत बड़ा व्यावसायिक देश गिना जाता है अपने भरण-पोषण के लिये तीन चौथाई भोजन बाहर से मँगाता है।

स्थान

२—बड़ी से बड़ी जनसंख्या यदि वह विभिन्न देशों मे बिखरी हुई है तो किसी राज्य की स्थापना नहीं कर सकती। यहूदी योरप के सारे देशों मे फैले हुये हैं। चूँकि दुनियाँ के किसी भी भाग पर उनका अधिकार नहीं है अतः उनका कोई राज्य नहीं है। जिस प्रकार जनसंख्या के बिना एक रेगिस्तान राज्य नहीं कहा जा सकता

इसी प्रकार किसी स्थान के बिना एक बिखरी हुई जनसंख्या राज्य नहीं कायम कर सकती। राबिन्सन क्रूसो की कहानी से सभी लोग परिचित हैं। यद्यपि वह एक बहुत बड़े भूभाग का अधिकारी था फिर भी वह राज्य के अन्तर्गत नहीं आता। यदि करोड़ों व्यक्ति किसी एक बड़े जहाज़ पर समुद्र मे निवास करने लगें तो उसे भी हम राज्य नहीं कहेंगे। १६२० ई० मे 'मे फ्लावर' नामक जहाज़ पर १०० अँग्रेज़ो ने इङ्गलैण्ड का परित्याग कर दिया लेकिन हम उस जहाज़ को राज्य नहीं मान सकते। पृथ्वी के नीचे भी किसी राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। आकाश मे भी न किसी राज्य की स्थापना हुई है और न हो सकती है। कोल और भील अब भी बहुत बड़ी संख्या में जंगलों में निवास करते हैं फिर भी जंगल उनका राज्य नही माना जाता है। किसी राज्य की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि किसी निश्चित भूभाग पर वहीं के निवासियों का पूर्ण अधिकार हो। इसी नियम के अनुसार भारतवर्ष को हम राज्य नहीं कह सकते। यद्यपि हमारे देश की आबादी चीन को छोड़कर संसार मे सब से अधिक है, उसका एक निश्चित स्थान है, यहाँ कोई न कोई सरकार भी है, परन्तु यहाँ के निवासियो का अपनी ही भूमि पर अधिकार नहीं है अतः इसे राज्य नहीं कहा जा सकता। समस्त भारतवर्ष इङ्गलैण्ड के राजा की भूमि कही जाती है।

सरकार

३—जन संख्या और निश्चित भू भाग से ही राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। जब तक कोई राजनैतिक संगठन नहीं है तब तक उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। राज्य और राजनैतिक संगठन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। राजनैतिक संगठन के साथ ही राज्य की स्थापना होती है। ज्यो ही यह संगठन टूट जाता है उसी समय राज्य भी छिन्न भिन्न हो जाता है। देश मे अराजकता फैल जाती है। सरकार राज्य की मशीन है। जिस प्रकार मशीन के बिना मिल का संचालन नही हो सकता उसी तरह सरकार के बिना राज्य की कोई भी व्यवस्था नहीं चल सकती। सरकार ही राज्य में कानून बनाती है, उनका पालन कराती है तथा देश मे शान्ति की व्यवस्था करती

है। सरकार द्वारा ही एक राज्य दूसरे से भिन्न कहा जाता है। यदि दो राज्यों की सरकार एक हो जाय तो वे दोनों राज्य एक ही राज्य कहलायेंगे। यदि एक ही देश में अलग अलग दो सरकारों की स्थापना हो जाय तो उन्हें दो राज्य कहा जायगा।

राजनैतिक संगठन के बिना किसी राज्य में शान्ति नहीं रह सकती। जिन लोगों ने हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े देखे हैं उन्हें सरकार की आवश्यकता भली भाँति मालूम पड़ेगी। पुलिस और फौज का प्रबन्ध न हो तो दिन-दहाड़े लूट मार हुआ करेगी। जिस देश की सरकार कमज़ोर पड़ जाती है वहाँ के निवासियों का जीवन अनिश्चित हो जाता है। देश में तो अशान्ति हो ही जाती है, साथ ही वाह्य आक्रमणों का भी भय रहता है। यदि भारतवर्ष में हिन्दू राज्यो की सरकार कमज़ोर न हुई होती तो मुसलमानी राज्य कायम न होता; और यदि मुसलमानी राज्य मे राजनैतिक सगठन कमज़ोर न हुआ होता तो अँग्रेज़ी राज्य की नीव कदापि न पड़ती। राज्य रूपी शरीर मे सरकार आत्मा की तरह है। जिस प्रकार जीव के बिना शरीर एक मिट्टी का पुतला है वैसे ही सरकार के बिना राज्य एक मनुष्यो का झुण्ड है। सरकार-रहित राज्य को राज्य कहना उचित नहीं है। सरकार के बिना राज्य कुछ समय तक जीवित रह सकता है परन्तु राज्य के बिना सरकार की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। सरकार का रूप समय समय पर बदलता है। इसका परिवर्तन बहुत कुछ जनता की इच्छानुसार होता है।

राजसत्ता

४—सरकार के अतिरिक्त राज्य में एकता का होना आवश्यक है। इस एकता से तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जनता जो किसी निश्चित भू भाग में रहती है एक ही राजनैतिक शक्ति मे विश्वास करे। यदि कोई राज्य किसी विदेशी सरकार के अन्तर्गत है तो वह राज्य नहीं कहला सकता। जिस देश की सरकार पूर्ण स्वतन्त्र है और उसमे निवास करने वाली जनता क़ानूनों का पूरी तरह पालन करती है वही देश राज्य कहलाने का अधिकारी है। इस राजसत्ता के कई चिन्ह हैं और अनेक गुण हैं। राजसत्ता राज्य की सर्व प्रधान राजनैतिक शक्ति है। इसकी शक्ति अनन्त और

अविच्छिन्न है। इसकी आज्ञा सम्पूर्ण देशवासियों के लिये अनिवार्य है। राज्य के अन्तर्गत जितनी भी संस्थायें हैं उन सब को राजसत्ता का अधिकार मानना पड़ता है। फ़ान्स का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोदाँ लिखता है 'राजसत्ता का हुक्म सब के लिये अनिवार्य है, परन्तु राजसत्ता किसी की आज्ञापालन के लिये बाध्य नहीं है।' राजसत्ता के कोई भी टुकड़े नहीं किये जा सकते और न यह दो व्यक्तियो मे बाँटी जा सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य की राजसत्ता पार्लियामेंट के हाथ में है। अतएव साम्राज्य के अन्तर्गत कोई भी देश स्वतन्त्र राज्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञ राजसत्ता को जनता की वस्तु ठहराते हैं। परन्तु जिन देशों में शासन की बागडोर जनता के हाथ मे है वहाँ की राजसत्ता भी प्रजा के हाथ से बाहर है। अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा को उसका पालन करना पड़ता है। बाह्य तथा अन्तर दोनो प्रकार से राजसत्ता को स्वतन्त्र होना चाहिये।

आज्ञापालन का भाव

५—सब कुछ होते हुए भी यदि किसी राज्य में प्रजा की इच्छा उस राज्य के विरुद्ध है तो वह राज्य स्थायी नहीं रह सकता। यह सम्भव हो सकता है कि उस राज्य के सभी निवासी किसी दूसरे राज्य मे चले जायँ। इससे राज्य का नामोनिशान भी नही रह जायगा। १८३९ ई० मे बेल्जियम और हालैंड दोनो अलग अलग हो गये। दोनों की भाषा, सस्कृति और धर्म एक दूसरे से भिन्न थे। प्रजा की इच्छा के अनुसार एक ही राज्य दो राज्यों मे विभक्त कर दिया गया। समस्त प्रजा एक राजसत्ता की आज्ञाओ का पालन नहीं करना चाहती थी। स्पेन और पुर्तगाल भी इसी सिद्धान्त के अनुसार अलग किये गये है। १९०५ ई० में नार्वे और स्वीडेन दोनों देशो की जनसंख्या ने अलग अलग राजसत्ता स्थापित कर ली। १९१९ ई० मे योरप के मध्यभाग मे बहुत से नये राज्यो की स्थापना हुई। बड़ी लड़ाई के बाद वहाँ की जनता अलग अलग अपना राज्य स्थापित करना चाहती थी। पोलैंड, आस्ट्रिया, हॅगरी, रोमानिया, बल्गारिया, जेकोस्लोवेकिया, जूकोस्लाविया आदि नये नये राज्य उनमें रहने वाले निवासियों की इच्छा के परिणाम हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी राज्य

की स्थापना के लिये और उसे स्थायी रखने के लिये प्रजा में आज्ञा-पालन का भाव अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी देश की प्रजा संगठित होकर राज्य की सम्पूर्ण योजना को बदल सकती है। इसी आज्ञापालन को कायम रखने के लिये प्रत्येक देश की सरकार प्रजा से अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करती है। प्रजातंत्रवाद की स्थापना इसी इच्छा का परिणाम है। प्रजा की यह इच्छा रहती है कि शासन मे अधिक से अधिक उसका हाथ हो, तभी वह राजाज्ञाओं का पालन कर सकती है। जिस देश मे प्रजा का राज्य है वहाँ की जनता प्रसन्नता पूर्वक नियमो का पालन करती है। जर्मनी में, जहाँ नाजीवाद की स्थापना हुई है, शासन प्रबन्ध मे प्रजा का विशेष हाथ नही है। इसीलिये बहुत से राजनीतिज्ञों का यह अनुमान है कि हिटलर के मृत्यु की पश्चात जर्मनी मे समाजवाद की स्थापना होगी। हिटलर की आज्ञाओ का पालन तभी तक हो रहा है जब तक उसके हाथ मे शक्ति है।

क्या भारतवर्ष एक राज्य है ?

राज्य के सम्पूर्ण अगो का विवेचन ऊपर किया गया है। इन्हे ध्यान मे रखते हुए क्या भारतवर्ष को एक राज्य कह सकते हैं? यहाँ की जन सख्या भी लगभग ३८ करोड़ के हैं। काश्मीर से कुमारी तक और आसाम से गुजरात तक एक बहुत बड़े भू भाग मे यह फैला हुआ है। इसकी एक सरकार भी है और राजसत्ता भी। इतना होते हुये भी हम दो कारणों से भारतवर्ष को राज्य नही कह सकते :—

१—इस देश मे स्वतंत्र राजसत्ता का सर्वथा अभाव है। भारतीय सरकार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की आज्ञाओ का पालन करने के लिये बाध्य है। जनता की अनुमति के विरुद्ध पार्लियामेन्ट किसी भी नियम को लागू कर सकती है। कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन के समय बड़े लार्ड के जो फरमान निकलते हैं वे प्रजा की इच्छा के प्रतिकूल होते हैं। यदि यहाँ की सरकार स्वतंत्र होती तो प्रजा की अनुमति का उलंघन कदापि न करती। समस्त भारतीय कानून पार्लियामेन्ट द्वारा मंजूर किये जाते हैं। इसलिये भारतवर्ष एक गुलाम देश कहा जाता है। कोई भी गुलाम देश स्वतंत्र राज्य कहलाने का अधिकारी नही हो सकता।

२—राज्य की स्थापना के लिये और इसे स्थायी रखने के लिये यह आवश्यक है कि प्रजा सहर्ष राजसत्ता को स्वीकार करे। यदि उसकी इच्छा उस राज्य के विरुद्ध है तो उसे क्षण भंगुर राज्य कह सकते हैं। भारतवर्ष की जनता विदेशी राज्य के सर्वथा विरुद्ध है। उसकी इच्छा अपने देश को स्वतंत्र कर स्वयं राज्य करने की है। कांग्रेस इस देश की सबसे बड़ी राजनैतिक संस्था है। वह अंग्रेज़ी सरकार का सभी प्रकार से अपने देश मे विरोध करती है। इस दृष्टि से भी भारतवर्ष को हम राज्य नहीं कह सकते। वृटिश उपनिवेश भी स्वतंत्र राज्य नहीं कहे जा सकते। कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूज़ीलैण्ड तथा आयरलैण्ड स्वतंत्र राज्य नहीं गिने जा सकते। यद्यपि इस विषय मे राजनीतिज्ञो मे बड़ा मतभेद है फिर भी अधिक संख्या इन्हें स्वतंत्र राज्य कहने के विपक्ष मे है। इस विषय के अधिकारी (authority) ए वी कीथ इन्हे स्वतंत्र राज्य कहते हैं।

मनुष्य के जीवन के साथ ही राज्य की भी उत्पत्ति हुई है। राज्य उतना ही पुराना है जितना मनुष्य। इसकी उत्पत्ति के बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इन सबमें सच्चाई का थोड़ा बहुत अंश अवश्य है किन्तु कोई भी सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नहीं कहा जा सकता। ये सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं।

राज्य की उत्पत्ति

(१) दैवी सिद्धान्त
(२) आर्थिक सिद्धान्त
(३) शक्ति सिद्धान्त
(४) इकरार सिद्धान्त
(५) ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त

ये सभी सिद्धान्त बिलकुल झूठे नहीं है। इन सबसे राज्य की उत्पत्ति पर थोड़ा प्रकाश डाला जा सकता है। प्रत्येक सिद्धान्त-वादी ने अपने ही सिद्धान्त को ठीक मान कर औरो को झूठा बतलाया है। हम प्रत्येक सिद्धान्त पर अलग अलग विचार करेंगे और पाठकगण स्वयं विचार करें कि किस सिद्धान्त में कितनी सच्चाई है।

१—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की स्थापना ईश्वर ने की है। कुछ तो यह कहते हैं कि स्वयं अवतार लेकर भगवान ने इसकी रचना की है। दूसरे लोग जो इसी सिद्धान्त के मानने वाले हैं यह कहते हैं कि ईश्वर ने किसी पुरुष और स्त्री को इस संसार में भेजकर राज्य की स्थापना कराया। यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने स्वयं आकर राज्य की स्थापना की और कई वर्ष तक यहूदी प्रजा पर राज्य किया। उसी की इच्छानुसार एक राजा बनाया गया और इस प्रकार राज्य का संचालन होता रहा। मिस्र तथा चीन में राज्य की उत्पत्ति के विषय में यही सिद्धान्त सच ठहराया गया है। आज भी जापानी अपने सम्राट को किसी देवता से कम नहीं समझते हैं। भारतवर्ष में अधिकतर हिन्दू रामचन्द्र को केवल अयोध्या का राजा ही नहीं मानते बल्कि उन्हे ईश्वर का अवतार समझते हैं। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ब्रह्मा को इस सृष्टि का कर्ता माना गया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि ठहराया गया है।

दैवी सिद्धान्त

"वालोपि नाव मन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥"

अर्थात् यदि राजा वालक भी है तब भी प्रजा को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये क्योकि वह मनुष्य के रूप में देवता है। यूनान तथा रोम मे भी राज्य की उत्पत्ति देवता से मानी गई है। यूनानियो का यह विश्वास था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के स्वभाव से हुई है। यह स्वभाव ईश्वर प्रदत्त है। इसीलिये यूनानी देवताओ मे बहुत ही विश्वास करते थे। रोम निवासी भी इसी सिद्धान्त में विश्वास करते थे। ईसाई धर्म के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। मध्य युग के लगभग सभी राजनीतिज्ञ दार्शनिकों ने राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार किया है। इसीलिये पोप को सच्चा राजा ठहराया गया था। आगस्टाइन और ग्रेगरी इस सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध हैं। उनका यह कहना था कि राजसत्ता, क़ानून तथा शान्ति सभी ईश्वर प्रदत्त हैं। ईसाई धर्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के पतन के कारण ठहराई गई है। "एक समय मनुष्य स्वर्ग में निवास करता

था। उसकी आत्मा पवित्र थी। ईश्वर उसकी देख भाल करता था। किसी कारणवश उसकी आत्मा दूषित हो गई। इसीलिये ईश्वर ने संसार मे उसके लिये राज्य की उत्पत्ति की और अपना एक प्रतिनिधि उनकी देख रेख के लिये भेज दिया।"

मुसलमान धर्म के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मुहम्मद साहब से मानी जाती है। इसी प्रकार दैवी सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति ईश्वर से ही मानी गई है। प्राचीन काल में जब कि धर्म के प्रति लोगों की प्रगाढ़ श्रद्धा थी यह सिद्धान्त सर्वथा ठीक माना जाता था। ऐतिहासिक उन्नति के साथ नये नये सिद्धान्त खोज निकाले गये। इसलिये दैवी-सिद्धान्त एक कहानी मात्र रह गया। वैज्ञानिक युग के आरम्भ होते ही धर्म की ओर से लोग उदासीन होने लगे। विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। अन्ध विश्वास ढोंग ठहराया गया। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है त्यों-त्यों धर्म की प्रभुता का ह्रास होता जा रहा है। रूस में धर्म को अफीम माना गया है। यह बात अब सर्वथा असत्य ठहराई जा रही है कि राज्य की उत्पत्ति किसी देवता या ईश्वर ने की है। इस सिद्धान्त को मानने से लगभग सभी देशों ने नमस्कार सा कर लिया है।

आर्थिक सिद्धान्त

२—राज्य की उत्पत्ति का दूसरा सिद्धान्त आर्थिक सिद्धान्त माना गया है। अफलातून ने धन को ही राज्य की उत्पत्ति का कारण ठहराया है। यह यूनान देश का बहुत बड़ा दार्शनिक था। इसका दर्शन शास्त्र भारतीय दर्शन शास्त्रों से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अफलातून एक बहुत बड़ा आदर्शवादी था। अपनी रिपब्लिक (Republic) नामक पुस्तक मे एक आदर्श राज्य की उसने कल्पना की है। उसी मे राज्य की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए वह लिखता है "मेरा अनुमान है कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओ से प्रेरित होकर हुई है। मनुष्य की आवश्यकताये अनन्त हैं। उनकी पूर्ति वह अकेले नहीं कर सकता। इसी से विवश होकर उसे समाज की शरण लेनी पड़ी। यही समाज बढ़ते बढ़ते राज्य के रूप मे परिणत हो गया। अफलातून का यह विश्वास था कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण ही समाज

की उत्पत्ति हुई है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिये नियम की आवश्यकता पड़ी। नियम की देख रेख के लिये सरकार की उत्पत्ति हुई। कार्य की सुविधा की दृष्टि से काम का विभाजन किया गया।" अफलातून के इस सिद्धान्त से अन्य राजनीतिज्ञों ने भी सहायता ली है। स्वयं अरस्तू ने अपनी राजनीति* नामक पुस्तक मे गरीबी क्रान्ति तथा अपराध आदि को साथ साथ वर्णन किया है। इटली का प्रसिद्ध दार्शनिक मेकावली (Machiavel'i) धन को मनुष्य की सबसे प्यारी वस्तु समझता है। अपनी 'बादशाह' (prince) नामक पुस्तक मे राजा को उपदेश करते समय उसने बार बार चेतावनी दी है कि राजा किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति न छीने, क्योंकि प्रजा को माता पिता की मृत्यु भूल सकती है परन्तु अपनी सम्पत्ति का अपहरण उसके हृदय से नहीं निकल सकता। फ्रेञ्च दार्शनिक बोदां (Bodin) ने भी इसी प्रकार की चेतावनी दी है। वह लिखता है "राजा को प्रजा का धन अपहरण करने का कोई अधिकार नहीं है।"† इङ्गलैंड का दार्शनिक 'लाक' (Locke) भी यही कहता है कि राज्य की उत्पत्ति सम्पत्ति की रक्षा के लिये की गई है।‡ समाजवाद का जन्मदाता कार्लमार्क्स (Karlmarx) धन को ही राज्य का प्राण समझता है।

शक्ति-सिद्धान्त

३—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, शक्ति-सिद्धान्त का तात्पर्य शारीरिक-शक्ति से है। युद्ध मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। टाल्सटाय ने अपनी "युद्ध और शान्ति" (War and peace) नामक ग्रन्थ में यह भली भाँति दिखलाया है कि युद्ध से ही मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। यह युद्ध दो प्रकार का है। एक तो मनुष्य के मस्तिष्क मे चलता रहता है दूसरा वाह्य जगत में। मस्तिष्क के युद्ध से हम अपनी बुराई भलाई का फैसला करते हैं। वाह्य

---

* Politics of Aristotle

† The sovereign should not forcibly seize away the property of his subjects.

‡ Civil society was meant for the preservation of property.

जगत का युद्ध हमारी गुलामी और आज़ादी को निश्चित करता है। शक्ति सिद्धान्त का आशय इसी बाह्य युद्ध से है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति शारीरिक शक्ति द्वारा हुई है। अर्थात् किसी बलवान पुरुष ने बहुत से कमज़ोर व्यक्तियों पर अपना अधिकार जमा कर राज्य की स्थापना की। गम्पलोवीज़ (Gumplowiez) पहला राजनीतिज्ञ है जिसने "जाति युद्ध" (Race-struggle) नामक पुस्तक में पहले पहल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके पश्चात् आस्ट्रिया इङ्गलेण्ड और जर्मनी में जिङ्गस तथा वार्ड ने इस पर और भी प्रकाश डाला। इन सबने यह सिद्ध किया कि आरम्भ से ही छोटे छोटे गिरोहों में सम्पत्ति के लिये युद्ध होता रहा है। जो सबसे शक्तिशाली होता था वही गिरोह सब पर शासन करता था। इसी प्रकार बली गिरोह शासक हुआ और दुर्बल गिरोह उसकी प्रजा हुई और यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। जर्मनी के दार्शनिक 'ओपेन हेम' (Oppenheimer) का विचार है कि प्राचीन काल में राज्य की उत्पत्ति शेर और भेड़िये के युद्ध की भाँति हुई थी। 'केरी' नामक राजनीतिज्ञ लिखता है, जिस प्रकार लुटेरों के झुण्ड किसी की सम्पत्ति को लूट लिया करते हैं उसी तरह थोड़े से बलवान व्यक्ति अपनी शक्ति द्वारा बहुत से मनुष्यों पर राज्य करने लगे। उन्हीं के हुक्म क़ानून कहलाये।

आरम्भ में पृथ्वी जंगलों से ढकी हुई थी। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य इन जंगलों में घूम घूम कर जंगली जानवरों का शिकार करते थे। इसी से वे अपना पेट भरते थे। जब जंगली जानवरों की संख्या कम होने लगी और जनसंख्या बढ़ने लगी तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि वे जानवरों को पाले तथा जंगलों को साफ कर खेती आदि करें। जिस गिरोह में अधिक व्यक्ति थे उसने जङ्गल के बहुत बड़े हिस्से पर अपना अधिकार जमा लिया। शेष गिरोहों को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि यह सारा कार्य चन्द वर्षों में ही समाप्त हो गया। सदियों तक यह युद्ध चलता रहा। कभी एक गिरोह की विजय होती तो कभी किसी और की। दो गिरोहों में सीमा के लिये भी संघर्ष होता

था। एक ही गिरोह में पद के लिये भी लड़ाइयाँ चलती रहती थीं। अन्त में जो सब से बली था वही राजा बना। जो उसके सहायक थे वे राज्य के कर्मचारी बने। सम्पूर्ण विरोधी दल को विवश होकर प्रजा बनना पड़ा। प्रजा को विवश होकर राजा की आज्ञा पर चलना पड़ता था। आरम्भ में इस आज्ञा पालन के लिये कड़ी यातनायें देनी पड़ती थीं। पर समय के प्रवाह मे मनुष्य आज्ञा पालन का आदी होगया और उसने सहर्ष राजसत्ता को स्वीकार कर लिया।

आज भी बीसवीं सदी में शक्ति का महत्व कम नहीं है। एक राज्य दूसरे के ऊपर तलवार बन्दूक की सहायता से अपना अधिकार जमा लेता है। अभी हाल मे इटली ने अबीसीनियाँ पर अपना अधिकार स्थापित किया है। यदि इटली के पास अबीसीनियाँ से अधिक शक्ति न होती तो वह उस पर कभी भी अपना अधिकार न जमा पाता। जापान आज तीन वर्षों से चीन को हड़पना चाहता है। यदि चीन के पास काफी शक्ति होती तो वह जापान को कभी भी अपनी भूमि पर लड़ाई न लड़ने देता। जर्मनी और नार्वे का युद्ध अभी जारी है। मालूम नहीं इस युद्ध का क्या परिणाम होगा। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि यदि जर्मनी की शक्ति वास्तव में काफी है तो अब वह नार्वे पर अपना अधिकार किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि शक्ति के ह्रास के कारण एक देश अपनी राजसत्ता को खो बैठता है। साथ ही जिसकी शक्ति अधिक होती है वह दूसरे राज्यों पर अपना अधिकार जमा लेता है। जर्मनी की लड़ाई के पहले जो संसार के पाँच बड़े राज्य थे वे इसी शक्ति के फल-स्वरूप स्थापित किये गये थे। बड़ी लड़ाई ने चार साम्राज्यों को चकना चूर कर दिया। केवल ब्रिटिश साम्राज्य कायम रह गया। यदि ब्रिटिश साम्राज्य के पास जीवित रहने की शक्ति न होती तो वह भी अन्य साम्राज्यों की भाँति छिन्न भिन्न हो गया होता। रोम साम्राज्य भी, जो पृथ्वी पर सबसे बड़ा साम्राज्य माना जाता है शक्ति द्वारा ही जीवित रह सका। यदि नेपोलियन बोनापार्ट की तरह वीर उत्पन्न न होता तो रोम साम्राज्य का अन्त न हुआ होता। इन उदाहरणों से मेरा तात्पर्य यह है कि राज्य की

स्थापना में शक्ति एक बहुत बड़ी चीज़ है। इसलिये शक्ति सिद्धान्त एक झूठी कल्पना नहीं है। आज भी यदि कोई शक्ति-शाली व्यक्ति विश्व में जन्म ले ले तो वह जगत में एकतन्त्र राज्य स्थापित कर सकता है। सिकन्दर महान ने जो साम्राज्य स्थापित किया था वह उसकी निजी-शक्ति का परिणाम था।

इक़रार सिद्धान्त Social Contract Theory

४—उपर्युक्त सिद्धान्तों में सत्य का अंश थोड़ा बहुत अवश्य पाया जाता है। इतिहास में भी उनका वर्णन प्रायः आता है। तर्क की दृष्टि से भी उनमें वास्तविकता का अंश कम नहीं है। आज भी एक बहुत बड़ा वर्ग धर्म का पक्षपाती है। शक्ति की मर्यादा अब भी दृढ़ है। आर्थिक युद्ध किसी न किसी रूप में अब भी चल रहा है। इकरार सिद्धान्त एक बिलकुल काल्पनिक चीज़ है। इतिहास इसका क़तई समर्थन नहीं करता। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्राचीन इतिहास को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखते हैं। इसीलिये इसमें सत्य का अंश बहुत कम है। इस सिद्धान्त के मानने वाले मुख्य तीन दार्शनिक हैं :—हाब्स, लाक, तथा रूसो—(Hobbes Locke; and Rousseau) इनके विचार को हम अलग अलग रखना चाहते हैं।

इकरार सिद्धान्त के तीन मुख्य अंग हैं :—

(१) स्वाभाविक युग

(२) इकरार

(३) सामाजिक संगठन

इकरार सिद्धान्त के अंग

इन्हीं तीन अङ्गों पर इस सिद्धान्त का दारोमदार है। ये तीनो अंग राज्य की उत्पत्ति के तीन क्रमशः युग माने गये हैं। स्वाभाविक युग इनमे सर्वप्रथम आता है। इसी को इतिहास का सर्व प्रथम काल कहा गया है। इसमें मनुष्य पूर्णतया प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक नियम ही कानून समझे जाते थे। इसके बाद दूसरा युग इकरार का आरम्भ होता है। प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य को कुछ कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। इन्हीं

को दूर करने के लिये सर्व सम्मति से इकरार किया गया कि कोई सामाजिक व्यवस्था बनाई जाय। इसके पश्चात् मनुष्य एक तीसरे युग मे प्रवेश करता है। उस युग को सामाजिक संगठन का युग कहा गया है। प्राकृतिक जीवन का अन्त हुआ और सुसंगठित सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। इसी युग मे राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण हुआ। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने अधिकार और कर्तव्य का ज्ञान हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त कोई नई चीज़ नहीं है। अफलातून के पहले भी सूफो लोग इस सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। सुकरात स्वयं कहता था कि किसी को राज्य नियम तोड़ने का अधिकार नही है क्योकि उसने उनके पालन करने का इकरार किया है। यूनान तथा रोम के अन्य दार्शनिक इकरार सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। अरस्तू इसका कट्टर विरोधी है। रोम के नीतिज्ञ किसी न किसी रूप मे स्वाभाविक नियम (Natural Law) मे विश्वास करते थे। मध्यकाल में इकरार की भावना काफी अंश मे पायी जाती है। फ्यूडल प्रथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इकरार से समाज का संगठन हो सकता है। इसके पश्चात् हाब्स, लाक और रूसो ने १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी मे वैज्ञानिक ढग से इकरार सिद्धान्त का समर्थन किया।

हाब्स का इकरार सिद्धान्त

१—१७ वीं शताब्दी के मध्यकाल में अपनी 'लेभियाथन' (Leviathan) नामक पुस्तक मे 'हाब्स' ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। 'हाब्स' चार्ल्स प्रथम का सामयिक था। उसके सामने ही पार्लियामेन्ट तथा चार्ल्स प्रथम का युद्ध हुआ था। युद्ध की भीषणता का भयानक चित्र हाब्स के दिमाग़ में भलीभाँति चित्रित था। हाब्स स्वभाव से ही डरने वाला था। वह लड़ाई झगड़े से घृणा करता था। शान्ति का पुजारी था। मिल्टन की तरह उसे भी अपने प्राण का अत्यन्त लोभ था। वह चार्ल्स प्रथम का समर्थक था। उसका यह विश्वास था कि जब राजा सर्वशक्तिमान हो जायगा तो लड़ाई-झगड़े अपने आप समाप्त हो जायेंगे। इन्हीं सब बातो को ध्यान में रखते हुये उसके हृदय मे इकरार सिद्धान्त की भावना जागृत हुई। जब हाब्स ने देखा कि कोई

भी उसके राजतंत्रवाद का समर्थन नहीं कर सकता तो उसने इतिहास के एक युग की कल्पना की और इस युग का नाम प्राकृतिक युग रख दिया।

हाब्स का कहना है कि मनुष्य का आरम्भ प्राकृतिक युग से होता है। मनुष्य स्वभाव से ही समान है। यदि एक में शारीरिक शक्ति अधिक है तो दूसरे मे बुद्धि अधिक है। समानता की यह भावना मनुष्य को युद्ध की ओर अग्रसर करती है। मनुष्य एक दूसरे की वृद्धि देखने मे सर्वथा असमर्थ है। यही कारण है कि प्राकृतिक युग मे मनुष्य आपस मे लड़ता रहा। युद्ध का एक कारण और भी है। हाब्स मनुष्य के मस्तिष्क को बुराइयों का घर बतलाता है। इन्हीं से प्रेरित होकर मनुष्य कभी भी शान्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक युग लड़ाइयों का युग कहा जाता है। मनुष्यों का कोई भी आपस में संगठन न था। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे को अपना शत्रु समझता था। उसका जीवन जंगली था। न उसके पास कोई घर था, न व्यवसाय, न हथियार, न बुद्धि, और न उसे समय बिताने का ढंग ही मालूम था। उसे किसी भी प्रकार की कला का ज्ञान न था। वह निरा जंगली और मूर्ख था। प्रतिक्षण उसे भय और मृत्यु के बन्धन मे रहना पड़ता था। मनुष्य का जीवन सभी प्रकार से दुखी और घृणित था।* जिसकी लाठी उसकी भैंस का जमाना था। प्राकृतिक नियम ही उसके नियम थे। मनुष्य को यह ज्ञान नहीं था कि बुरे और भले में क्या भेद है। किसे न्याय और अन्याय कहते हैं।

हाब्स लिखता है कि उन्नीस प्राकृतिक नियमों का मनुष्य पालन करता था। अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य के विचार में कौन सी बात आई जिसने उसे समाज संगठन की ओर प्रवृत्त किया। हाब्स का कहना है कि चार कारणों से मनुष्य सामाजिक संगठन की ओर झुका :—

१—स्वाभाविक जीवन में उसे प्रतिक्षण मृत्यु का भय लगा रहता था। सामाजिक जीवन में उसे यह भय नहीं था।

---

* The life of man was solitary, poor, nasty, brutish short.

२—स्वाभाविक जीवन मे मनुष्य की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी। यद्यपि मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत थोड़ी थी फिर भी उनकी पूर्ति नहीं हो पाती थी। इन्ही की पूर्ति के लिये वह सामाजिक संगठन का इच्छुक हुआ।

३—स्वाभाविक जीवन मे मनुष्य को अपनी शक्ति का उचित फल नहीं मिल पाता था। उसकी शक्ति के प्रयोग के लिये कोई भी स्वतंत्र और सुरक्षित क्षेत्र नहीं था। अपने परिश्रम से पूरा पूरा फल उठाने की आशा से उसे एक समाज बनाने की इच्छा हुई।

४—स्वाभाविक जीवन मे मनुष्य अशान्तिमय ज़ीवन व्यतीत करता था। मनुष्यो के अतिरिक्त जंगली जानवरों का उसे भय लगा रहता था। कोई भी ऐसे नियम न थे जिनसे मनुष्य एक दूसरे की स्वतंत्रा का ध्यान रखता। अशान्ति को दूर कर शान्ति की स्थापना के विचार से उसे नियम बनाने की आवश्यकता पड़ी। बिना सामाजिक संगठन के ये नियम कभी भी लागू नही हो सकते थे। इसीलिये उसे एक समाज-रचना की आवश्यकता पड़ी।

सारांश यह है कि अपने जीवन की रक्षा तथा शान्ति के निमित्त मनुष्य को समाज-संगठन की आवश्यकता पड़ी। परन्तु यह संगठन तब तक सम्भव नहीं था जब तक प्राकृतिक नियम के स्थान पर सभी लोग सामाजिक नियमो का पालन न करते। एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता थी जो सभी व्यक्तियो को एक सूत्र मे बाँध देती। इसी शक्ति को पैदा करने के लिये सब ने आपस में इकरार किया। प्रत्येक मनुष्य ने एक व्यक्ति अथवा एक समूह को अपना सारा अधिकार समर्पित कर दिया। इकरार के शब्द हाब्स के शब्दो मे इस प्रकार है।* इस इकरार के बन्धन से

* I authorise and give up my right of governing myself to this man or assembly of men on this condition that thou give up thy right to him or to this assembly of men and authorise his or its actions in like manner.

एक सामाजिक संगठन का निर्माण हुआ। इसी से एक राजनैतिक संगठन भी बनाया गया। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। एक व्यक्ति अथवा कोई व्यक्ति समूह सम्पूर्ण समाज का राजा हुआ। सारी राजनैतिक शक्ति उसके हाथ में आ गई। सब लोगों ने प्रसन्नता पूर्वक उसकी आज्ञाओं को पालन करना प्रारम्भ किया।

लाक का इक़रार सिद्धान्त

२—इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादको ने अपने अपने काल का इतिहास ही वर्णन किया है। उनके कथन मे राजनैतिक आभास कम है। लाक का जन्म उस समय हुआ जब कि इंगलैंड में एक महान क्रान्ति हो चुकी थी। इंगलैंड का शासन स्टुअर्ट वंश से निकल कर विलियम और मेरी के हाथ मे चला गया था। राजा के अत्याचार से लोग घवड़ा गये थे। प्रजातंत्र राज्य की स्थापना के लिये सभी लोग उत्सुक थे। वे राजा की शक्ति को कम कर पार्लियामेंट का राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसीलिये जेम्स द्वितीय को निकाल कर हालैंड से विलियम और मेरी को बुलाया गया था। लाक का इकरार सिद्धान्त इसी परिस्थिति का समर्थन करता है। इस ऐतिहासिक घटना को छोड़ कर लाक के सिद्धान्त मे कोई नई चीज नहीं है। हाव्स के सिद्धान्त से वह सहमत नही है।

लाक ने अपना सिद्धान्त 'शासन की विवेचना'* नामक पुस्तक में वर्णन किया है। वह लिखता है कि आरम्भ मे मनुष्य जंगलो मे रहता था। न उसका कोई सगठन था और न समाज। जानवरो के झुंड की तरह वह इधर उधर घूमता था और जंगली जीवों को मार कर अपना पेट भरता था। परन्तु लाक इस जंगली जीवन की बड़ी ही सराहना करता है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन मे व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र था। उसके कार्य मे किसी तरह की रुकावट नहीं पड़ती थी। वह अपनी सम्पत्ति को जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता था। वह किसी भी प्रकार से औरों का दास नहीं था। कुछ थोड़े से स्वाभाविक नियम को ही उसे मानना पड़ता था। स्वाभाविक जीवन की दूसरी विशेषता समानता थी। प्राणीमात्र

---

* Treatises on Civil Government

मे किसी भी प्रकार की विषमता नहीं थी। सभी मनुष्य बराबर थे। धनी, गरीब, विद्वान, मूर्ख इस प्रकार के भेद भाव जीवन के किसी भी अंग मे दिखलाई नहीं पड़ते थे। तात्पर्य यह है कि लाक के कथनानुसार प्राकृतिक जीवन मे पूर्ण शान्ति थी, लोग एक दूसरे के सहायक थे। साथ ही उनके अन्दर औरो के प्रति सद्भाव थे। इस प्रकार 'लाक' का सिद्धान्त 'हाब्स' से बिलकुल विरुद्ध है। हाब्स' का प्राकृतिक जीवन अत्यन्त घृणित और लड़ाइयो से परिपूर्ण है। इसके विपरीत 'लाक' का प्राकृतिक जीवन स्वर्ग की बराबरी करता है।

प्रश्न यह उठता है कि जब प्राकृतिक जीवन मे इतनी सुविधायें थीं तो सामाजिक जीवन की क्या आवश्यकता पड़ी। 'लाक' लिखता है कि मनुष्य को कुछ असुविधाये थी। यदि किसी प्रकार की आपस में शत्रुता हो जाती तो उसका फैसला करने वाला कोई न था। किसी एक न्यायाधीश की आवश्यकता थी। उन्हें एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता थी जो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्यो का ज्ञान कराती। यदि कोई इनका उलघन करता तो वह शक्ति उसे उचित दण्ड देती। प्राकृतिक जीवन मे एक दूसरी असुविधा भी थी। लोगो का जीवन स्थायी नहीं था। किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न थी। जब कोई अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करता तो उसे ठीक मार्ग पर लाने वाला कोई भी न था। इसीलिये दो प्रकार के इकरार किये गये। पहले इकरार से तो एक सामाजिक संगठन* की उत्पत्ति हुई। सामाजिक संगठन के पश्चात् सबने मिल कर एक दूसरा सगठन और बनाया। इसे राजनैतिक सगठन† कहते हैं। पहले इकरार से समाज की रचना हुई और दूसरे से सरकार की उत्पत्ति हुई।

रूसों का इकरार सिद्धान्त

१७६२ ई० मे 'रूसो' ने सामाजिक इकरार‡ नामक पुस्तक लिखी थी। यह फ्रान्स का रहने वाला था। उसके सामने फ्रान्स की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। फ्रान्स के राजा का जीवन बहुत ही घृणित था।

---

* Communal contract

† Governmental contract

‡ Social contract

थोड़े से अमीर लोग सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। साधारण जनता गरीबी के कारण व्याकुल थी। उनके ऊपर इतने टैक्स लदे हुये थे कि उनके बोझ से प्रजा दबी हुई थी। बड़ी ही बेरहमी के साथ उनसे बेगार ली जाती थी। राजनैतिक और सामाजिक दोनों बन्धनों से जनता इतनी बँधी हुई थी कि वह रात दिन अपने उद्धार की चिन्ता कर रही थी। इसी समय में रूसो ने अपनी पुस्तक लिखी थी। उसके सामने यही प्रश्न न था कि प्रजा को स्वतंत्रता कैसे मिले, तथा बादशाह की सख्तियों से उसे किस प्रकार बचाया जाय बल्कि उसे यह भी चिन्ता थी कि किस प्रकार की राजनैतिक शक्ति से प्रजा का शासन होना चाहिये। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 'रूसो' ने अपना एक नवीन इकरार सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जो 'हाब्स' और 'लाक' दोनो से भिन्न है। आरम्भ में ही वह लिखता है "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है परन्तु वह चारों ओर बन्धनों से बँधा हुआ है"।*

'रूसो' ने भी एक प्राकृतिक जीवन की कल्पना की है। वह लिखता है कि प्राकृतिक जीवन मे मनुष्य पूर्ण रूप से स्वस्थ और प्रसन्न था। वह भलीभाँति संगठित था। वह जंगलों मे घूम कर अपना जीवन व्यतीत करता था। पेड़ के नीचे वह शयन करता था। उसका शरीर बड़ा ही मजबूत, सुन्दर और सुडौल था। उसे कभी किसी दवा की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जब से मनुष्य समाज मे प्रवेश किया तब से उसके अन्दर कमजोरी बढ़ती गई। स्वास्थ्य में भी वह अवनति करता गया। स्वाभाविक जीवन में मनुष्य की आवश्यकताये बहुत थोड़ी थीं। ज्ञान के अभाव के कारण उसके अन्दर किसी भी प्रकार की परीशानी न थी। न तो मनुष्य के पास कोई घर था, न झोपड़ी और न कोई सम्पत्ति। स्त्री-पुरुषो में विवाह आदि का रसम न था। लोग एक दूसरे की बोली भी नहीं समझते थे। एक मनुष्य से दूसरे का कोई सम्बन्ध न था। किसी को भलाई बुराई नेकी तथा बदी आदि का कुछ भी ज्ञान न था। हर एक मनुष्य अपने को स्वतंत्र समझता था। शरीर तथा मन दोनो से वह स्वस्थ था। मनुष्य सभी बुराइयो से सर्वथा रहित

---

* Man is born free; and everywhere he is in chains.

था। हम और तुम का भाव उसके अन्दर बिलकुल न था। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त सरल और सुखमय था।

इसी प्राकृतिक जीवन काल मे मनुष्य को सम्पत्ति की लालसा हुई। आपस के सहयोग से उसके अन्दर ज्ञान की वृद्धि हुई। ज्ञान के कारण उसकी आवश्यकतायें बढ़ीं। यही से व्यक्तिगत धन की उत्पत्ति हुई और समाज मे विषमता की नीव पड़ी। आरम्भ में किसी मनुष्य ने थोड़ी सी भूमि अपने अधिकार में कर ली और वही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति कहलाई।*

रूसो लिखता है कि प्राकृतिक जीवन की यह अन्तिम अवस्था थी। अपना तथा पराये का प्रश्न उठते ही स्वर्गीय जीवन का अन्त हो गया। इसके पश्चात् तरह तरह की कठिनाइयाँ आने लगीं। जङ्गल के टुकड़े टुकड़े आपस मे बाँटे जाने लगे। एक दूसरे में छीना झपटी आरम्भ हुई। पत्थर तथा लकड़ी के तरह तरह के हथियार प्रयोग मे आने लगे। छोटे छोटे घर भी बनने लगे। जनसंख्या की वृद्धि होने लगी। विलासी जीवन की नींव पड़ी। लोगों को अपने सुख का ध्यान हुआ। लोग एक दूसरे के सम्पर्क मे आने लगे। एक प्रकार का सामाजिक संगठन उत्पन्न हुआ। प्रेम के साथ साथ घृणा की उत्पत्ति हुई। सहन शीलता के साथ ही क्रोध का प्रादुर्भाव हुआ।

रूसो ने प्राकृतिक जीवन को स्वर्ग ठहराया है। वह लिखता है कि जब तक मनुष्य प्राकृतिक जीवन मे निवास करता था, जब तक उसकी आवश्यकतायें कम थीं, तब तक उसे किसी भी प्रकार की चिन्ता न थी। उसका जीवन अत्यन्त सरल और शुद्ध था। उसे हम और तुम का ज्ञान नही था। रूसो के ही शब्दो मे मैं प्राकृतिक जीवन की सराहना करना चाहता हूँ। वह लिखता है :—
"So long as men remained content with their rustic huts, so long as they were satisfied with clothes made

---

* The first man who having enclosed a peace of ground bethought himself of saying. This is mine and found people simple enough to believe him, was the real founder of the Civil Society.

of the skins of animals and sewn together with thorns and fish-bones, adorned themselves only with feathers and shells, and continued to paint their bodies with different colours, to improve and beautify their bows and arrows and to make with sharp edged stones fishing boats or clumsy musical instruments; in a word, so long as they undertook only what a single person could accomplish, and confined themselves to such arts as did not require the joint labour of several hands, they lived free, healthy, honest and happy lives."

इस प्रकार रूसो ने प्राकृतिक जीवन को सभी सुखों का घर माना है। इसके विपरीत सामाजिक जीवन सभी बुराइयों से परिपूर्ण है। कोई भी यह पूछ सकता है कि जब प्राकृतिक जीवन इतना सुखमय था तो सामाजिक जीवन में आने की क्या आवश्यकता थी। क्यों मनुष्य स्वर्गमय जीवन को छोड़ कर नरक की ओर प्रस्थान किया ?

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक है। दूसरों की सहायता के बिना वह जीवित नहीं रह सकता। जब से मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क में आया तब से समता का अभाव दिखाई पड़ने लगा। लोगों को सम्पत्ति की आवश्यकता पड़ी। उसकी रक्षा के लिये घर भी बनवाने पड़े। कार्य करने के लिये स्वामी और दास की उत्पत्ति हुई। रूसो का कहना है कि प्राकृतिक जीवन को छोड़ कर मनुष्य ने बड़ी भूल की। इसी का फल है जो आज वह तरह तरह की मुसीबतों में पड़ा हुआ है। अपनी 'सामाजिक इकरार' नामक पुस्तक में उसने सामाजिक जीवन के सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनसे मनुष्य समाज में रहते हुये सुख पूर्वक रह सकता है। यहाँ पर रूसो और फ्रान्स की राज्यक्रान्ति (French revolution)। दोनों के उद्देश्य एक हो जाते हैं। दोनों ही विषमता को हटा कर समता, स्वतन्त्रता और सद्भाव की स्थापना करना चाहते हैं। प्राकृतिक जीवन के पश्चात् सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ। धातु की उत्पत्ति और कृषि इन दोनों ने सामाजिक जीवन

की वृद्धि की। सोने, चाँदी, लोहा और अन्न इनसे मनुष्य की वाह्य सभ्यता तो बढ़ी किन्तु उसके भीतर के भाव विगड़ते गये। सभी प्रकार की सुविधाओ की उत्पत्ति होती गई। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का दास वनता गया। उसकी आरम्भिक स्वतन्त्रता का सर्वथा लोप हो गया। सामाजिक नियम और उपनियम के जाल मे वह सर्वथा जकड़ दिया गया। धनी गरीब सभी एक दूसरे पर निर्भर रहने लगे। सब के अन्दर लोभ, ईर्ष्या और डाह पैदा होने लगे। लड़ाई-झगड़े की इतनी वृद्धि हुई कि लोगो का जीवन अत्यन्त दुखी हो गया। सब लोग एक नये जीवन की आशा करने लगे। इसी की पूर्त्ति के लिये सब ने मिलकर एक इकरार किया।

रूसो का इकरार एक राजनैतिक जीवन की उत्पत्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण अधिकार समाज को अर्पित कर दिया। किसी भी प्रकार का अधिकार एक भी व्यक्ति ने अपने पास न रक्खा। इस प्रकार* जिस समूह को सम्पूर्ण व्यक्तियो की शक्ति प्राप्त हुई वही शासक हुआ। उस शक्ति को रूसो ने (General will) "सामूहिक विचार" कहा है। यही से राज्य की उत्पत्ति हुई।

उपयुक्त सिद्धान्तों की आलोचना

दैवी सिद्धान्त धर्म की उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है। इस बीसवीं सदी मे समाज को कोई भी ईश्वर की रचना नही मान सकता। सम्पूर्ण सृष्टि मनुष्य की रचना है। जो भी वस्तुये हमे दिखाई पड़ती हैं वे सब मनुष्य की करतूत है। ईश्वर को उनका कारण मानना अन्ध विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शक्ति सिद्धान्त एक क्षणिक वस्तु है। शक्ति के सहारे कोई भी चीज़ थोड़े दिनो तक ठहर सकती है। शक्ति के घटते ही वह चीज़ अपने आप बिगड़ जायगी। राजनैतिक सगठन एक स्थाई वस्तु है। यदि केवल शक्ति द्वारा इसकी उत्पत्ति हुई होती तो अब

---

* "Each of us puts his own person and all his power in common under the supreme direction of the general will and in our corporate capacity, we receive each member as an indivisible part of the whole."

तक इसका नाश हुये बिना न रहता। शक्ति और सहयोग इन दोनो मे विरोध है। समाज में हमे चारों ओर सहयोग दिखाई पड़ता है। कोई भी व्यक्ति दबाव के कारण सहयोग प्राप्त नही कर सकता। आर्थिक सिद्धान्त एकाङ्गी है। मनुष्य की सारी आवश्यकताये धन से ही पूरी नहीं हो सकतीं। समाज की आवश्यकताओं में केवल एक अंग की पूर्ति धन से हो सकती है। मनुष्य को संगठन मे लाने का सम्पूर्ण श्रेय धन को ही प्राप्त नहीं है। सरकार की उत्पत्ति धन की ही व्यवस्था को ठीक करने के लिये नहीं हुई है। राज्य में मनुष्य की उन्नति के लिये जो जो काम होते हैं वे सब धन से ही सम्बन्ध नहीं रखते। इकरार सिद्धान्त एक ऐतिहासिक कल्पना है। इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि कोई भी इतिहास यह वर्णन नहीं करता कि प्राकृतिक जीवन कब और कैसा था। स्वयं इस सिद्धान्त के मानने वाले एक ही प्राकृतिक काल को कई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनके कथानक मे थोड़ी भी समता नहीं है। तर्क की दृष्टि से इनका क्रम भी ठीक नहीं है। बिना किसी समाज के अधिकार की उत्पत्ति असम्भव है। प्राकृतिक अधिकार का ठीक ठीक अर्थ किसी ने भी नहीं किया है।

इकरार सिद्धान्त को मानने मे एक बहुत बड़ा भय है। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति एक या दो दिन में ही की जाती है। इससे किसी भी राज्य को तोड़ कर नये राज्य की स्थापना की जा सकती है। यही कारण है कि रूसो के सिद्धान्त से फ्रान्स की राज्यक्रान्ति मे बड़ी सहायता मिली। अमेरिका की स्वतन्त्रता मे भी इन सिद्धान्त-वादियों का काफी प्रभाव पड़ा था। राज्य एक या दो दिन की वस्तु नहीं है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के स्वभाव और रहन-सहन से है। इसका विकास मनुष्य के जीवन के साथ ही हुआ होगा। वैज्ञानिक दृष्टि से इकरार सिद्धान्त अधूरा है। इतिहास यह वर्णन करता है कि मनुष्य का आरम्भिक जीवन व्यक्तिगत न था। वह सामूहिक गिरोह का जीवन था। परन्तु कोई भी इकरार वादी इसे मानने को तैयार नहीं है। इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति के ये सभी सिद्धान्त गलत हैं। ज्ञान की दृष्टि से इनकी थोड़ी बहुत उपयोगिता हो सकती है, लेकिन राज्य की

उत्पत्ति में इनसे कोई भी सहायता नहीं मिलती। जिन विद्वानों ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्होने किसी न किसी व्यक्तिगत दृष्टिकोण को सामने रख कर अपना सिद्धान्त वर्णन किया है। प्रत्येक सिद्धान्त अपने काल की ऐतिहासिक घटना पर पूरा प्रकास डालता है। राज्य की उत्पत्ति का वैज्ञानिक सिद्धान्त दूसरा है। इसे 'ऐतिहासिक' या 'विकास' सिद्धान्त कहते हैं। सभी दृष्टियो से यह सिद्धान्त पूर्ण है और चारो ओर से सर्वमान्य है।

ऐतिहासिक या विकास सिद्धान्त

जब हम किसी वृक्ष की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह तुरन्त ख़याल होता है कि इसे बढ़ने मे कई वर्ष लगे होगे। जो वृक्ष जितना ही स्थायी होता है उसे बढ़ने मे उतना ही अधिक समय लगता है। रेड़ का पेड़ जल्दी ही तैयार होता है, लेकिन उसकी आयु भी अधिक से अधिक एक या दो वर्ष की होती है। ताड़ का वृक्ष वर्षों तक एक समान पड़ा रहता है। परन्तु उसे बढ़ने मे भी बीसो वर्ष लगते है। मानव समाज भी एक वृक्ष की तरह है। यह एक स्थायी वस्तु है। इसकी सूरत चाहे जैसी भी हो जाय लेकिन सगठन छिन्न भिन्न नही हो सकता। जिस प्रकार कोई वृक्ष एक दिन मे तैयार नहीं हो सकता उसी तरह राज्य की उत्पत्ति भी एक दिन की चीज़ नहीं है। सदियो मे इसका विकास हुआ है। इतिहास यही बतलाता है कि मनुष्य स्वयं एक विकसित प्राणी है। डार्विन का कहना है कि आरम्भ मे मनुष्य बन्दर था। उसी तरह वह पेड़ो पर रहता था और कूद कूद कर चलता था। उसकी शकल भी बन्दर की तरह थी। अफ़्रीका के जंगलो मे अब भी बन मानुष पाये जाते हैं। वे आधे मनुष्य और आधे बन्दर होते हैं। विकास होते होते बन्दर ही मनुष्य बन गया। इसी प्रकार मनुष्य-रचित जितनी भी वस्तुये हैं वे सब विकास सिद्धान्त पर निर्भर है। मानव समाज भी एक विकसित वस्तु है। राज्य की उत्पत्ति भी विकास सिद्धान्त से ही समझी जा सकती है। राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की उन्नति की एक विशेष अवस्था से सम्बन्ध रखती है। जब तक हम मनुष्य का क्रमशः विकास अध्ययन न करेगे तब तक हमारा

ज्ञान सामाजिक विषयों मे अधूरा रहेगा। इस विकास सिद्धान्त को हम कई अवस्थाओ में बाँट सकते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था

आरम्भ मे मनुष्य झुडो अथवा गिरोहों में रहता था। उसका न कोई घर था और न कोई कुटुम्ब। उसे यह भी ज्ञान न था कि कौन उसका माता है और कौन पिता। उसके पास किसी भी प्रकार की सम्पत्ति न थी। वह बिलकुल असभ्य था और जंगली जीवो को मार कर अपना पेट पालता था। जिस प्रकार जंगली जानवर झुड के झुंड घूमते रहते हैं उसी तरह मनुष्य भा झुंड का झुड घूमता था। उसे किसी भी कला का ज्ञान न था। वह नंगे बदन रहता था और हाथ ही उसका हथियार था। पेड़ो के नीचे वह शयन करता था और नदी अथवा नालो से पानी पीता था। जानवर और उसके जीवन मे कोई भी भेद भाव न था। जैसे जानवरो मे थोड़ा बहुत संगठन होता है, कोई स्वामी होता है, कोई रक्षक और कोई नौकर, उसी प्रकार मनुष्यों के झुण्ड मे भी इसी तरह की व्यवस्था थी। सारी पृथ्वी जंगलो से ढंकी थी। न कोई गॉव था और न घर। पृथ्वी पर या तो जंगल थे या नदी अथवा पहाड़। जिस प्रकार एक ही प्रकार के जानवर आपस मे झुण्ड के झुण्ड अलग अलग रहते हैं, और दूसरे प्रकार के जानवरों से अपने को अलग रखते हैं, उसी तरह मनुष्य भी अपने झुण्ड को और जानवरो से अलग रखता था। इसका अर्थ यह नहीं है कि और जानवरो से वह डरता था। भय तो उसे छू भी नही सकता था। वह उसी तरह खूँख्वार था जैसे शेर और चीते। आज भी जंगली मनुष्यो में भय नहीं पाया जाता। उनके बच्चे साँप और बिच्छू से थोड़ा भी नहीं डरते है।

इसी दशा मे मनुष्य सदियो पड़ा रहा। इसके पश्चात् उसकी रहन सहन मे परिवर्तन हुये। इसके कई कारण हैं। जङ्गल मे दावाग्नि का लगना एक स्वाभाविक बात है। दो पेड़ आपस मे टकरा कर अग्नि पैदा कर देते हैं। आज कल भी जब जङ्गलों मे आग लगती है, तो वह अग्नि वहीं पैदा होती है। मनुष्य ने जब देखा कि दावाग्नि लगने से जङ्गल का बहुत सा हिस्सा

साफ हो गया तो उसकी इच्छा हुई कि क्यों न जङ्गलों को साफ करके जानवरों को पाला जाय। झुण्ड के झुण्ड मनुष्य जङ्गलों को साफ करने लगे और जङ्गली जानवरो को पालने लगे। लेकिन अभी उनके पास न कोई घर था और न कोई संगठन। जब जङ्गली जानवरों का ढेर सा उनके पास इकट्ठा हो गया तो उनके देख-भाल की आवश्यकता पड़ी। कहा जाता है कि पहिले जानवर जो पाले गये थे बिल्ली और कुत्ते थे। इसके बाद चूहे पाले गये। फिर भेंड़, बकरी, गाय आदि धीरे धीरे पाले जाने लगे। अब कुछ लोग उनकी देखभाल रखने लगे। यहाँ से मनुष्य का जीवन एक दम बदलने लगा। उसकी हिंसक प्रवृत्तियाँ घटने लगीं। उसके अन्दर दया और मेल की भावना उत्पन्न हुई। अब तक उसे एक स्थान पर रहने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लेकिन जब उसके पास जङ्गली जानवरो का ढेर सा हो गया तो उसे विवश होकर एक स्थान पर रहना पड़ा। जब सैकड़ों मनुष्यों का झुण्ड एक जगह रहने लगा तो आपस में विवाह शादी की प्रथा भी चली। रसम रवाज भी बनाये गये। देवी देवताओं की पूजा भी आरम्भ हुई। प्राकृतिक वस्तुओं को लोग देवता समझ कर पूजते थे। जिन जिन वस्तुओ से उन्हें लाभ पहुँचता था उन्हें वे देवता मानने लगे। अग्नि, वायु, जल, धूप, शीतलता, इन सबको वे देवता मानते थे। स्त्रियों को जङ्गली जीवों की रक्षा का भार सौंपा गया। जब पुरुष शिकार करने के लिये बाहर चले जाते थे तो स्त्रियाँ जानवरों की रखवाली करती थीं और घरों की भी देख भाल करती थीं। लेकिन लोग अभी तक पेड़ों के नीचे ही रहा करते थे। उनके पास आज कल की सी झोपड़ियाँ भी न थीं।

कृषि और गृह निर्माण काल

जब मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगी और जङ्गली जीवों का अभाव हो गया तो विवश होकर उन्हें खेती करने की बात सोचनी पड़ी। शेष जङ्गलों को साफ किया गया और खेती आरम्भ हुई। यह खेती व्यक्तिगत ढंग पर नहीं होती थी। प्रत्येक झुण्ड शामिल ढंग पर खेती करता था। झुण्ड की सारी चीज़ें सम्मिलित समझी जाती थीं। स्त्रियाँ तक सम्मिलित होती

थीं। अमुक स्त्री का अमुक पति है यह भाव उस समय न था। कृषि की उन्नति होने लगी और पालतू जानवर भी बढ़ने लगे। फिर तो प्रत्येक झुण्ड के पास कुछ न कुछ सम्पति हो गई। सम्पत्ति के लोभ के कारण विभिन्न झुडो मे लड़ाइयाँ होने लगीं। अब तक लड़ाइयों में जो झुण्ड विजयी होता था वह हारे हुये झुण्ड वालों को जान से मार डालता था। लेकिन कृषि आरम्भ होने पर प्रत्येक झुण्ड को मज़दूरों की आवश्यकताये होती थीं। इसलिये जो झुण्ड लड़ाई में हार जाता उसे मज़दूर बना कर रख लिया जाता था। यहीं से स्वामी और सेवक की उत्पत्ति हुई। दासता या गुलामी की प्रथा चली। अनादि काल से चलती हुई दासता का अन्त अठारहवीं सदी में जाकर हुआ। परन्तु देखा जाय तो समाज में गुलामी किसी न किसी शकल मे आज भी मौजूद है। यह सम्मिलित जीवन शताब्दियों तक चलता रहा और प्रत्येक झुण्ड मे अनेक रसम रवाज उत्पन्न होते गये। उनमे एक तरह का संगठन भी पैदा होता गया। इस संगठन पर थोड़ा ध्यान देना चाहिये।

प्रत्येक झुण्ड का एक स्वामी होता था। उसकी आज्ञा सबको माननी पड़ती थी। यह व्यक्ति शरीर से बहुत ही बलवान हुआ करता था। झुण्ड में जो कोई झगड़े पैदा होते थे उनका फैसला यही व्यक्ति किया करता था। इसको यहाँ तक अधिकार था कि जिसे चाहे प्राण दंड दे सके। धार्मिक क्रियाओं मे वही व्यक्ति अगुआ रहता था। सम्मिलित सम्पत्ति का बटवारा इसी को करना पड़ता था। शादी विवाह का रवाज उस समय जरूर था, लेकिन वह आज कल की तरह न था। पुरुप और स्त्री सब मिल कर रहते थे। एक स्त्री के कई पति होते थे और एक पुरुप कितनी ही स्त्रियो का मालिक होता था। किसी के पास अपनी स्त्री, अपना लड़का इस तरह की सम्पत्ति न थी। यदि कोई व्यक्ति झुण्ड के नियमों का उलंघन करता तो मुखिया उसे शारीरिक दंड देता था। कभी कभी वह समूह से वहिष्कृत भी कर दिया जाता था। झुण्ड के पास सम्मिलित घर होते थे जो पेड़ों के पत्तों से बनाये जाते थे। अभी तक कच्ची दीवारे भी लोग बनाना नहीं जानते थे। चारों ओर बाँसो का घेरा बनाकर सब लोग रहते थे।

जङ्गली जीवन कम होने लगा और प्रत्येक झुण्ड कृषि कार्य में ही व्यस्त हो गया। भूमि के लिये झुण्डों में लड़ाइयाँ होती थीं। इसलिये प्रत्येक झुण्ड अपने अन्दर कुछ व्यक्तियों को लड़ाई के लिये ही तैयार रखता था। इनका काम झुण्ड की रक्षा करना और नई नई भूमि को जीतना था। इस रक्षक वर्ग की अपने झुण्ड मे बड़ी इज्ज़त होती थी। इन्हें मुफ्त अच्छा से अच्छा भोजन दिया जाता था। इनसे कोई काम नहीं लिया जाता था।

ग्राम की उत्पत्ति

जंगलों का जाल काट कर साफ़ कर दिया गया। सारी भूमि कृषि के लिये तैयार की जाने लगी। कुछ भूमि को केवल चराई के लिये छोड़ दिया जाता था। प्रत्येक झुण्ड एक गाँव सा बन गया। यद्यपि सम्पूर्ण खेती बारी सम्मिलित होती थी, परन्तु रहन सहन की सुविधा के लिये अलग अलग घर बनाये गये। स्थायी सम्बन्ध भी आरम्भ हुआ। जो जिससे विवाह करता या किसी तरह का घनिष्ठ नाता रखता वह उसी के साथ एक घर में रहने का अधिकारी होता था। इस प्रकार अलग अलग कुटुम्ब स्थापित हो गये। कुछ दिन तक समस्त कुटुम्बों की सम्पत्ति मिली जुली थी, लेकिन उनकी सुविधा के लिये सम्पत्ति भी अलग अलग बाँट दी गई। प्रत्यंक गाँव में सैकड़ो अलग अलग घर हो गये, सबकी अलग जायदाद हो गई और हर गाँव का एक प्रधान नियुक्त किया गया। यही प्रधान मुखिया कहलाता था। आज भी प्रत्येक गाँव मे एक मुखिया होता है, लेकिन उसकी कोई शक्ति नहीं है। आरम्भ में यह मुखिया ही गाँव का मालिक हुआ करता था। इसकी सम्पत्ति औरो से अधिक होती थी। सब लोग इसे आदर की दृष्टि से देखते थे। गाँव का झगड़ा मुखिया ही फ़ैसला करता था। इसे सभी प्रकार की शक्ति दी गई थी।

व्यवसायो की उन्नति

कृषि के साथ और भी व्यवसायों की उत्पत्ति हुई। कृषि में छोटे मोटे हथियारों की आवश्यकता पड़ती थी। कोई हल बनाने वाला चाहिये, कोई काटने के लिये हथियार तैयार करने वाला चाहिये। इसलिये प्रत्येक गाँव मे बढ़ई और लुहार की उत्पत्ति हुई। परन्तु जो लोग इस काम को करते थे उन्हें मज़दूरी नहीं दी जाती

थी। उन्हें उपज का एक निश्चित भाग दिया जाता था। नाई, धोबी, दर्जी, तेली, अहीर आदि अलग अलग अपना पेशा करते थे। उन्हें उपज का कोई न कोई हिस्सा दिया जाता था। गाँव मे उनकी इज्जत होती थी और वे छोटे नही समझे जाते थे। सभी लोग आपस मे विवाह शादी करते और मिल जुल कर रहते थे। ग्राम की जितनी भी आवश्यकताये होतीं, सब वहीं पूरी की जाती थी। ग्राम एक तरह का स्वतन्त्र राज्य होता था। हर गाँव किसी और बाहरी गाँव से अपना सम्बन्ध नहीं रखता था। गाँव की एक चौहद्दी हुआ करती थी, जिसके अन्दर कोई भी आ नहीं सकता था और न उस पर कोई अपना अधिकार जमा सकता था।

युद्ध और राज्य की उत्पत्ति

मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं। ग्राम संगठन उसे छोटा पड़ने लगा। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरे गाँवों से सम्बन्ध जोड़ना पड़ा। प्रत्येक गाँव मे कुछ ऐसे उत्साही व्यक्ति हुये जिन्हें यह इच्छा हुई कि दूसरे गाँवों को जीत कर उन पर अधिकार स्थापित करें। इन्हीं दो कारणो से प्रेरित होकर आपस में संघर्ष उत्पन्न हुआ। एक गाँव दूसरे गाँव को जीत कर अपना हद बढ़ाना चाहता था। यह युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा। कितने ही गाँवों का एक ही स्वामी हो गया। अन्य गाँवों को विवश होकर उसकी मातहती स्वीकार करनी पड़ी। यहीं से राज्य की उत्पत्ति हुई। सम्पूर्ण पृथ्वी पर छोटे छोटे राज्य उत्पन्न हो गये। प्रत्येक राज्य का एक राजा होता था। उसकी आज्ञा ही क़ानून थी और उसकी शक्ति अनन्त होती थी। इसीलिये आरम्भ में एकतन्त्र राज्यों का ही जिक्र आता है। वे राज्य दो प्रकार के होते थे। यदि राजा न्यायी हुआ तब तो उसकी आज्ञा सर्वमान्य होती थी, और उसके राज्य में शान्ति रहती थी। वह नाम मात्र का दबाव अन्य गाँवो पर रखता था। सबसे उचित टैक्स लिया जाता था और उसके बदले मे प्रजा की भली भाँति रक्षा की जाती थी। प्रजा को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं दिया जाता था। ऐसे राज्य स्थायी हुआ करते थे। राजा की मृत्यु के बाद उसका जेठा लड़का राजा बनता था। यदि वह योग्य नहीं होता तो

राजा अपने जीवन काल मे ही किसी योग्य व्यक्ति को राजा नियुक्त कर देता था। इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के राज्य होते थे जो क्षणभंगुर हुआ करते थे। राजा अत्याचारी होता था और उसकी शक्ति तभी तक मानी जाती थी जब तक उसमे शारीरिक बल होता था। ज्योहीं उसकी शक्ति कमजोर होने लगती थी उसका राज्य भी नष्ट हो जाता था। कोई दूसरा राज्य उस पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता था।

राज्य की स्थापना एक दिन की वस्तु नहीं है। सदियों के युद्ध के बाद छोटे छोटे राज्यो की उत्पत्ति हुई। ये छोटे राज्य आपस मे लड़ते रहते थे। जिसकी शक्ति अधिक होती थी वह दूसरे राज्य पर अपना अधिकार कर लिया करता था। इसी तरह राज्य की सीमा बढ़ने लगी। छोटे छोटे राज्य नष्ट होते गये और प्रत्येक देश मे एक राज्य की स्थापना हुई। देश से मेरा तात्पर्य एक प्राकृतिक सीमा से है। प्रत्येक देश का हद कोई न कोई प्राकृतिक चीज़ से मान लिया गया। या तो इसके चारो ओर कोई पहाड़ हो अथवा नदी या समुद्र। इसके पार जाना कठिन था इसलिये इसी हद को देश मान लिया गया। प्रत्येक देश की एक संस्कृति होने लगी। यद्यपि इसके अन्दर बहुत से छोटे छोटे राज्य रहते थे परन्तु वे सब किसी एक राज्य के मातहत होते थे। प्रत्येक देश की एक सरकार, एक भाषा, एक नियम और एक ही रहन सहन होती थी।

सोलहवीं सदी के बाद नये नये यन्त्रों का आविष्कार हुआ और नई नई विद्यायें संसार मे फैलने लगीं। १४५३ ई० मे जब कि यूनान पर तुर्कों का हमला हुआ तो यूनान के विद्वान सम्पूर्ण यूरप और एशिया में फैल गये। इसके कुछ ही दिन बाद अठारहवीं सदी में मशीनो का आविष्कार हुआ। एक देश का सम्बन्ध दूसरे देशों से होने लगा। आवागमन की सुविधा हुई। इसलिये राज्य के स्थान पर साम्राज्य की उत्पत्ति होने लगी। आरम्भ मे प्रत्येक राज्य को अपना एक दृढ़ राष्ट्र बनाने की धुन आरम्भ हुई। परन्तु यह राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद के रूप मे परिणत हो गई। एक देश दूसरे देश पर अपना राज्य स्थापित करने लगा। संसार मे कितने हीं साम्राज्य स्थापित हो गये। चूँकि नये आविष्कारों का जन्म यूरप मे हुआ, इसलिये साम्राज्यवादी भी यूरप मे ही उत्पन्न

हुए। बीसवीं सदी में साम्राज्यवादियों में युद्ध आरम्भ हुआ। जब दुनियाँ का कोना कोना जीत लिया गया तो साम्राज्य-वादियों को आपस में लड़ना पड़ा। जर्मनी की बड़ी लड़ाई साम्राज्यवाद की लड़ाई थी। संयोगवश चार बड़े बड़े साम्राज्य खतम हो गये और केवल अँग्रेजी साम्राज्य जीवित रहा। जर्मनी पुनः अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। इसी की पूर्ति के लिये वह नार्वे को हड़प कर रहा है। राज्य की उत्पत्ति के समय से लेकर आज तक इसकी वृद्धि के लिये युद्ध चल रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि कब यह युद्ध समाप्त होगा। यही क्रमशः विकास राज्य की उत्पत्ति का कारण है। आज किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति राज्य से अपना सम्बन्ध रखता है। कोई भी व्यक्ति राज्य से अपने को अलग नहीं कर सकता। राज्य से अलग वह अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता।

अध्याय ८

राज्य के कर्तव्य

प्रश्न का स्पष्टी करण—व्यावधानिक कर्तव्य-सामाजिक कर्तव्य—कर्तव्य सम्बन्धी ३ सिद्धान्त—अराजकतावाद—व्यक्तिवाद—समाजवाद—राज्य के उद्देश्य—प्राचीन काल मे यूनानियों का सिद्धान्त—आधुनिक सिद्धान्त—राज्य के वास्तविक उद्देश्य—राज्य के आदर्श उद्देश्य—राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त—राज्य के क 'व्यों का सूक्ष्म इतिहास—राज्य के कर्तव्य और व्यक्ति की आवश्यकतायें—एक मध्यम मार्ग—जान माल की रक्षा करना—न्याय की रक्षा—स्वास्थ्य और सफाई—आवागमन के साधन देना—दीन दुखियों का प्रबन्ध करना—सामाजिक सुधार—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता।

प्रश्न का स्पष्टी करण

राज्य के कर्तव्य क्या है और क्या होने चाहिये, यह एक गोला सा प्रश्न है। जिस प्रकार एक डाक्टर हृदय की गति को बतला सकता है और एक गणितज्ञ किसी हिसाब का ठीक ठीक उत्तर दे सकता है उस प्रकार का उत्तर राज्य के कर्तव्य के विषय में नही दिया जा सकता। यद्यपि राज्य एक है, परन्तु इसके अन्दर अनेक प्राणी निवास करते हैं। राज्य की व्यवस्था उन्हीं के स्वभाव के अनुसार की जाती है। इसी लिये राज्य की विभिन्न किस्में होती हैं। राज्य का एक रूप कभी भी नहीं रहता। उसके कर्तव्य भी प्रत्येक युग में बदलते रहते है। आरम्भ मे जब कि मनुष्य के विचार क्षेत्र इतने विस्तृत न थे, राज्य के कर्तव्य बहुत थोड़े थे। उस समय इस प्रश्न का उत्तर बहुत साधारण ढंग से दिया जा सकता था। परन्तु आज कल कर्तव्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया है। फिर जब यह प्रश्न उठता है कि राज्य के क्या क्या कर्तव्य होने

चाहिये, उस समय यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आदर्श का कहीं भी अन्त नहीं है। चाहिये शब्द आदर्श से ही सम्बन्ध रखता है। आदर्शवादियों ने हीं यह प्रश्न उठाया है। इस लिये राज्य के कर्तव्य को समझने के लिये हमे इन दोनों प्रश्नों को अलग अलग रखना चाहिये। राज्य के कौन कौन से कर्तव्य हैं यह एक प्रश्न है; और क्या क्या कर्तव्य होने चाहिये यह दूसरा प्रश्न है। दोनो को एक साथ हमे नहीं मिलाना चाहिये।

साधारण तौर से हम राज्य के कर्तव्यों को दो भागों में बाँट सकते हैं:—

१—व्यावधानिक कर्तव्य (Constituent functions) इसके अन्तर्गत मुख्य आठ बाते हैं, जिन्हें राज्य को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। यदि राज्य इन्हे पूरा न करे तो शासन का ही अन्त हो जाय।

अ—बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना तथा राज्य में धन-जन की रक्षा का प्रबन्ध करना।

ब—स्त्री पुरुष तथा पिता पुत्र में कानूनी सम्बन्ध निश्चित करना।

स—अपराधो का स्पष्टी करण करना और उनके दंड की सीमा निहित करना।

द—सम्पत्ति सम्बन्धी नियम बनाना और उसके अधिकार की व्यवस्था करना।

य—व्यक्तियों मे इकरार सम्बन्धी कार्रवाइयों के लिये कानून बनाना।

र—न्याय का प्रबन्ध करना। साथ ही अन्यायी को उचित दंड देने का विधान बनाना।

ल—नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य की सीमा निश्चित करना तथा उन्हें राजनैतिक सुविधाओं को प्रदान करना।

व—एक राज्य का सम्बन्ध दूसरे राज्य से स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सुविधाओ की रक्षा करना।

२—ये कर्तव्य इतने अधिक हैं कि इनकी सूची तैयार करना असम्भव है। राज्य की शक्ति ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है त्यों त्यों ये कर्तव्य भी बढ़ते जाते हैं। इनसे राज्य को व्यावधानिक कर्तव्यों के पालन में बड़ी सहायता मिलती है। राज्य में शान्ति और सुख की वृद्धि होती है। प्रजा में प्रसन्नता का आवाह्न होता है और साथ ही राज्य की आयु भी बढ़ती है। केवल व्यावधानिक कर्तव्य राज्य को क़ायम रख सकते हैं, लेकिन उसे वैभवशील तथा आदर्शमय नहीं बना सकते। इसी लिये राज्य को विवश होकर प्रजा के हित के लिये दूसरे प्रकार के कर्तव्यों को भी करना पड़ता है। इनमे १० अत्यन्त आवश्यक हैं :—

सामाजिक कर्तव्य (Ministrant functions)

अ—व्यापार की वृद्धि करना और इसकी रक्षा के नियम बनाना। इसी के अन्तर्गत रुपये तथा नोट आदि बनाना भी आ जाता है। नाप तोल की दर निश्चित करना, चुंगी का प्रबन्ध करना, बाज़ारों में बेचने की सुविधा देना, इत्यादि कार्य भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

ब—आवागमन के साधन की वृद्धि करना। जैसे रेल, तार, डाक, सड़क, टेलीफोन, ट्रेम गाड़ी आदि का प्रबन्ध करना। यात्रियों को अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करना।

स—स्वास्थ्य, सफाई, तथा रोगों के इलाज का प्रबन्ध करना।

द—मजदूरो की रक्षा के नियम आदि बनाना। आधुनिक युग मे, जब कि मिलों और कारखानों की खूब वृद्धि हो रही है, मजदूरो का प्रश्न एक बहुत ही आवश्यक विषय हो गया है। यदि राज्य की ओर से उनकी रक्षा का प्रबन्ध न हो तो उनका जीवन पशुओं से भी बदतर हो जाय।

य—शहरों में हवा, रोशनी और पानी का प्रबन्ध करना। गाँवों में सिंचाई की व्यवस्था करना, ट्यूब वेल बनवाना तथा नहरें निकालना।

र—शिक्षा का प्रचार करना।

ल—अन्धे, लूले, गूँगे, बहरे तथा ग़रीब दुखियों की देख भाल का प्रबन्ध करना। उनके रहने तथा भोजन आदि की व्यवस्था करना।

व—जंगलो तथा नदियों की देख रेख रखना।

क—नशीली चीज़ों का बहिष्कार करना।

ख—सामाजिक नियमों का आदर करना तथा सभी धर्मों और सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखना।

इसी प्रकार राज्य अपनी प्रजा की उन्नति के लिये बहुत से कार्य कर सकता है। प्रजा में जितनी हीं अधिक सहयोग की भावना रहेगी राज्य को उतनी हीं अधिक सफलता इन कार्यों में मिलेगी। प्रजा मे संगठन और सद्भाव की जागृति इन कार्यों को प्रति दिन बढ़ाती जायेगी। राज्य की आर्थिक दशा यदि अच्छी नहीं है तो इन कार्यों में कम से कम सफलता प्राप्त होगी। इस लिये इनकी वृद्धि के लिये आथिक दशा की उन्नति करना अत्यन्त आवश्यक है। जब प्रजा पेट की ही धुन में व्यस्त रहेगी तो वह शिक्षा और कला की ओर ध्यान नहीं दे सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे देश में आज मौजूद है। ग्रामों की दशा आर्थिक दृष्टि से इतनी शोचनीय है कि उनके बीच में कला तथा शिक्षा का प्रचार करना तब तक कठिन है जब तक उनकी रोटी का प्रबन्ध नहीं हो जाता। भोजन और वस्त्र के पश्चात् ही मनुष्य की अन्य आवश्यकतायें बढ़ती हैं। इसलिये राज्य पहले प्रजा की रोटी का प्रबन्ध करे। कोई भी राज्य मे भूखा और नंगा न रहे। राज्य की ओर से कम से कम इतना प्रबन्ध ज़रूर होना चाहिये कि जो परिश्रम करना चाहे उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये औरों पर निर्भर न रहना पड़े। इस लिये रोज़गार की व्यवस्था करना राज्य का एक मात्र कर्तव्य है। बेरोज़गारी के रहते हुये राज्य में न धन की वृद्धि होगी और न व्यवसाय की। तुलसीदास ने तो राज्य के यहाँ तक कर्तव्य ठहराये हैं कि एक भी मनुष्य राज्य में भूखा न रहे। वे लिखते हैं :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज काहुहिं नहिं व्यापा॥

राज्य की स्थापना किसी न किसी सिद्धान्त पर हुई है। इसलिये इसके कर्तव्य भी किसी न किसी सिद्धान्त पर ही निर्भर हैं। प्रत्येक सिद्धान्त राज्य के कर्तव्यों का विवेचन करता है। अन्तर केवल इतना ही है कि कोई राज्य के कर्तव्यों का क्षेत्र बड़ा मानता है और कोई छोटा। वैज्ञानिक दृष्टि से ये सिद्धान्त एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। एक सिद्धान्त तो राज्य का ही शत्रु है। उसके अनुसार न कोई राज्य का कर्तव्य है और न उसकी आवश्यकता ही है। शेष सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व में पूरा विश्वास करते हैं, परन्तु आपस में एक दूसरे के सर्वथा विरोधी हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी ३ सिद्धान्त

१—अराजकतावाद
२—व्यक्तिवाद
३—समाजवाद

हमारा तात्पर्य इन वादों का वर्णन करना नहीं है। इनके लिये दूसरी जगह स्थान दिया जायगा। यहाँ पर हम यह दिखाना चाहते हैं कि ये सिद्धान्त किन किन दृष्टिकोणों से राज्य के कर्तव्य को निश्चित करते हैं। प्रत्येक सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं, यही इस अध्याय में वर्णन करना है।

अराजकतावाद

१—इस सिद्धान्त के मानने वाले राज्य को एक व्यर्थ योजना मानते हैं। यदि विचार किया जाय तो राज्य के कर्तव्यों के अन्तर्गत इस सिद्धान्त का विवेचन नहीं होना चाहिये। जो सिद्धान्त राज्य के अस्तित्व ही को नहीं मानता वह उसके कर्तव्यों को कैसे निश्चित कर सकता है। परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। वह व्यक्ति राज्य से ही सम्बन्ध रखता है, इसलिये अराजकतावाद का वर्णन राज्य के कर्तव्यो के साथ करना कोई अनुचित नही है। जैसा कि शब्द से ही सूचित है यह वाद किसी भी राजनैतिक संगठन को नहीं मानता। इसका उद्देश्य यह है कि एक ऐसे समाज

की स्थापना की जाय जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना शासन करे। उस समाज मे जितने भी संगठन हों उनका सदस्य बनना और न बनना व्यक्ति की इच्छा पर ही छोड़ दिया जाय। किसी को इस बात के लिये बाध्य न किया जाय कि वह अमुक संगठन का सदस्य अवश्य बने। अराजकतावादी यह कहते हैं कि जैसे किसी टोकरी में बहुत से कंकड़ स्वयं अपना अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार समाज मे भी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता पाने पर अपने सुख और शान्ति की व्यवस्था स्वयं कर लेगा। राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है।

राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता का शत्रु है। राजनैतिक बन्धन व्यक्ति के विकास में जेल की तरह बाधक हैं। राज्य एक प्रकार की शक्ति है जो व्यक्ति को पग पग पर दबाती रहती है। जब कभी कोई व्यक्ति अपनी इच्छानुसार मार्ग ग्रहण करना चाहता है तो राज्य उसकी स्वतंत्रता मे रोड़े अटकाता है। व्यक्ति स्वयं चतुर है। वह अपना हित और अहित भलीभाँति पहचानता है। राज्य की शक्ति उसके हितों की पूर्ति में कुछ भी सहायता नहीं करती है। अधिकार और कर्तव्य का विवेचन व्यक्ति के लिये ही हो सकता है। राज्य का न कोई अधिकार है, न कोई कर्तव्य है। जैसे किसी गाड़ी मे पाचवाँ पहिया व्यर्थ है उसी प्रकार व्यक्ति के विकास में राजनैतिक संगठन अनावश्यक है। जब तक मनुष्य अपने सभी बन्धनों को तोड़ कर फेंक नहीं देगा तब तक वह स्वतंत्रता के स्वप्न का अनुभव नहीं कर सकता। राज्य सबसे बड़ा बन्धन है। थोड़े से स्वार्थी लोग अपने सुख के लिये अधिकांश जनता को जकड़े हुये हैं। यदि स्वतंत्रता पूर्वक सबकी राय ली जाय तो कोई भी राजकीय बन्धन का समर्थन नहीं करेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वामी है। अपने कर्तव्यो के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। जन्म से मृत्यु तक अपने किये हुए कर्मों का फल वह स्वयं भोगता है। सभी धर्म एक स्वर से इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यक्ति के निजी आचार विचार को छोड़ कर उसका कोई भी सच्चा सहायक नहीं है। स्वर्ग में भी उसी के कर्तव्यों की परीक्षा होती है। बाह्य-रूप से जितनी भी सहायता किसी व्यक्ति को प्राप्त होती है वह दिखावटी तथा अनावश्यक है।

इसीलिये अराजकतावादी व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता पर अधिक से अधिक ज़ोर देते हैं। इस स्वतंत्रता के आगे सभी संगठन व्यर्थ हैं।

व्यक्तिवाद

२—व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति ही सब कुछ है। राज्य स्वयं व्यक्ति की उन्नति के लिये बनाया गया है। कोई भी समाज व्यक्ति को दबा कर अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता। इस वाद का आरम्भ इक़रार सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने किया था। तब से यह वाद उन्नति करता गया। उन्नीसवीं सदी मे जब मशीनो का युग आरम्भ हुआ तो विभिन्न संगठन स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने लगे। व्यक्ति को विवश होकर किसी न किसी संगठन का सदस्य बनना पड़ा। फिर क्या था, इन संगठनों की शक्ति बढ़ती गई। व्यक्ति अपने आप को कमज़ोर पाता गया। आजकल संगठनो की शक्ति ही अपना एक व्यक्तित्व बनाये हुये है, जिसके अन्दर व्यक्ति एक अंग मात्र है। राज्य के अधिकारों की इसीलिये वृद्धि हुई, कि वह व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करे। इस सिद्धान्त का वर्णन समाजवाद के अन्दर किया जायगा। प्रश्न यह उठता है कि व्यक्तिवाद कहाँ तक राज्य का अधिकार मानता है और किस हद तक व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्य एक अनिवार्य दोष है। यह एक ऐसी बुराई है, जिसे विवश होकर व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इसलिये राज्य को कोई भी अधिकार ऐसा नहीं मिलना चाहिये जिससे वह व्यक्तियों को हुक्म दे सके। राज्य केवल यही कर सकता है कि जिन कार्यों को व्यक्ति न कर सके उसमें वह मदद करे। साथ ही व्यक्ति की उन्नति में जितनी भी बाधायें आवें उनका वह निवारण करे। किसी राजनीतिज्ञ का कहना है "सभ्यता अपनी अन्तिम चोटी पर व्यक्ति की ही सत्ता को स्वीकार करेगी।" व्यक्ति समाज का स्तम्भ है। राज्य उसका सबसे बड़ा सहायक है। जो राज्य व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नियम बनाता है वह अन्यायी और अत्याचारी है। राज्य का कर्तव्य केवल इतना ही है कि वह दो व्यक्तियों के सम्बन्ध की रक्षा करे। यदि उनमे किसी बात पर मतभेद हो जाता

है अथवा कलह उत्पन्न होता है तो राज्य उसे दूर करे। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य व्यक्ति का सेवक है। राज्य मे जितने भी सरकारी अफसर अथवा नौकर है वे सब प्रजा के सेवक है। प्रत्येक व्यक्ति उनसे सेवा कराने का समान अधिकारी है। राज्य का कर्तव्य देश मे शान्ति स्थापित रखना है और व्यक्ति की आवश्यकतानुसार उसी की इच्छा से क़ानून बनाना है।

व्यक्तिवाद क्या चीज़ है, किसने इसका आरम्भ किया, इसके क्या क्या सिद्धान्त हैं, इन बातो का वर्णन उस समय किया जायगा जब व्यक्तिवाद पर अलग स्वतन्त्र रूप से एक अध्याय लिखा जायगा। यहाँ पर यही देखना है कि व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति समाज के लिये नही है। व्यक्ति समाज-सेवा के लिये बाध्य नहीं है। किन्तु समाज का यह परम कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की हर प्रकार से सेवा करे। राज्य समाज का एक उन्नत रूप है। जिन कर्तव्यो को समाज का कोई भी सगठन नहीं कर सकता, राज्य उन्हे करने का अधिकारी है। यदि कोई भी व्यवस्था व्यक्ति को राज्य का दास बनाती है तो वह ठीक नही कही जा सकती। राज्य केवल देखभाल कर सकता है। यदि व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के कर्तव्यों की सूची बनाई जाय तो वह बड़ी ही छोटी होगी। उन्हे हम उंगलियो पर गिन सकते हैं। इसके अनुसार राज्य के तीन ही कर्तव्य है :—

१—बाह्य आक्रमणो से राज्य की रक्षा करना।

२—राज्य मे शान्ति स्थापित करना।

३—राज्य में विभिन्न संस्थाओं की देख रेख करना।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य को कोई अधिकार नही है कि वह व्यक्ति के कार्यो मे थोड़ा भी दखल दे। प्रत्येक व्यक्ति विचार करने के लिये स्वतन्त्र है। उसे यह भी अधिकार है कि वह अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सके। व्यक्ति को इतना अवश्य ध्यान रखना होगा कि वह औरो की स्वतन्त्रता मे बाधक न हो। स्पेन्सर के कथनानुसार राज्य के मुख्य तीन कर्तव्य है :—

१—पुलीस रखना।
२—सेना रखना।
३—न्याय की रक्षा करना।

व्यक्ति वादियों का कहना है कि राज्य एक कम्पनी है, और प्रत्येक व्यक्ति उसमें हिस्सेदार है। उसे यह अधिकार है कि वह जैसे चाहे अपनी प्रसन्नता का प्रबन्ध करे। राज्य का यह कर्तव्य कदापि नहीं है कि वह उपरोक्त तीन बातों के अतिरिक्त शिक्षा, ग़रीबो की सेवा तथा रोगियों का प्रबन्ध करे। इन कार्यों को व्यक्ति अच्छी तरह कर सकता है। यदि राज्य इन कामों को करता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति को अपाहिज बनाता है। जितने भी कार्य है सब व्यक्ति को ही करना चाहिये, राज्य से कम से कम सहायता लेनी चाहिये। व्यक्ति की रुचि भिन्न भिन्न होती है। औरों को उसकी रुचि का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिल का कहना है कि राज्य के कर्तव्य जितने ही अधिक होंगे उतने ही व्यक्ति के कर्तव्य कम होंगे। सारांश यह है कि व्यक्तिवाद राज्य को कम से कम अधिकार देना चाहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि राज्य के कर्तव्य, व्यक्तिवाद के अनुसार, कम से कम ठहराये गये हैं। ऐसा इसीलिये किया गया है कि व्यक्ति के कर्तव्य का क्षेत्र अधिक से अधिक बढ़ सके।

समाजवाद

३—समाजवाद एक स्वतंत्र विषय है। इस पर अलग किसी अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ हमें यही देखना है कि इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं। समाजवाद एक बहुत ही पुरानी चीज़ है। अफलातून ने अपनी पुस्तक रिपबलिक (Republic) में इसका वर्णन किया है। एक प्रकार से हम उसे कट्टर समाजवादी कह सकते हैं। परन्तु समाजवादी आन्दोलन एक नई चीज़ है। उन्नीसवीं सदी में मशीनों के साथ ही इसका जन्म हुआ है। शायद ही कोई स्कूल या कालेज का विद्यार्थी होगा जिसने समाजवाद का नाम न सुना हो। यह वाद इतना प्रसिद्ध है जितना पनामा ब्लेड। इस सिद्धान्त का मूल तत्व यह है कि सम्पत्ति का वितरण समान रूप से होना चाहिये। जब सभी

मनुष्य शरीर रचना में एक ही प्रकार के हैं तो उनकी आवश्यकतायें भी एक ही प्रकार की होंगी। भूख सबको लगती है, कपड़े की आवश्यकता सभी की पड़ती है, मनोरंजन के साधन सभी को चाहिये। इसलिये समाज मे जो विषमता दिखलाई पड़ती है वह पाप का घर है। समाज में थोड़े से स्वार्थी व्यक्तियों ने अपने लाभ के लिये तरह तरह के नियम बना कर अपने सुख का सामान इकट्ठा कर लिया है। अधिकतर लोगों को भर पेट भोजन भी मिलना कठिन हो जाता है। आर्थिक विषमता सभी बुराइयों की जड़ है। धनी ग़रीब का अन्तर समाज में इतनी बुराइयाँ फैलाता है कि कोई भी समाज शुद्ध नहीं रह सकता। हितोपदेश में तो यहाँ तक कहा है कि "घर को छोड़ कर जंगलो और पर्वतों की गुफाओं मे निवास करना अच्छा है, किन्तु धनहीन रहकर समाज मे जीवित रहना निन्दनीय है।"

समाजवाद आर्थिक योजना का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसका जन्मदाता जर्मनी का विद्वान कार्लमार्क्स है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जर्मनी स्वयं समाजवाद का कट्टर शत्रु है। संसार मे रूस ही एक ऐसा देश है जो समाजवाद को सिद्धान्त और कार्य दोनो रूप में मानता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश इसका दूसरा सिद्धान्त है। तात्पर्य यह है कि समाजवाद सभी प्रकार के भेद भाव को मिटाकर एक आदर्श समाज बनाना चाहता है। समाजवाद आधुनिक सभ्यता का पक्षपाती भी है और इसका कट्टर विरोधी भी। पक्षपाती तो इसलिये है कि वह मशीनों का समर्थन करता है और नवीन वैज्ञानिक उन्नति का सभी प्रकार से उपयोग करना चाहता है। वह धर्म को ढोंग मानता है। तर्क पर जो सिद्धान्त टिक सके वही सर्वमान्य होना चाहिये। चूँकि वर्तमान सभ्यता तर्क पर ही निर्भर है इसलिये समाजवाद उसके पक्ष में है। विरोधी इसलिये है कि आधुनिक युग पूँजीवाद का युग कहलाता है। पूँजीवाद ही समाज मे सभी बुराइयो की जड़ है। पूँजीवाद का नाश समाजवाद का मुख्य उद्देश्य है। इसलिये समाजवाद आधुनिक सभ्यता का विरोधी भी है।

ऊपर कहा गया है कि मेरा तात्पर्य यहाँ पर समाजवाद के सिद्धान्तो का वर्णन करना नही है। यह थोड़ा जो वर्णन

किया गया है वह इसलिये कि पाठकगण समाजवाद से कुछ परिचित हो जायँ, अन्यथा निरा अनभिज्ञ रहने से उन्हें इसके और राज्य के सम्बन्धों को समझने में कठिनाई होगी। अब यह प्रश्न होता है कि समाजवाद के अनुसार राज्य के क्या क्या कर्तव्य हैं? जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है समाजवाद व्यक्तिवाद का प्रति-रूप है। जिस प्रकार व्यक्तिवाद समस्त अधिकार व्यक्ति को देना चाहता है उसी प्रकार समाजवाद सभी कुछ राज्य को अर्पण करना चाहता है। राज्य के सामने वह व्यक्ति को कोई चीज नहीं समझता है। समाजवादी व्यक्तिगत उद्योग को बुरा समझते हैं। वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने निज के लाभ के लिये कुछ भी करने का अधिकारी नहीं है। वह सब कुछ राज्य के लिये करे। उसके परिश्रम का फल राज्य उसे देगा। राज्य ही सभी सम्पत्ति पर अपना अधिकार रक्खे। व्यक्ति की आवश्यकतानुसार वह इसे वितरण करे। राज्य इस बात की देख भाल रक्खे कि कोई भी व्यक्ति बैठकर अपाहिज की तरह भोजन न करे। समाज पर वह किसी भी प्रकार का भार न हो। जो परिश्रम करे वही धन का अधिकारी समझा जाय। सम्पूर्ण भूमि राज्य की हो। कोई जमींदार और कोई काश्तकार न रहे। जो भूमि को जोते वह अपनी जमीन का मालिक समझा जाय। सबको उचित कार्य दिया जाय और उसी के अनुसार उन्हें वेतन मिले। व्यक्ति का कर्तव्य केवल यही है कि वह शान्ति पूर्वक राज्य के नियमों का पालन करे। वह उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। वह उसे कार्य देगा, वही उसके भोजन की व्यवस्था करेगा, वही उसे शिक्षा देगा और वही उसके लिये नियम भी बनायेगा। व्यक्ति को कोई चिन्ता नहीं रहेगी। राज्य सभी बातों का ध्यान रक्खेगा। व्यक्ति की उन्नति अवनति का उत्तरदायित्व राज्य पर निर्भर होगा।

समाजवादी राज्य को ही सब कुछ अर्पण कर देना चाहते हैं। शिक्षा का प्रबन्ध राज्य करे। व्यवसाय पर राज्य का पूर्ण अधिकार हो। राज्य ही धन का वितरण करे। वही व्यक्तियों के अन्दर सहानुभूति और सद्भावना का प्रसार करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई भी आवश्यकता नहीं है। एकता, समानता, न्याय, इनकी

रक्षा तभी हो सकती है जब राज्य व्यक्ति के लिये सब कुछ करे। छोटी से छोटी वस्तु पर भी व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिये। राज्य का एक मात्र कर्तव्य है कि वह सभी चीज़ों को अपने अधिकार में रक्खे और उनसे अधिक से अधिक व्यक्ति को लाभ पहुँचावे। शिक्षा सबके लिये अनिवार्य और निःशुल्क कर दी जाय। ग़रीबी के कारण किसी को गुण से वंचित नहीं किया जा सकता। जब तक राज्य स्वयं सम्पूर्ण कार्य भार को अपने ऊपर न लेगा तब तक विषमता का रोग समाज से नहीं जा सकता। इसे सभी स्वीकार करते हैं कि राज्य की शक्ति सबसे बड़ी है। जिस काम को व्यक्ति को करने में वर्षों लगेंगे उसी काम को राज्य एक दिन में कर सकता है। एक ही उदाहरण ले लीजिये। मान लीजिये राज्य से शराब खोरी को बहिष्कृत करना है। विभिन्न समुदाय यह प्रयत्न करते हैं कि किसी भी प्रकार से इस बुराई का सत्यानाश हो जाय। सारा समाज इसकी गन्दगी से घबड़ाने लगता है। लेकिन फिर भी शराबी आज़ादी के साथ दिनदहाड़े शराब को पीता रहता है। जब यही कार्य राज्य को सुपुर्द किया जाता है तो शराबी को एक दिन में शराब छोड़नी पड़ती है। और तो और, न कोई शराब बना सकता है और न बेंच सकता है। इसी तरह जिन जिन कामों को राज्य लेगा वह उसे निहायत ख़ूबसूरती के साथ कर सकेगा। व्यक्ति केवल परिश्रम करे, बाकी चिन्ता राज्य करेगा। व्यर्थ की छीना झपटी से क्या लाभ? व्यक्तिगत सम्पत्ति से लोभ, ईर्ष्या, कलह आदि पैदा होते रहते हैं। अच्छा तो यह हो कि व्यक्ति के सारे अधिकार और कर्तव्य राज्य को दे दिये जायें और वही उनकी देख भाल रक्खे।

राज्य के उद्देश्य

राज्य के कर्तव्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले उसके उद्देश्य को समझा जाय। किसी संगठन का वही कर्तव्य होता है, जो उसका उद्देश्य होता है। आर्यसमाज का उद्देश्य है वैदिक संस्कृति का प्रचार करना। इसलिये कोई यह नहीं कह सकता कि आर्यसमाजी अस्पताल क्यों नहीं बनवाते हैं। जिसका जो उद्देश्य नहीं है वह उसके लिये धन और शक्ति नहीं खर्च कर सकता। इस लिये कर्तव्य को समझने के लिये उद्देश्य का समझना आवश्यक है। जब राज्य

के अन्तिम उद्देश्य निश्चित हो जायँगे तो कर्तव्य का भी रास्ता साफ हो जायगा। अब एक प्रश्न उठता है कि राज्य की उत्पत्ति किस लिये हुई है ? क्या इसकी उत्पत्ति अचानक हो गई है और इसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है अथवा यह किसी ख़ास उद्देश्य को लेकर उत्पन्न हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। समय समय पर यह बदलता रहा है। दो एक मत को यहाँ उद्धृत करना अच्छा होगा।

प्राचीन काल में यूनानियों का सिद्धान्त

यूनान प्राचीन काल में राजनीति का केन्द्र था। यहीं से समस्त संसार में राजनैतिक विषयों का प्रचार हुआ है। इस देश में राजनीति के ऐसे ऐसे विद्वान् हुये हैं जिनकी समता आज तक कोई भी नहीं कर सकता। सुकरात, अरस्तू, अफलातून इसी यूनान के दार्शनिक हुये हैं। इस लिये हमें इनके विचार समझने चाहिये। राज्य के क्या उद्देश्य हैं इस पर इनका मत बहुत ही स्पष्ट है। यूनानी विद्वानों का कहना है कि राज्य का कोई भी उद्देश्य नहीं है। राज्य स्वयं मनुष्य के सबसे बड़े उद्देश्य की पूर्ति है। इस लिये उद्देश्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। राज्य की स्थापना होते ही इसके सारे उद्देश्य समाप्त हो जाते हैं। राज्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा तभी राज्य की स्थापना सम्भव है। मनुष्य के मस्तिष्क में जितनी भी कल्पनायें हैं, राज्य उन सब में श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है। राज्य इस बात का द्योतक है कि व्यक्ति अपनी उन्नति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच चुका है। यूनानी राज्य को एक बहुत बड़ी आदर्श-पूर्ण वस्तु मानते थे। अफलातून तो यहाँ तक कहता है कि सच्चे राज्य की स्थापना इस पृथ्वी पर हो ही नहीं सकती। मनुष्य के अन्दर कुछ ऐसी स्वाभाविक कमज़ोरियाँ हैं जिनके कारण वह राज्य को स्थापित करने में सर्वथा असमर्थ है। राज्य की स्थापना केवल दार्शनिक ही कर सकते हैं। राज्य के समस्त कर्मचारी यदि दार्शनिक हो जायँ तो आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है। परन्तु यह कदापि सम्भव नहीं है। ऐसा राज्य स्वर्ग में हीं सम्भव है। अरस्तू का कहना है कि राज्य की

स्थापना जीवन की रक्षा के लिये हुई है परन्तु इसका विकास जीवन को आदर्श बनाने के लिये है।*

यूनानियों के अतिरिक्त अन्य देशवासियों ने भी प्राचीन काल मे राज्य के कर्तव्यों पर विचार किया है। उनके कथनानुसार राज्य मे व्यक्ति को किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिये। राज्य को ही सारे काम करने का अधिकार है। मूसा के नियम के अनुसार व्यक्ति के दैनिक कार्य भी राज्य को ही करने चाहिये। राज्य को ही यह नियम बनाना चाहिये कि मनुष्य क्या भोजन करे, कब और क्या क्या उसमें परिवर्तन होना चाहिये, मनुष्य को कैसा कपड़ा पहनना चाहिये; उसका भोजन किस प्रकार परसना चाहिये। स्त्री पुरुष कब और कैसे विवाह करें। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के छोटे से छोटे काम से लेकर बड़े से बड़ा काम राज्य को ही करना चाहिये। प्राचीन काल मे यहूदियों मे भी इसी प्रकार के नियम पाये जाते हैं। राज्य उनकी छोटी छोटी बातों के लिये नियम बनाता था। जर्मन निवासी प्राचीन काल में राज्य को ही सब कुछ मानते थे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक स्वप्न की चीज़ समझी जाती थी। एक बात ज़रूर है कि राज्य व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरी तरह समझते थे। दोनो की भलाई एक थी। ऐसा नहीं होता था कि राज्य के उद्देश्य व्यक्ति की भलाई के विरुद्ध हो। यदि कोई राज्य ऐसा करता तो प्रजा उसे छोड़ कर किसी अन्य राज्य मे निवास करने लगती थी। प्राचीन काल मे राज्य छोटे छोटे होते थे, जनसंख्या भी कम थी, इस लिये सम्पूर्ण प्रजा राज्य की नज़रों के सामने रहती थी। उनका सुख दुख राज्य को प्रति क्षण मालूम होता रहता था। यही वजह है कि राज्य उनकी छोटी छोटी बातो की परवाह रखता था। प्रजा राज्य के लिये होती थी, राज्य प्रजा के लिये नहीं। राज्य का दर्जा व्यक्ति से कहीं बड़ा समझा जाता था। राज्य में व्यक्ति का कोई भी स्थान नहीं था। राज्य सब कुछ था और व्यक्ति कुछ नहीं समझा जाता था।

---

*State comes into existence for life, but it continues to exist for good life.

समय के प्रवाह मे विचार बदलते रहते हैं। जो सिद्धान्त प्राचीन काल में सर्वसम्मति से मान्य थे वे ही आज बहिष्कृत किये जाते हैं। आधुनिक सिद्धान्त राज्य का कुछ और ही उद्देश्य ठहराता है। वह राज्य को व्यक्ति से छोटा समझता है। उसके अनुसार व्यक्ति की ही उन्नति और भलाई के लिये राज्य की स्थापना हुई है। इस लिये राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे थोड़ी भी बाधा पहुँचाये। राज्य स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है, वह एक साधन मात्र है। उसके उद्देश्य हैं प्रजा की भलाई करना और देश की सभी प्रकार से उन्नति करना। राज्य एक राजनैतिक संस्था है। यह सभी संस्थाओं से बड़ा है। इसका कर्तव्य यही है कि वह अन्य संस्थाओ के सम्बन्ध की देख रेख मात्र रक्खे। जर्मन राजनीतिज्ञ होजेन्डार्फ (Holtzendorff) ने राज्य के कर्तव्यों को दो भागो मे विभाजित किया है।

आधुनिक सिद्धान्त

इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को तीन बातो का ध्यान रखना चाहिये :—

१—राज्य के वास्तविक उद्देश्य

अ—राष्ट्रीयता का विकास कैसे हो।

ब—व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये क्या प्रबन्ध हो।

स—सामाजिक उन्नति अथवा सभ्यता के विकास के लिये क्या किया जाय ?

२—प्रजा के अन्दर सेवा, त्याग, चरित्र बल की वृद्धि करना, राज्य के आदर्श कर्तव्य ठहराये गये हैं। जो राज्य इनके उन्नति की व्यवस्था करता है वह आदर्श गिना जाता है।

राज्य के आदर्श उद्देश्य

जर्मन विद्वान हीगल (Hegel) का कहना है कि राज्य का उद्देश्य अध्यात्मवाद की उन्नति करना है। प्रत्येक व्यक्ति आदर्शमय जीवन व्यतीत करने लगे यही राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। कुछ विद्वानों का मत है कि राज्य का कर्तव्य अधिक से अधिक सुख और वैभव की वृद्धि करना है। अधिक से अधिक संख्या में राज्य की जनता प्रसन्न और सन्तुष्ट होनी चाहिये। जिस राज्य मे बहुसंख्यक प्राणी दुखी और असन्तुष्ट रहते हैं वह राज्य निन्द-

नीय समझा जाता है। लेकिन यह सिद्धान्त कुछ ठीक नही जान पड़ता। अधिक से अधिक लोग सन्तुष्ट रहे, परन्तु बाकी की क्या दशा होगी? क्या थोड़े से लोग यदि राज्य मे अत्यन्त कष्ट सहते रहें तो वह राज्य निन्दनीय नही है? अच्छा तो यह हो कि एक भी व्यक्ति असन्तुष्ट दुखी अथवा दरिद्र न रहे। वान मोहल (Von Mohl) नामक एक जर्मन दार्शनिक का कहना है कि प्रत्येक राज्य के ३ उद्देश्य होने चाहिये:—

१—आरम्भिक (Primary)

२—माध्यमिक (Secondary)

३—अन्तिम (Ultimate)

आरम्भिक उद्देश्य राज्य मे शान्ति रखना और शासन को इस भाँति चलाना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त रहे। माध्यमिक उद्देश्य राज्य में राष्ट्रीयता की वृद्धि करना है। अन्तिम उद्देश्य वही है जैसा कि हीगल ने कहा है। अर्थात् सर्वत्र गुणों की ही वृद्धि दिखलाई दे। मनुष्यजाति की पूर्ण उन्नति हो और सम्पूर्ण राज्य मे सभ्यता एक सिरे से दूसरे सिरे तक चन्द्रमा की रोशनी की तरह फैल जाय।

राज्य के कर्तव्य सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्त

अठारहवी शताब्दी के पहले राज्य के कर्तव्य पर कम चर्चा की जाती थी। लोगों मे इसके प्रति उत्सुकता कम थी, क्योकि उनकी बुद्धि का अभी विकास नहीं हुआ था। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बाद स्वतंत्रता और समानता की एक लहर सी बह चली। इस लहर को समझने के लिये थोड़े पहिले से ही चलना होगा। राज्य के कर्तव्य उसी समय निश्चित किये गये होगे जब इसकी स्थापना हुई होगी। हाँ, समय समय पर कुछ नये नये कर्तव्य भी शामिल होते गये होंगे। यदि प्रारम्भिक काल से इस इतिहास का वर्णन किया जयगा तो हम अपने नागरिक शास्त्र के विषय से बहुत दूर चले जायेंगे। १६ वीं सदी के बाद इस विषय पर अधिक जोर दिया जाने लगा। नये नये अनुसन्धान और नई नई खोजो के कारण लोग अपनी स्वतंत्रता और अपने अधिकारो के महत्व को समझने लगे। इसलिये यह आवश्यकता

पड़ी कि व्यक्ति और राज्य के कर्तव्यों का बटवारा होना चाहिये। हाब्स के कथनानुसार राज्य का कर्तव्य देश में केवल शान्ति रखना और व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना है। कुछ समय पश्चात् लाक ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने हाब्स के सिद्धान्त को अपूर्ण ठहराया। उसका कहना है कि राज्य का कर्तव्य केवल धन-जन की रक्षा करना नही है, बल्कि व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना है। राज्य के कर्तव्यो की ओर लोगों का ध्यान बढ़ता गया। लोग इस बात पर जोर देने लगे कि यदि राज्य अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता तो उसे प्रजा पर किसी भी प्रकार का अधिकार नहीं रखना चाहिये। इतना ही नही बल्कि प्रजा को उसका विरोध भी करना चाहिये। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति तथा अमेरिका की स्वतत्रता का युद्ध इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हमारे देश में जो कांग्रेस का आन्दोलन चल रहा है उसके पीछे भी यही भावना मौजूद है। यदि बृटिश राज्य अपने कर्तव्यो को पूरा करता रहता तो यह आन्दोलन इतना जोर न पकड़ना।

लाक के पश्चात् रूसो ने इस सिद्धान्त में और भी वृद्धि की। उसने यह साबित किया कि राज्य के कर्तव्य अनन्त हैं और उसका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। जो राज्य जितना ही सुदृढ़ और सुसंगठित होगा वह उतना ही अपने कर्तव्यो को पूरा कर सकेगा। राज्य का अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन को प्रसन्न करना तथा उसके अन्दर सद्गुणो का प्रचार करना है। रूसो के बाद उन्नीसवीं सदी मे (utilitarions) ने अपना नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनका कहना है कि अधिक से अधिक प्रजा में महत्वपूर्ण जीवन की स्थापना करना (The greatest good of the greatest number) राज्य का अनिवार्य कर्तव्य है। इसके बाद व्यक्तिवाद और समाजवाद वालो ने अपना विचार प्रकट किया। किसी ने व्यक्ति को समाज का स्तम्भ कहा और किसी ने समाज को ही सब कुछ ठहराया। इन दोनो सिद्धान्तों ने राज्य का जो कुछ कर्तव्य निश्चित किया उसका वर्णन पीछे किया गया है।

प्राचीन काल में राज्य की व्यवस्था आजकल की सी न थी।

राज्य के कर्तव्यों का सूक्ष्म इतिहास

आरम्भ मे राज्यो का विस्तार छोटा था। जनसंख्या भी कम थी। उस समय राज्य और व्यक्ति के अधिकार की कोई चर्चा ही न थी। राज्य सब कुछ करता था और प्रजा को चुपचाप उसे मानना पड़ता था। किसी भी व्यक्ति को किसी प्रकार का अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त न था। राज्य की जो भी इच्छा होती थी उसे प्रजा को स्वीकार करना पड़ता था। राज्य के सम्पूर्ण अधिकार राजा को ही प्राप्त होते थे। एकतन्त्र राज्य प्राचीन काल की एक प्रथा थी। उसके शब्द ही कानून हुआ करते थे। इतना ध्यान राज्य को जरूर रखना पड़ता था कि प्रजा सुखी रहे। इसलिये बँधे न रहने पर भी राज्य के कर्तव्य कम न थे। प्रजा के सुख दुख का उन्हे ध्यान रहता था। नियम बनाते समय राजा लोग इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पालन करने में प्रजा को कोई असुविधा न होगी।

मध्य काल मे फ्यूडल प्रथा (Feudalism) का प्रचार हुआ। प्रत्येक राज्य की व्यवस्था मे एक विशेष परिवर्त्तन हो गया। राज्य में नीचे से ऊपर तक एक ऐसा ताँता बँध गया कि राज्य की शक्ति उन्हीं हिस्सों में विभाजित हो गई। राजा की शक्ति कम होगई और छोटे छोटे लार्डो की ताक़त बढ़ गई। इस प्रथा के उन्नति के शिखर पर पहुँचने पर राजा एक दम निर्बल हो गया। राज्य के कर्तव्यो की सीमा इतनी संकुचित हो गई कि प्रजा को स्वयं अपनी चिन्ता करनी पड़ी। इससे प्रजा को लाभ भी हुआ। प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमि का स्वामी बन बैठा। परन्तु वह समाज से अलग न था। उसके अधिकार एक दूसरे से मिले हुये थे। लोगो को राज्य के नियमों की परवाह कम होगई, आज्ञा पालन का भी भाव उनके हृदय से जाता रहा। उनका ध्यान अपने अधिकारों की ओर झुकने लगा। राज्य के कर्तव्य एक साधारण मालिक की तरह हो गये। वह कभी कभी हुक्म चलाता था और प्रजा उसे मान लिया करती थी। इसके अतिरिक्त राज्य का कोई भी कर्तव्य नहीं था। अधिकार के विना कर्तव्य नहीं रह सकते। जब राज्य की शक्ति कम हो गई तो उसका कतव्य भी कम हो गया। इसका

परिणाम समाज हित की दृष्टि से बहुत ही बुरा हुआ। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ गेटिल (Gettle) लिखता है, "मध्यकाल में न कोई राजनैतिक संगठन था, न धार्मिक, न सामाजिक और न आर्थिक।" यद्यपि इस कथन में बहुत कुछ अत्युक्ति है तब भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकाल लड़ाइयों का युग था। सर्वत्र शान्ति का अभाव था। क़ानूनों के पालन में शिथिलता आगई थी।

आधुनिक युग के आरम्भ होते ही राज्य के कर्तव्य बढ़ने लगे। राज्य का अर्थ केवल राजा से नहीं रह गया। प्रजा को राज्य में बहुत से अधिकार प्राप्त हुये। व्यक्तियों के अलग अलग अधिकारों की नींव पड़ी। कर्तव्यो के दो हिस्से हो गये। कुछ कर्तव्य तो प्रजा के लिये और कुछ राज्य के लिये निर्धारित किये गये। यद्यपि इस प्रकार के विभाजन की कोई सूची नहीं है तब भी प्रजा इन अधिकारों के भेदों को भलीभाँति समझती है। यदि राज्य केवल टैक्स वसूल करता है और एक बहुत बड़ी फौज रख कर देश में शान्ति रखता है तो प्रजा इतने ही से सन्तुष्ट नहीं रह सकती। किसी ज़माने में प्रजा के लिये राज्य के ये कर्तव्य काफी रहे होंगे, परन्तु आज नहीं हैं। अब प्रजा को शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि की भी आवश्यकता पड़ती है। राज्य को विवश होकर इन्हें करना पड़ता है। इस प्रकार के कर्तव्य इतने अधिक हैं कि इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में नहीं दिया जा सकता। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि "प्रजा की जो जो आवश्यकताये हैं, उन्हें पूरा करना ही राज्य का कर्तव्य है।" परन्तु यह उत्तर स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। यह कहना कठिन है कि प्रजा की आवश्यकतायें क्या हैं। सबकी आवश्यकतायें भी भिन्न भिन्न होतीं हैं। फिर राज्य ने किसका किसका ठीका लिया है। एक दूसरी बात और है। यदि प्रजा की आवश्यकताये राज्य की ओर से पूरी कर दी जायँ तो व्यक्तिगत प्रयत्न का महत्व ही क्या रह जायगा? तात्पर्य यह है कि आरम्भ से अब तक राज्य के कर्तव्यों का क्षेत्र बढ़ता गया है। इसका कारण यह है कि प्रजा की माँग बढ़ती गई है। ज्यों ज्यों मनुष्य की बुद्धि बढ़ती जाती है त्यों त्यों उसकी आवश्यकताये भी दूनी चौगुनी होती जारही हैं। वर्त्तमान सभ्यता का यही सबसे बड़ा श्रेय कहा जाता है। भविष्य में ये आवश्यकतायें

बढ़ती ही जायेगीं। इसलिये राज्य के कर्तव्य भी इसी के साथ बढ़ते रहेंगे।

राज्य के कर्तव्य और व्यक्ति की आवश्यकतायें

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति ही राज्य का कर्तव्य कहलाता है। परन्तु राज्य कुछ ऐसे कामो को भी करता है, जिनकी आवश्यकता व्यक्ति को नही है। इसे या तो हम राज्य की सनक कह सकते हैं या वृद्धि। प्रत्येक राज्य की यह इच्छा होती है कि उसकी सीमा बढ़ जाय। प्रजा को इसकी आवश्यकता हो या न हो परन्तु राज्य की यह इच्छा जरूर रहती है। इसका नतीजा यह होना है कि एक राज्य दूसरे राज्य पर चढ़ाई करता है। सैकड़ो प्रजा की हत्या होती है और लाखों रुपये खर्च होते हैं। प्रजा यह कभी भी नहीं चाहती कि उसकी सम्पत्ति लड़ाइयों मे खर्च कर दी जाय। लड़ाई प्रजा की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ उस वक्त यह प्रजा की आवश्यकता जरूर हो जाती है जब उसके राज्य पर बाहर से कोई हमला होता है। इसके अतिरिक्त प्रजा लड़ाई से डरती है। लेकिन राज्य को इस भय की कोई चिन्ता नहीं होती। वह किसी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करना अपनी इज्जत समझता है। यह भी अक्सर देखा जाता है कि प्रजा की आवश्यकता धन है तो राज्य की आवश्यकता भी यही है। प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राज्य की ओर से टैक्स लगाये जाते हैं। चाहे उस रुपये को राज्य अपनी सनक मे ही खर्च क्यो न कर दे, फिर भी उसे इकट्ठा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार राज्य के कर्तव्यों और प्रजा की आवश्यकताओं मे अकसर भेद भाव रहा करते हैं। यदि यह प्रतिद्वन्द्विता मिट जाय और "यथा राजा तथा प्रजा" वाला सिद्धान्त ठीक हो जाय तो सभी राज्य आदर्श गिने जाने लगेंगे। उस समय दुनियाँ की एक बहुत बड़ी हलचल दूर हो जायेगी।

एक मध्यम मार्ग

व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य के इने गिने दो चार कर्तव्य हैं। इसके विपरीत समाजवाद कर्तव्यों का एक बहुत बड़ा गट्ठर राज्य के सिर पर रखना चाहता है। प्रश्न यह है कि यथार्थ होना क्या चाहिए। दोनों के बीच में जो मध्यम मार्ग है वही सबसे श्रेष्ठ है। न सारा बोझ

व्यक्ति पर रक्खा जाय और न राज्य पर। सीधी बात तो यह है कि कुछ कर्तव्य राज्य को सौंप दिये जाँय और कुछ व्यक्ति को। फिर आवश्यकता पड़ने पर वे बदले भी जा सकते हैं। आधुनिक युग स्वतन्त्रता और समानता का है। प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतन्त्रता चाहता है। प्रत्येक क्षेत्र मे आज यही युद्ध चल रहा है। स्त्री पुरुष, किसान जमींदार, विद्यार्थी और अध्यापक सभी इस प्रश्न पर लड़ रहे हैं कि उनके क्या क्या अधिकार हों। यदि राज्य और व्यक्ति में यह संघर्ष चल रहा है तो कोई नई बात नहीं है। परन्तु इस झगड़े का निपटारा तभी हो जब कोई मध्यम मार्ग निकाला जाय। राज्य और प्रजा के कर्तव्य उसी समय निश्चित होगे जब दोनो ठंढे दिल से इस पर विचार करके कोई मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करने पर तैयार होगे।

प्रश्न यह है कि वह मध्यम मार्ग कौन सा है। एक बात हम ध्यान मे रख कर ही इस प्रश्न को हल कर सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि राज्य के कर्तव्य समय समय पर बदलते रहते है। परन्तु उसके कर्तव्य का सिद्धान्त नहीं बदलता। उस सिद्धान्त की पूर्ति के लिये राज्य के कुछ कर्तव्य सदैव एक से बने रहते हैं। उनके रूप मे थोड़ा बहुत अन्तर आ जाता हो परन्तु वे घट बढ़ नहीं सकते। जैसे शारीरिक रक्षा, जायदाद की रक्षा, बाह्य हमलों से देश की रक्षा करना—ये कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हे राज्य को सदैव करना पड़ता है। आज से दो हजार वर्ष पहिले राज्य को इन्हे करना पड़ता था और आज बीसवी सदी मे भी इन्हे करना पड़ता है। इतना जरूर है कि पहिले पैदल सिपाही या घुड़ सवार रक्षा किया करते थे अब हवाई जहाज और तोप बन्दूको से रक्षा की जाती है।

जान माल की रक्षा करना

राज्य का प्रथम कर्तव्य जान माल की रक्षा करना है। जिस राज्य मे शरीर और धन सुरक्षित नहीं है वह राज्य कहलाने का अधिकारी नही है। राज्य इस बात की व्यवस्था करे कि उसके अन्दर कोई एक दूसरे को शारीरिक दंड न दे सके। सरकार को छोड़ कर दंड देने का अधिकारी किसी भी व्यक्ति को नहीं मिलना चाहिये। यदि कोई आत्महत्या करता है तो सरकार उसे दंड देवे। बाहरी हमलो से भी वह रक्षा करे। इसके लिये वह फौज रक्खे और

उसका खर्च प्रजासे टैक्स के रूप में ले। प्रजा को प्रसन्नता पूर्वक इस टैक्स को देना चाहिये। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य आवश्यकता से अधिक फौज रक्खे और हथियारों के बनाने में एक बहुत बड़ा धन खर्च करदे। आज कल प्रजा का धन इस व्यर्थ की तैयारी में वेहद नष्ट हो रहा है। यदि यही पैसा शिक्षा और कारोबार में लगता तो राज्य की सभ्यता बढ़ती। इसलिये प्राण की रक्षा के लिये उतनी हीं सेना और पुलीस रखना चाहियं जितनी आवश्यकता हो। इसी प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति की भी रक्षा का उपाय होना चाहिये। सरकार को ऐसे नियम बनाने चाहिये जिससे कोई किसी की सम्पत्ति पर हाथ न लगाये। चोरी डाँका आदि के लिये कड़े दंड की व्यवस्था होनी चाहिये। इन दोनों कर्तव्यो को पूरा किये बिना राज्य की स्थिति असम्भव है।

राज्य का तीसरा आवश्यक कर्तव्य है न्याय की रक्षा करना।

न्याय की रक्षा

जिस राज्य मे धनी, ग़रीब, नीच, ऊँच, काले और सफेद का भेद भाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नहीं हो सकती। राज्य का कर्तव्य है कि वह सबको एक समान देखे। टैक्स का सिद्धान्त एक होना चाहिये। कचहरियों मे इंसाफ करने में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये। एक राजनीतिज्ञ का कहना है कि न्याय राज्य की जड़ है *। जो राजा न्याय करना नहीं जानता वह नरक का अनुगामी होता है। नीति और राज्य ये दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते हैं और साथ ही नष्ट भी होते हैं। अफलातून का कहना है 'न्याय राज्य का अन्तिम उद्देश्य है।' न्याय के ही बल पर राज्य की मर्यादा और दृढ़ता दोनों निर्भर रहते हैं। निर्बल राज्य न्याय की रक्षा नहीं कर सकता। जिस राज्य में न्याययुक्त शासन होता है, वह इसे सूचित करता है कि उसकी सरकार दृढ़ और कार्य कुशल है। राज्य मे सेना और पुलीस का प्रबन्ध न्याय की ही रक्षा के लिये किया जाता है। कचहरियों को सभी लोग न्यायालय कहते हैं। राज्य की ओर से लोगों को इसी लिये दंड दिया जाता है कि उनके कार्य न्याय के विरुद्ध होते हैं। राज्य को स्वयं तो न्याय की रक्षा करनी हीं पड़ती है, साथ ही प्रजा मे भी व्यक्तिगत न्याय की

* (Justice is the keystone of a state.)

रक्षा का विधान बनाना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अन्याय करता है तो वह राज्य की ओर से दंड का भागी होता है। जितने भी क़ानून बनते हैं सबका उद्देश्य अन्याय को रोक कर न्याय की रक्षा करना होता है।

न्याय और समानता दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध है शरीर और धन में विषमता रहते हुये भी समानता हो सकती है। प्रजातन्त्रवाद का तात्पर्य यह है कि राज्य में समानता रहे। अर्थात् प्रत्येक कार्य में व्यक्ति को समान अवसर दिया जाय। जहाँ पर इस प्रकार की समानता नहीं पाई जाती, और जाति, रूप रंग तथा धर्म मे भेद भाव किया जाता है वहाँ न्याय की रक्षा नही हो सकती। यदि भारतवर्ष मे ब्राह्मण और क्षत्रियो को विशेष सुविधायें दी जायँ तो यह एक प्रकार का अन्याय होगा। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सबको समान अवसर दे। तभी न्याय की रक्षा सम्भव हो सकती है। कानून सबके लिये एक होने चाहिये। धनी और ग़रीब का अन्तर न्यायालयों में नहीं होना चाहिये।

स्वास्थ्य और सफ़ाई

राज्य का कर्तव्य किसी एक ही विभाग को सुदृढ़ करना नहीं है। प्रजा को जिन जिन वस्तुओ से लाभ पहुँचे उन सबकी उन्नति करना उसका धर्म है। किसी भी प्रकार से मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिये। केवल भोजन वस्त्र और रक्षा ही राज्य के कर्तव्य नही हैं। इन्हें तो व्यक्ति भी अलग अलग कमा सकता है। राज्य व्यक्ति से ऊँचा है। जितना व्यक्ति कर सकता है, उसके आगे करना राज्य का कर्तव्य है। अन्तःकरण के विचारों की उन्नति के लिये वाह्य रहन सहन की भी आवश्यकता पड़ती है। जो गन्दी जगहो मे निवास करेगा और सड़ी गली चीज़ो का प्रयोग करेगा वह बीमार अवश्य पड़ेगा। एक की बीमारी गाँव भर को बीमार कर सकती है। इसी भयंकरता को रोकने के लिये राज्य स्वास्थ्य विभाग और सफ़ाई विभाग रखता है। इस विभाग का कर्तव्य है कि वह राज्य मे सफ़ाई का प्रबन्ध करे। जिस राज्य मे बार बार बीमारी आये और लोग रोगी तथा कमज़ोर रहें, वह प्रजा की रक्षा और उन्नति कुछ नहीं कर सकता। बड़े बड़े शहरो मे सफ़ाई का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। घनी बस्ती मे यदि

सफाई के नियम न हों तो वहाँ बारह महीने बीमारी टिकी रहेगी। इसी लिये सरकार स्थानीय संस्थाओं द्वारा सफ़ाई का प्रबन्ध कराती है और अवसर पड़ने पर औषधि भी वितरण करती है। हमारे देश में गाँवों की सफ़ाई की ओर तथा लोगों के स्वास्थ्य पर कम ध्यान दिया गया है। इसी का परिणाम है कि गाँव सभी प्रकार की उन्नति मे पीछे हैं।

अंग्रेज़ी मे एक कहावत है कि सफाई स्वर्ग का मार्ग है। (Cleanliness is road to godliness) हमारे यहाँ भी सफ़ाई और पवित्रता को जीवन मे प्रथम स्थान दिया गया है। जब तक मशीनों की ईजाद नहीं हुई थी तब तक बड़े बड़े शहर भी नहीं थे। परन्तु आज कल शहरों की आबादी बढ़ रही है। जीविका की खोज मे गाँवो के लोग शहरो मे आ रहे हैं। इसलिये शहरो की बनावट, हवा, रोशनी आदि के प्रबन्ध का ध्यान रखना राज्य का मुख्य कर्तव्य हो गया है। आवागमन की सुविधा के कारण यात्रा करने वालो की तादाद बढ़ती जा रही है। इससे छूत छात की बीमारियों के फैलने की काफी आशंका रहती है। इसीलिये रेलो में छूत की बीमारी वालो को चलने की इजाज़त नहीं है। इसमे सैकड़ो आदमी बीमार पड़ेंगे और उनके द्वारा और जगहो मे भी वे बीमारियाँ फैलेंगी। शहरों में पार्क और, स्नानागार तथा शौचालय आदि इसीलिये बनाये जाते हैं कि लोग गन्दगी द्वारा बीमारियो के शिकार न बन सकें। बीमारो के लिये औषधालय तथा अस्पताल बनवाने पड़ते हैं। बाज़ारो मे सरकारी अफसर इस बात की देख भाल रखते हैं कि कोई सड़ी गली चीज़े न बेचे। शराब, अफीम, गाँजा आदि नशीली चीज़ो पर सरकार अपना पूरा अधिकार रखती है। सबको इनके बेचने की इजाज़त नहीं दी जाती। बहुत से देशों में सरकार की ओर से अफसर नियुक्त रहते हैं जो स्कूलो मे विद्यार्थियो के स्वास्थ्य की परीक्षा करते रहते हैं।

आवागमन के साधन देना

जब तक आवागमन की सुविधा न थी तब तक एक देश दूसरे से अलग था। उनमे न तो कोई व्यापारिक सम्बन्ध था और न सांस्कृतिक। रेल, तार, डाक, जहाज़ इत्यादि के बनने पर लोग एक देश से दूसरे देशो मे जाने लगे। यदि इस बीसवीं

शताब्दी में कोई राज्य इन सुविधाओं से अपने आपको वंचित रखता है तो वह सभी प्रकार से पीछे समझा जाता है। भारतवर्ष आज दुनियाँ की दौड़ में पीछे गिना जाता है। इसके बहुत से कारण हैं। उनमें से एक यह भी है कि हम नये आविष्कारो से बाद में फायदा उठाने लगे है। इनकी उन्नति से शासन कार्य में सहायता मिलती है। राज्य के कर्मचारी आसानी से एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा सकते हैं। यदि राज्य में कहीं बीमारी फैली हो अथवा अकाल पड़ा हो तो सरकार आसानी से वहाँ दवा और अन्न भेज सकती है। यदि किसी भाग की प्रजा किसी कारणवश बग़ावत करे तो राज्य जल्दी से जल्दी वहाँ सेना भेज सकता है। शासन के अतिरिक्त प्रजा की आर्थिक दशा मे वृद्धि होती है। अपने देश मे तो तिजारत बढ़ती ही है, विदेशो में भी व्यापार करने का अवसर मिलता है। इन्हीं सुविधाओं से लाभ उठा कर यूरप के लोगों ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में दुनियाँ की बाज़ारो पर अपना अधिकार कर लिया। व्यावसायिक उन्नति के साथ साथ उन्हे राजनैतिक अधिकार भी मिल गये। परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े साम्राज्यो की स्थापना हुई। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अधिक से अधिक लोगों को स्वदेश मे घूमने और विदेश जाने की तरह तरह की सुविधायें दे।

आवागमन के साधन देशों के सम्बन्ध को निश्चित करते हैं और उनके सम्पर्क को बढ़ाते हैं। इससे राजनैतिक एकता भी होती है। भ्रमण स्वय एक ऐसी चीज़ है जो दिल-बहलाव के अतिरिक्त मस्तिष्क शक्ति को भी बढ़ाता है। ज्ञान की वृद्धि होती है। फ्रांस में एक समय ऐसा नियम था कि शिक्षित लोगो को परीक्षाओ का प्रमाण पत्र तब तक नहीं दिया जाता था जब तक वे चार सौ मील से ऊपर का सफर नहीं कर लेते थे। इंगलैंड मे भी ऐसा ही नियम था। प्रत्येक अंग्रेज विद्यार्थी को कम से कम फ्रांस का भ्रमण जरूर करना पड़ता था। इससे मनुष्य की बुद्धि बढ़ती है, सैकड़ो व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिलता है, नये नये जीवन के तजुरबे होते हैं। इसलिये सरकार यदि अनुभवशील व्यक्तियो को पैदा करना चाहती है तो वह आवागमन की सुविधा अवश्य दे। एक ही स्थान पर बैठा हुआ मनुष्य कूपमडूक हो

जाता है। जिस राज्य मे इसके साधन अधिक हैं वहाँ की प्रजा सुखी और अनुभवशील है। हमारे देश में अभी इसकी कमी है। गाँवो में जाने के लिये ठीक रास्ते तक कहीं कहीं नहीं मिलते। गाँव वाले अपनी वस्तुओं को आसानी से रेल और बैलगाड़ी द्वारा बड़े बड़े शहरों को नहीं भेज सकते। सरकार को गाँवो मे भी कच्ची सड़कों का प्रबन्ध करना चाहिये। गाँवों की ग़रीबी और अशिक्षा का यह भी कारण है कि एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं। वहाँ न तो कोई बाहर से आता है और न वे ही कहीं जाते है। आशा है ग्रामोत्थान में इसकी सुविधा उन्हें दी जायेगी। राष्ट्रीयता की वृद्धि के लिये अपने देश को सभी बातों से परिचित रहने की आवश्यकता है। यह सरकार का कर्तव्य है कि वह एक भाग के निवासियों को दूसरे भाग मे जाने की सुविधा दे। यदि सभी राज्य आपस मे सहमत होकर एक दूसरे से अपना सम्बन्ध आवागमन के लिये ठीक कर लें तो संसार में अधिक शान्ति रह सकती है। उनकी कमी भी काफी अंश में दूर हो सकती है। अमेरिका मे किसी किसी वर्ष गेहूँ इतना अधिक होता है कि उसे जलाने की नौबत आजाती है। दूसरी ओर हमारे ही देश मे लाखों मनुष्य ऐसे हैं जो नंगे और भूखे रहते हैं। विलियम डिगबी साहब लिखते हैं, "बीसवीं सदी के शुरू मे करीब दस करोड़ मनुष्य ब्रिटिश भारत में ऐसे हैं जिन्हें किसी समय भी पेट भर अन्न नहीं मिलता। इस अधः पतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश मे कहीं पर भी दिखाई नहीं पड़ती।" एक ओर तो लोग भूखों मरते हैं और दूसरी ओर गेहूँ जलाया जाता है इसे मूर्खता के सिवाय और क्या कह सकते हैं। आवागमन की सुविधा भी काफी है। इसलिये सुविधा के साथ साथ राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह अन्य देशों से मित्रता का व्यवहार रक्खे।

दीन दुखियों का प्रबन्ध करना

प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो कार्य करने से महरूम होते हैं। वे या तो शरीर के किसी अंग से रहित होते हैं, अथवा माता पिता के कुप्रबन्ध के कारण धनहीन हो जाते हैं। उनके पास कोई भी ऐसी जायदाद नहीं होती जिससे वे अपनी

जीविका उपार्जन कर सकें। और तो और कितनों के पास रहने तक के लिये घर भी नहीं होता। हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या बहुत है जिनके पास न घर और न कोई जायदाद। इसीलिये बहुत से भिखारी घूमते हुये दिखलाई पड़ते हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इनकी देख रेख करे। बहुत से राज्यों ने इसका इतना अच्छा प्रबन्ध किया है कि वहाँ किसी को भीख माँगने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। अमेरिका और रूस में कोई भीख नहीं माँग सकता। सरकार उसे दंड देती है। लेकिन साथ ही वहाँ सबके लिये काम की व्यवस्था है। जो अपाहिज हैं उनके लिये भी कोई न कोई प्रबन्ध किया गया है। यदि राज्य ऐसा नहीं करता है तो उसमें चोरी और व्यभिचार की वृद्धि होगी। जब भूखे और दीन दुखियों की संख्या बढ़ जायगी तो राज्य में हाहाकार मच जायगा। हमारे देश में दीन दुखियो की रक्षा तथा उनकी जीविका का कोई प्रबन्ध नहीं है। थोड़े से ईसाई मिशनरी सेवा कार्य में लगे हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना है। राज्य की ओर से इसकी व्यवस्था होनी चाहिये। दैवी विपत्तियों में किसी का वश नहीं है। इसलिये जो लोग स्वस्थ और सम्पन्न हैं उन्हें लंगड़े लूँलो से घृणा नहीं करनी चाहिये। उनकी कमाई में इन ग़रीबों का भी हिस्सा है। मज़दूर वर्ग सबसे अधिक परिश्रम करता है। लेकिन सामाजिक व्यवस्था की कमी के कारण वह सबसे अधिक ग़रीब है। वे विचारे अपने पेट की ही चिन्ता में पड़े रहते हैं। पूँजीपति उनकी ग़रीबी से लाभ उठाते हैं। उनसे अधिक से अधिक काम लेते हैं और कम से कम उन्हें मज़दूरी देते हैं। सरकार को इसकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस दिशा में भारतीय सरकार ने कुछ किया है, लेकिन अभी वह काफी नहीं है।

सामाजिक सुधार

समाज कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह क्रमशः उन्नति अवनति करता रहता है। कोई भी ऐसा समय संसार के इतिहास मे न आया है और न आयेगा जब सम्पूर्ण सामाजिक बुराइयाँ दूर हो गई हो, या दूर हो जायेंगी। सामाजिक सुधार सदैव ही चलते रहेंगे। कारण यह है कि कुछ लोग तीव्र बुद्धि वाले होते हैं। वे नये जीवन

को जल्दी समझ जाते हैं और उसका समर्थन करते हैं । इसके विपरीत अधिकतर मनुष्य रूढ़ीवाद के ग़ुलाम होते हैं । उन्हें अन्ध-विश्वास से निकालने के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है । यदि उन्हें उसी दशा मे छोड़ दिया जाय तब भी काम नहीं चल सकता । थोड़े ही मनुष्यों की उन्नति से पूरे राज्य की उन्नति नहीं हो सकती । कुछ राजनीतिज्ञो का मत है कि राज्य का सिद्धान्त यह होना चाहिये कि अधिक से अधिक लोगों की भलाई और उन्नति हो ।* परन्तु यह सिद्धान्त सर्व सम्मति से मान्य नहीं है । राज्य सबकी उन्नति का ठीकेदार है । इसीलिये सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को भी उसे दूर करना चाहिये । विभिन्न समाज में भिन्न भिन्न प्रकार की समस्यायें होती हैं । हमारे ही देश को ले लीजिये । छुआछूत, ग़रीबी, मज़दूरों की समस्या, अन्ध विश्वास, अज्ञानता, बाल विवाह, भिक्षा वृत्ति, आदि बहुत सी कुरीतियाँ समाज में प्रचलित हैं । वैसे तो सुधार करने वाली संस्थायें इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर रही हैं, लेकिन सरकार को भी इन्हें दूर करना चाहिये । क़ानून के भय से बहुत सी कुरीतियाँ समाज से निकाली जा सकती हैं । सारदा बिल के पास हो जाने से बाल विवाह की प्रथा लगभग खतम हो रही है । यदि अनिवार्य-शिक्षा सम्बन्धी कोई क़ानून बना दिया जाय तो अशिक्षा भी अपने आप ही दूर हो जायगी । कई देशों में शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क है ।

राज्य एक शक्ति है । छोटे छोटे संगठन उसी से शक्ति प्राप्त कर सकते हैं । समाज सुधार एक कठिन कार्य है । कभी कभी ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जब सरकार की सहायता के बिना सुधार का काम आगे को चल ही नहीं सकता । उस हालत मे राज्य की ही शरण लेनी पड़ती है । राज्य का यह कर्तव्य है कि वह सुधार-संस्थाओं को आर्थिक सहायता दे । यदि उन्हे किसी और प्रकार की सहायता की आवश्यकता है तो उसे भी वह प्रदान करे । समाजवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य में व्यक्तिगत उद्योग भयंकर होते हैं । राज्य को ही सब कुछ करना चाहिये । इतना ज़रूर है कि वह जनता की आवश्यकताओं को समझ कर उनकी भलाई करे ।

---

* Greatest good of the greatest number

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

प्रश्न यह है कि राज्य व्यक्ति को किस हद तक स्वतन्त्र रक्खे। किन कार्यों को वह स्वयं करे और किन्हें प्रजा के ऊपर छोड़ दे। इसका निर्णय करना कठिन है। कारण यह है कि जैसी जनता होगी उसी हद तक राज्य उन पर जिम्मेवारी देगा। यदि प्रजा के विचार उन्नत हैं, वह निःस्वार्थ भाव से सेवा का कार्य कर सकती है तो राज्य उसे अधिक से अधिक जिम्मेवारी देगा। प्रत्येक व्यक्ति को काफी स्वतन्त्रता दी जायगी कि वह अपना सुधार तथा अपनी भलाई स्वयं करे। और यदि प्रजा कूप मंडूक है, वह अंध विश्वास के बन्धन से जकड़ी हुई है, तो राज्य कम से कम स्वतन्त्रता उसे प्रदान करेगा। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रत्येक राज्य का उद्देश्य होना चाहिये और इसी की पूर्ति के लिये उसके सारे प्रयत्न होने चाहिये। कहा भी जाता है कि "हम स्वतन्त्र होने के लिये ही बन्धन में पड़े हैं" (We are in bondage in order to be free.)। वह राज्य अपने उद्देश्य को भूल जाता है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करता है। नाजीवाद और फासिस्टवाद इसी लिये दोषी ठहराये जाते हैं कि उनमें व्यक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। व्यक्तियों की स्वतन्त्रता आँख मूँद कर कुचली जाती है। इसके विपरीत यह भी कोई नहीं कह सकता कि सम्पूर्ण अधिकार व्यक्तियों को ही दे दिये जायँ और राज्य शक्ति-हीन बन जाय। राज्य का कर्तव्य इन दोनों के बीच में है। व्यक्ति को क्रमशः अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलती जाय यही राज्य का कर्तव्य है। जनता के राज्य का यही तात्पर्य है कि वह स्वयं अपना शासन करे। प्रत्येक व्यक्ति को, जो बालक नहीं है, वोट देने का अधिकार होना चाहिये। उसे पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये कि वह जिसे चाहे अपना वोट दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के कर्तव्य अपरिमित हैं। जहाँ तक वह उनका पालन करेगा उसी हद तक वह जनता के हृदय पर शासन कर सकेगा। तलवार के बल पर भी राज्य किया जाता है, लेकिन वह स्थायी नहीं होता। किस समय वहाँ क्रान्ति की ज्वाला भभक उठेगी यह कोई नहीं कह सकता। जिस राज्य में प्रजा की अनुमति का ध्यान रक्खा जाता है, उसी राज्य में स्थायी

शान्ति रह सकती है। राज-नियमों का वहीं पालन होता है जहाँ प्रजा की राय मानी जाती है। इसलिये राज्य का सबसे बड़ा कर्तव्य प्रजा के अधिकारों की रक्षा करना और उसकी राय का ध्यान रखना है। यह राय सभी क्षेत्रों में दी जाती है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह हर क्षेत्र में अधिक से अधिक बहुमत से कार्य करे। प्रजा तभी सन्तुष्ट रह सकती है जब राज्य में उसकी सुनाई हो। राज्य के कर्तव्यों की गणना नहीं की जा सकती। जो राज्य अधिक से अधिक कर्तव्यों का पालन करता है वही इस भूमि पर रामराज कहा जा सकता है।

अध्याय ६

सरकार और इसके अंग

(Structure of Government)

राज्य और सरकार— सरकार के गुण—सरकार के अंग—सरकारी अंगों के विभाजन के सिद्धान्त विभाजन सिद्धान्त पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—व्यवस्थापिका सभा—व्यवस्थापिका सभा में दो सभायें—एक सभा—दो सभायें—बड़ी सभा की आवश्यकता—क़ानून कैसे बनते हैं—इनीशियेटिव और रिफ़रेन्डम—स्विटज़रलैंड—कार्यकारिणी सभा—कार्यकारिणी के विभिन्नरूप—पैत्रिक कार्यकारिणी—निर्वाचित कार्यकारिणी—कार्यकारिणी सभा का संगठन—कार्यकारिणी के कर्तव्य—कार्यकारिणी के दो स्वरूप—कार्यकारिणी विभाग—न्याय समिति—न्यायाधीश की भर्ती—न्याय समिति का संगठन—न्यायाधीशों का समय—आदर्श न्याय विभाग—न्यायाधीश और कानून।

राज्य और सरकार

/कुछ लेखको का मत है कि राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं है। दोनो पर्याय वाची शब्द हैं। राज्य कहें अथवा सरकार दोनों का अर्थ एक ही है। इस प्रकार के लेखको के पास प्रमाण भी काफी हैं। जैसे कोई कहता है कि अँग्रेजी सरकार तो उसका अर्थ अँग्रेजी राज्य भी है। इसी प्रकार जर्मन सरकार और जर्मन राज्य भी एक ही अर्थ रखते हैं। जितने राज्य हैं उतनी ही सरकार भी हैं। जहाँ राज्य होगा वहाँ सरकार का भी होना नितान्त आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि सरकार कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो राज्य से अलग अपनी सत्ता रखती हो। इतना एकीकरण होते हुए भी राज्य और सरकार दो हैं। जितना अन्तर शरीर और प्राण मे है उतना ही राज्य और सरकार में है। प्राण के बिना शरीर मिट्टी है। इसी प्रकार सरकार के बिना राज्य केवल आदमियो का एक झुण्ड है। सरकार राज्य की एक मशीन है। राज्य के अवयव (Elements) सरकार से भिन्न हैं। सरकार राज्य का वह साधन है जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। राज्य एक

स्थूल पदार्थ है। इसका सम्बन्ध किसी विशेष स्थान से रहता है। सरकार एक परिवर्तनशील भावना है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। राज्य का नक़शा हम खीच सकते हैं, उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा विस्तार का ठीक ठीक पता लगा सकते है, परन्तु सरकार की हम कोई भी शकल नहीं बना सकते। यदि राज्य को हम एक बहुत बड़ा कारखाना मान लें तो सरकार उसका सबसे बड़ा एजेण्ट है। राज्य के और भी बहुत से एजेण्ट्स हैं, लेकिन सरकार इन सबमे बड़ी है। 'राज्य' शब्द से तो हम यह समझ सकते हैं कि उसकी कोई सीमा होगी और कुछ व्यक्ति उसमे निवास करते होगे। परन्तु 'सरकार' शब्द से हम यह नही जान सकते कि उसका क्या स्वरूप है और क्या उद्देश्य है। सरकार के स्वरूप इतने भिन्न हैं कि केवल 'सरकार' शब्द उनके स्पष्टीकरण के लिये काफी नहीं है। कोई राज्य स्वदेशी और विदेशी नहीं हुआ करता। लेकिन सरकार स्वदेशी और विदेशी होती है।

सरकार राज्य के अन्दर एक प्रकार का संगठन है। आर्थिक, धार्मिक, व्यावसायिक, साहित्यिक तथा और भी अनेक प्रकार के संगठन राज्य मे होते हैं। सरकार इन संगठनों से कई मानी मे भिन्न है। एक तो वह इन सबका स्वामी है। सरकार की ही मर्जी पर ये सभी संगठन जीवित रह सकते हैं। किसी भी संगठन वा समुदाय को सरकार छिन्न भिन्न कर सकती है। सरकार सबसे बड़ा राजनैतिक संगठन है। वह राज्य को जिस ढाँचे मे चाहे ढाल सकती है। चाहे तो राज्य मे हद दर्जे की ग़रीबी कायम कर दे और यदि चाहे तो सोने और चाँदी से अपने देश को मालामाल भी कर दे। जिस समय सरकार चाहे, राज्य को टुकड़े टुकड़े कर सकती है। वह राज्यों पर भी अपनी धाक जमा सकती है। सरकार की शक्ति अनन्त है। वह चन्द सरकारी अफसरो का एक गिरोह नहीं है। सरकार स्वयं एक ऐसी ताकत है जो मनुष्य की बनाई हुई सभी शक्तियों मे महान् है। यद्यपि मनुष्य ने ही इसे जन्म दिया है; और व्यक्ति के ही उद्योग से इसका विकास भी हुआ है, फिर भी सरकार व्यक्तियों पर शासन करती है। बड़ा से बड़ा सरकारी अफसर भी सरकार से डरता रहता है। सरकार किसी भी मनुष्य को फाँसी पर लटका सकती है। दुनियाँ में ऐसी

भी सरकारें हैं जिन्होंने अपने मुल्क में हद दर्जे की तबाही पैदा कर रक्खी है। इसके विपरीत चन्द सरकारों ने अपने राज्य से ग़रीबी और बेकारी उठाकर फेंक दिया है। इन उद्धरणों से यह ज़ाहिर है कि सरकार राज्य के अन्दर एक सबसे बड़ी राजनैतिक जमात है जो राज्य को जीवित रखती है।

सरकार के गुण

जब हम यह कहते हैं कि अमुक राज्य अच्छा है और दूसरा बुरा है तो हमारा तात्पर्य सरकार से ही हुआ करता है। राज्य अच्छा और बुरा नहीं हो सकता। सरकार अच्छी और बुरी हुआ करती है। अच्छी सरकार से ही अच्छा राज्य बनता है। ऊपर कहा गया है कि सरकार की शक्ति अनन्त है और वह जो चाहे कर सकती है। तो इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह एक अनियमित शक्ति है। नियम का उलंघन कोई भी सरकार नहीं कर सकती। उसका सबसे बड़ा गुण यह है कि वह स्वयं नियमों का पालन करे और दूसरों से कराये। जितने भी क़ानून बनते हैं सरकार उन सबकी रक्षा करती है और जनता को उनके पालन का मार्ग प्रदर्शित करती है। किसी व्यक्ति के अन्दर जितने भी अच्छे से अच्छे गुण हो सकते हैं वे सब सरकार मे पाये जाते हैं। व्यक्तियों के अच्छे गुणों और अच्छी अच्छी भावनाओं के ही संगठन से सरकार की रचना हुई है और अब भी होती रहती है। प्रत्येक सरकार न्याय पर कायम रहती है। यह मजाल नहीं कि बड़ा से बड़ा सरकारी अफ़सर राज्य का एक भी पैसा खाजाय। सरकार उसे वैसा ही दंड देगी जैसा एक मामूली चोर को। दंड देने में वह सदैव निष्पक्ष रहती है। समाज की अच्छी से अच्छी प्रवृत्तियों को वह जगाती रहती है और बुरी भावनाओं को दबाकर जनता को आगे बढ़ाती है। राज्य में एकता और समानता क़ायम करके भिन्न भिन्न कलाओं का वह जन्म देती है। जो काम व्यक्ति नहीं कर सकता और समाज जिसे करने का अवसर ही नहीं पाता, उस काम को सरकार क्षण मात्र मे कर सकती है। बाल विवाह की प्रथा रोकने के लिये हमारे देश मे सदियों से कोशिश की जा रही थी। व्यक्ति और समाज दोनों जी जान से इसके पक्ष मे थे, किन्तु रूढ़ी वादियों के आगे उनकी एक नहीं चलती थी। लेकिन "सारदा बिल" को

पास कर सरकार ने इसे एक दम रोक दिया। मैं मानता हूँ कि अब भी चोरी से कुछ लोग इस क़ानून का उलंघन करते हैं फिर भी हम सरकार की शक्तियों का इससे अन्दाज़ लगा सकते हैं।

बुरों से भलों की रक्षा करना, देश देशान्तरों से अनुभवशील व्यक्तियों को बुलाकर अपने देश की उन्नति करना, अच्छे से अच्छे क़ानूनों द्वारा अपने देश वासियों का कल्याण करना, न्याय को बरतना, अमीर ग़रीब के भेदभाव को मिटाते रहना, तथा इसी प्रकार के और भी ऐसे काम हैं जो सरकार करती रहती है। देश की रक्षा और शान्ति का पूरा भार सरकार पर ही रहा करता है। इन कर्तव्यों से यह साफ ज़ाहिर है कि सरकार के गुणों की सूची हम तैयार नहीं कर सकते। उसके एक एक गुण हर क़ानून और करामात में भली भाँति दिखलाई पड़ते हैं। हर व्यक्ति और समाज जहाँ अपनी अपनी भलाई और ख़ुद गर्ज़ी की बातें करता है वहाँ सरकार इन सबकी भलाई का उपाय सोचती रहती है। उसकी नज़रों में न कोई अमीर है और न ग़रीब। वह जाति पाँत तथा काले सफेद का फरक नहीं करती है। कुछ सरकार आज ऐसी हैं जो काले सफेद का फ़रक़ करती हैं, लेकिन हम उसे इसकी तारीफ नहीं कर सकते। अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में सफेद और काले का भेद भाव किया जाता है लेकिन इसके लिये दुनियाँ उन्हें कोसती है। सरकारी जितने भी वसूल हैं सब राज्य की बेहतरी के लिये हैं। सरकार की रूप रेखा भलेही बदल जाय लेकिन उसके गुणों में क़तई फरक़ नहीं पड़ सकता, बशर्ते कि सरकार की नियत ठीक हो।

जहाँ सरकार में इतने गुण हैं, वहाँ थोड़े से अवगुण भी हैं। प्रत्येक सरकार अपनी शक्ति का अन्दाज़ ज़रूरत से ज्यादा रखती है। वह स्वभाव से ही रूढ़ीवादी होती है और सभी सामाजिक सुधारों में आरम्भ में अड़चने डालती है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही सरकार अपने देश में अच्छे नियम बनाती है और विदेशों के लिये घातक क़ानून बनाती है। प्रत्येक सरकार आज बीसवीं सदी में तलवार और बन्दूकों को ही अपनी शक्ति समझती है। इसकी वजह यह है कि दुनियाँ की हवा आज बदली हुई है। सरकार का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह जनता

की राय पर कायम रहे, लेकिन आज बहुत सी सरकार जनता को ठुकरा कर जीवित हैं। कोई भी ऐसी सरकार स्थायी नहीं रह सकती। सरकार में एक और भी दोष है। अपनी कमी और काहिली के कारण कभी कभी वह धनियों और स्वार्थियों की जमाअत बन जाती है। प्रत्येक सरकार परिवर्तन से डरती है। वह अपने ढाँचे को, चाहे वह कितना ही पुराना अथवा निकम्मा क्यों न हो गया हो, बदलना नहीं चाहती। अपनी हार का अन्दाज़ लगते ही वह पैशाचिक शक्तियों का उपयोग करने में ज़रा भी हिचक नहीं करती है। विदेशी सरकार अपने मुल्क की बेहतरी के लिये दूसरे देशों को बड़ी ही ख़ुदग़र्ज़ी से लूटती खसोटती है।

सरकार के अंग

जिस प्रकार किसी कुटुम्ब की सारी ज़िम्मेवारी उस घर के मालिक पर होती है उसी तरह राज्य का सारा भार सरकार पर निर्भर रहता है। थोड़ी भी असावधानी से राज्य का अन्त हो सकता है। किसी भी कुटुम्ब को यदि हम ग़ौर से देखें तो पता चलेगा कि सभी व्यक्ति अलग अलग कामों में लगे हुये हैं। घर के मालिक ने उनके कामों को बाँट रक्खा है। लेकिन सबके काम का महत्व एक सा है। एक की लापरवाही का असर सारे कुटुम्ब पर पड़ता है। कुटुम्ब की तरह सरकार ने भी अपने काम को बाँट रक्खा है। उसके ऊपर इतनी बड़ी ज़िम्मेवारी है कि बिना कार्य विभाजन के ठीक ठीक काम नहीं हो सकता। उसे इतने कर्तव्यो का पालन करना है कि बिना उनका वर्गीकरण किये वह सुचारु रूप से सबको इन्तजाम नहीं दे सकती। उसका काम केवल टैक्स वसूल करना नहीं है और न क़ानूनों को पास कर देना है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि आया उन क़ानूनों का पालन हो रहा है अथवा नहीं। जो लोग क़ानूनो को भंग करते हैं उनके दंड की भी व्यवस्था बनानी पड़ती है। दंड देने के लिये नियम तथा न्यायालय दोनो ही बनाने पड़ते हैं। कुछ लोग केवल इसी काम के लिये रक्खे जाते हैं कि वे इस बात का पता लगाते रहें कि कौन कौन लोग क़ानूनो को तोड़ रहे हैं।

सरकार के कामों की गिनती से हम पार नहीं पा सकते।

उसका काम तीन भागों में बँटा हुआ है। इन्हीं तीन भागों को सरकार का तीन अंग कहा जाता है। सरकार के जितने भी काम हैं वे सब इन्हीं तीनों भागों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसीलिये सरकार के तीन मुख्य काम कहे गये हैं। सरकार देश के लिये क़ानून बनाती है, उनके पालन करने के लिये लोगों को बाध्य करती है और यदि कोई तोड़ता है तो उसे दंड देती है। मोटे तौर पर इन्हीं तीन विभागों के अन्दर सरकार के सभी अन्य काम भी आ जाते हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि सरकार रूपी वृक्ष की ये तीन शाखायें हैं, बाकी उपशाखायें तथा टहनियाँ और पत्ते हैं। सरकार का जो विभाग कानून बनाता है उसे व्यवस्थापिका सभा कहते हैं (Legislature)। जो भाग क़ानूनों के पालन की देख रेख करता है वह कार्य कारिणी सभा (Executive) कहलाता है। तीसरा भाग नियम तोड़ने वालों को दंड देता है जो न्याय समिति (Judiciary) कहलाता है। प्रत्येक विभाग का वर्णन अलग अलग करना कई दृष्टियों से अच्छा होगा। कारण यह है कि यद्यपि ये अंग अलग अलग कार्य करते हैं और इनका संगठन भी भिन्न है, फिर भी इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये किसी न किसी सिद्धान्त पर अलग किये गये हैं। इस सिद्धान्तों की ओर भी हमें एक नज़र डालनी होगी।

सरकारी अंगों के विभाजन के सिद्धान्त

व्यवस्थापिका सभा, कार्य कारिणी सभा और न्याय समिति ये सरकार के तीन अंग हैं। इनके अलग अलग संगठन हैं और इनके कार्य भी एक दूसरे से भिन्न हैं। एक प्रश्न यह उठता है कि क्या ये तीनो अंग एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं अथवा कहीं न कहीं इनका सम्बन्ध क़ायम रक्खा गया है? इसमें तो कोई शक नहीं कि ये तीनों अंग एक दूसरे से पूर्णतया अलग काम नहीं कर सकते। मान लीजिये व्यवस्थापिका सभा ने कोई क़ानून पास किया। कार्य कारिणी सभा का कोई भी अफ़सर उसकी रक्षा करने से इनकार कर देता है अथवा न्यायालय में जज ने उस आदमी को दंड देने से इनकार कर दिया जिसने दिन दहाड़े डाँका डाले था। इसी तरह और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ पर एक विभाग दूसरे विभाग की क़तई नहीं सुन सकता।

नतीजा यह होगा कि देश में तहलका मच जायगा और अच्छी से अच्छी सरकार बदनाम हो जायगी।

मानटेस्क्यू (Montesquieu) ने अपनी एक पुस्तक (The spirit of the Laws) मे इन तीनों अंगों के विभाजन पर विचार किया है। वह लिखता है, "प्रत्येक सरकार के अन्तर्गत तीन शक्तियाँ होती हैं। व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सभा और न्याय समिति। पहली शक्ति क़ानून बनाती है, दूसरी उनका पालन करवाती है और तीसरी तोड़ने वालों को दंड देती है। राज्य मे स्वतन्त्रता के लिये यह आवश्यक है कि सरकार इस ढंग पर इन तीनों अंगों का विभाजन करे कि एक व्यक्ति दूसरे से भयभीत न हो। यदि कानून बनाने और उनके पालन करवाने का भार एक के हाथ में सौप दिया जाय तो कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रह सकता। इसी प्रकार उस हालत में भी स्वतन्त्रता कायम नहीं रह सकती जब कि न्याय समिति और कार्यकारिणी सभा अलग अलग कार्य न करे। यदि उपरोक्त दोनों अंगों के काम मिला दिये जाँय तो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जीवन दोनों ख़तरे से ख़ाली नहीं रह सकते।"*

ऊपर के उद्धरण से यह साफ ज़ाहिर है कि मानटेस्क्यू इस बात के पक्ष में है कि सरकार के तीनों अंगों को अलग अलग

---

* If the Legislative and Executive powers, says Montesquieu, are united in the same person, or in the same body of persons, there is no liberty, because of the danger that the same monarch or the same senate may make tyrannical laws and execute them tyrannically. Nor, again, is there any liberty if judicial power is not separated from Legislative and the Executive. If it were joined to the legislative power the power of the life and liberty of the Citizens would be arbitrary; for the judge would be the law maker. If it were joined to the executive power, the Judge would have the force of an oppressor."

काम करना चाहिये। एक अंग दूसरे के काम में हरगिज़ दख़ल न दे वरन् इससे नागरिक स्वतंत्र नहीं रह सकता। इसी सिद्धान्त के आधार पर अमेरिका की शासन पद्धति का निर्माण किया गया है। कांग्रेस वहाँ की व्यवस्थापिका सभा है। उसका काम केवल क़ानून बनाना है। प्रेसीडेन्ट कार्यकारिणी सभा का प्रधान है। वह भी अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र है। कहा जाता है कि "अमेरिका का प्रेसीडेन्ट केवल स्त्री को पुरुष नहीं बना सकता बाक़ी सब कुछ कर सकता है।" इसी प्रकार वहाँ का सबसे बड़ा न्यायालय जो सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) कहलाता है पूरी तरह स्वतन्त्र है। यानी यूनाइटेड स्टेट्स 'आफ अमेरिका में सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से बिलकुल अलग रक्खे गये हैं। एक अंग का कोई भी आला से आला अफसर दूसरे अंग में हाथ नहीं डाल सकता। अमेरिका के समान इन तीनों अंगों के इतनी ख़ूबी के साथ विभाजन की मिसाल दुनियाँ के किसी भी राज्य में नहीं पाई जाती।

मानटेस्क्यू की तरह ब्लैक स्टोन (Black Stone) ने भी अपनी पुस्तक (Commentaries on the Laws of England) में तीनो अंगों के विभाजन पर पूरा ज़ोर दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह पता चलता है कि अरस्तू ने भी इस बात पर ज़ोर दिया है कि ये तीनो अंग जहाँ तक हो सके अलग अलग रक्खे जाँय। हमारे देश में सरकार के ये तीनों अंग अधिक काल तक अलग अलग नहीं किये जा सके। जो राजा और उसके थोड़े से सलाहकार राज्य के लिये क़ानून बनाते थे वे ही इन्हें पालन भी कराते थे और कानून भंग करने वालों को दंड भी देते थे। फिर भी हम यह देखते हैं कि उनकी प्रजा आजकल से कहीं स्वतंत्र और खुश हाल थी। आगे चल कर हम वर्णन करेंगे कि आज भी ये तीनों अंग बिलकुल अलग नहीं हैं। कुछ आधुनिक विद्वानों का तो यह मत है कि सरकार के न केवल तीन अंग हैं बल्कि चार और पाँच हैं। अमेरिका के एक विद्वान् जे. क्यू. डेली (J. Q. Dealey) ने सरकार के सात अंग ठहराये हैं। लेकिन जिस आधार पर इन्होने इन अंगों का विभाजन किया है उसके अनुसार हम सरकार को सात क्या बीसों टुकड़ों में बाँट सकते हैं। कुछ

फ्रांसीसी विद्वानों ने सरकार को केवल दो अंगों में विभाजित किया है, व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी सभा। न्याय समिति को वे कार्यकारिणी का एक टुकड़ा मानते हैं। चाहे कितने भी टुकड़े किये जाँय दुनियाँ की हर सरकार के तीन अंग हैं। इतना जरूर है कि उनके सम्बन्ध में काफी अन्तर पाया जाता है।

विभाजन सिद्धान्त पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

कहने को तो हम सरकार के तीनों अंगों को एक दूसरे से अलग समझते हैं और हर अंग को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं, लेकिन कार्य रूप में हम कुछ और ही देखते हैं। सबसे पहले हमारी दृष्टि अमेरिका (U. S. A) की ओर जाती है। वहाँ की शासन पद्धति की यह विशेषता समझी जाती है कि तीनों अग एक दूसरे से अलग अलग कार्य करते हैं। एक अमेरिकन लेखक ने कहा है "हमारी शासन पद्धति की विशेषता सरकार का अंग विभाजन है और इसकी सब से बड़ी कमजोरी यह है कि उसमे 'ईश्वर' शब्द का कही भी नाम नही है।" कांग्रेस, प्रेसीडेन्ट, और प्रधान न्यायालय (Supreme Court) यद्यपि अलग अलग हैं फिर भी इन सबका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कांग्रेस एक भी कानून ऐसा नहीं पास कर सकती जो प्रेसीडेन्ट की मर्जी के खिलाफ हो। कांग्रेस द्वारा पास किये गये किसी भी क़ानून को वह रद् कर सकता है। इतनी सुविधा कांग्रेस को जरूर दी गई है कि वह प्रेसीडेन्ट के रद् किये हुये क़ानून को भी दो तिहाई बहुमत से पास कर सकती है और वह क़ानून लागू किया जा सकता है। लेकिन यह दो तिहाई बहुमत कांग्रेस की दोनो सभाओ मे अलग अलग होना चाहिये। प्रेसीडेन्ट कांग्रेस का सदस्य नहीं बन सकता। यानी इसका अर्थ यह है कि व्यवस्थापिका सभा और कार्यकारिणी समिति दोनो अलग अलग हैं। लेकिन जब कोई आवश्यक कानून पास कराना होता है तो प्रेसीडेन्ट लिख कर उसे सन्देश (message) के रूप में कांग्रेस मे भेज देता है और इस प्रकार वह सन्देश ही क़ानून के रूप मे पास कर दिया जाता है। यद्यपि कांग्रेस उसे पास करने के लिये वाध्य नहीं है, फिर भी प्रेसीडेन्ट का प्रभाव उसे पास करा ही देता है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि

अमेरिका में व्यवस्थापिका सभा और कार्य कारिणी में कोई सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका (U. S. A.) का प्रधान न्यायालय (Supreme Court) पूर्ण स्वतन्त्र कहा जाता है। सरकार का कोई भी अंग उसके कामों में दखल नहीं दे सकता। लेकिन हम देखते हैं कि प्रधान न्यायालय के सभी न्यायाधीशों को प्रेसीडेन्ट ही नियुक्त करता है। इस कार्य में वह सीनेट (Senate) से परामर्श भी लेता है। अमेरिका में हम मित्र मंडल (Party System) प्रथा को भी पाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवस्थापिका सभा और प्रेसीडेन्ट के विचार एक हों और प्रेसीडेन्ट वही बनाया जाय जो कांग्रेस के साथ सहमत हो।

इङ्गलैंड में भी ये तीनों अंग अलग अलग किये गये हैं। पार्लियामेंट कानून बनाती है, कैबिनेट (Cabinet) प्रधान कार्य कारिणी समिति है और प्रिवी कौंसिल सबसे बड़ा न्यायालय है। लेकिन जब हम गहराई के साथ इनका अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि ये अंग केवल नाम मात्र के लिये अलग किये गये हैं। पार्लियामेंट के दो अंग हैं, लार्ड सभा (House of Lords और कामन सभा (House of Commons)। लार्ड सभा का सभापति, जो लार्ड चान्सलर (Lord Chancellor) कहलाता है कैबिनेट का सदस्य होता है और प्रिवी कौंसिल का सभापति भी होता है। इसका अर्थ यह है कि एक ही व्यक्ति व्यवस्थापिका सभा, कार्य कारिणी सभा, और न्याय समिति तीनों मे काम कर रहा है। फिर हम यह क्यों कहते हैं कि तीनों अंग एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार कार्य कारिणी सभा के सभी सदस्य कामन्स सभा के भी सदस्य होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सिद्धान्त रूप मे इङ्गलैंड मे ये तीनों अंग अलग अलग हैं, लेकिन कार्य रूप में इनमे कोई भेद भाव नहीं है।

फ्रांस मे हमें ये तीनों अङ्ग काफी मिले जुले दिखलाई देते हैं। वहाँ का प्रेसीडेन्ट जो कि कार्य कारिणी सभा का प्रधान है व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा निर्वाचित किया जाता है। प्रेसीडेन्ट को यह अधिकार है कि वह सीनेट (Senate) की राय से चेम्बर आफ डिप्यूटीज़ (Chamber of Deputies) को बर्खास्त कर दे। जर्मनी की लड़ाई के पहले जर्मन सम्राट व्यवस्थापिका सभा

पर काफ़ी प्रभाव डाल सकता था। आज जिन जिन देशों में तानाशाही (Dictatorship) दिखलाई पड़ती है वहाँ व्यवस्थापिका सभा और न्याय समिति क़रीब क़रीब एक ही अंग बन गये हैं। यूरप के कई देशो मे "क़ानूने हुकूमत" (Administrative Laws) की प्रथा प्रचलित है। आखिर ये क़ानून क्या हैं ? इन कानूनों को व्यवस्थापिका सभा नहीं बनाती है। कार्य कारिणी सभा को यह अधिकार दिया गया है कि वह जरूरत पड़ने पर "क़ानूने हुकूमत" (Administrative Laws) बना सकती है।

सच्ची बात तो यह है कि हम इन तीनों अङ्गों को बिलकुल अलग नहीं कर सकते। कार्य रूप में यह सिद्धान्त असम्भव है। सरकार स्वयं एक मशीन है। इसके पुर्जे पुर्जे अलग कर देने पर यह काम नहीं कर सकती। इसके सभी अङ्ग एक दूसरे से काफी मिले जुले रहने चाहिये। राज्य एक ऐसी इकाई है कि इसकी भलाई के लिये हम समूचे सरकार पर तो निर्भर रह सकते हैं लेकिन इसके एक एक टुकड़े पर हम बिलकुल भरोसा नहीं कर सकते। सरकार के तीनो अङ्गों मे से कोई भी अङ्ग इतना शक्तिशाली हो सकता है कि वह दूसरे अङ्गों पर हावी हो जाय। यह चीज़ नागरिक स्वतन्त्रता मे बाधक सिद्ध होगी। इसलिये इनके विभाजन मे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ये अलग अलग काम करते हुये भी आपस मे टकराने न पाये। इनका मेल उन जगहों पर जरूर रहे जहाँ से राज्य की अधिक भलाई हो सकती है। यह कहना ग़लत है कि न्याय और कार्यकारिणी सभा का कार्य एक व्यक्ति के हाथ मे आजाने से समाज मे स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इङ्गलैंड की ओर हम नज़र डालें तो पता चलेगा कि ये दोनो अंग एक व्यक्ति के हाथ में होते हुये भी वहाँ काफी स्वतन्त्रता है। केवल अङ्गो के अलग अलग होने से ही स्वतन्त्रा की रक्षा नहीं हो सकती। तीनो अङ्गो के विभाजन मे हम कोई दीवार नहीं खड़ी कर सकते। इसका विभाजन प्रत्येक देश में अलग अलग तरीके पर हो सकता है। कारण यह है कि विभिन्न देशो मे लोगों की अलग अलग मनोवृत्तियाँ हैं, उनकी सामाजिक व्यवस्था मे काफ़ी फ़रक़ है।

उनके वातावरण और उनकी संस्कृति मे भी अन्तर है। इसलिये इन्हीं के अनुसार इन तीनों अङ्गों को शक्ति प्रदान की जा सकती हैं। कुछ बाते ऐसी ज़रूर हैं जो हर देश में लागू हो सकती हैं। पहली बात तो यह है कि व्यवस्थापिका सभा का स्थान इन तीनों मे श्रेष्ठ है। इसलिये इसे सबसे अधिक शक्ति मिलनी चाहिये। आर्थिक अधिकार केवल व्यवस्थापिका सभा को मिलना चाहिये। क्योंकि जनता के पैसे को उसके प्रतिनिधियों को ही खर्च करने का अधिकार है। दूसरी बात यह है कि न्याय समिति पूर्णतया स्वतन्त्र होनी चाहिये। किसी देश में इन्साफ तब तक नहीं हो सकता जब तक कि न्यायालयों को पूरी स्वतन्त्रता प्रदान न की जाय। हमारे देश में अङ्गों के विभाजन मे कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें हम बहुत अरसे तक चालू नहीं रख सकते। इनसे नागरिक स्वतन्त्रता मे काफी बाधा पड़ती है। पहली कमी तो यह है कि जिले का कलेक्टर वहाँ के कार्यकारिणी विभाग का प्रधान भी है और इन्साफ भी करता है। कांग्रेस सरकार इसे दूर करने का प्रयत्न कर रही थी। दूसरी कमी यह है कि मुल्की लाट (viceroy) को कानून जारी करने का भी अधिकार दिया गया है। वे किसी भी समय भारतीय व्यवस्थापिका सभा की राय को ठुकरा कर आर्डिनेन्स (ordinance) जारी कर सकते हैं। तीसरी कमी यह है कि जनता के धन को उनके प्रतिनिधि नहीं खर्च कर सकते। ७५ प्रतिशत रुपया व्यवस्थापिका सभा के हाथ मे न होकर लाट साहब (viceroy) की ही मर्ज़ी पर रहेगा।

व्यवस्थापिका सभा
Legislature

व्यवस्थापिका सभा का मुख्य काम क़ानून बनाना है। इस सभा के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होने चाहिये। व्यवस्थापिका सभा को "धारा सभा" भी कहते हैं। इस सभा मे नामज़द होकर भी लोग आते हैं। हमारे देश मे अभी हाल तक काफी लोग नामज़द होकर धारा सभाओं में आते थे। सरकार अपने चुने हुये आदमियों को नामज़द करके इन सभाओं मे इसलिये भेजती थी कि हर मामले मे वे सरकार का साथ देगे। लेकिन नामज़दगी का तरीका अब दुनियाँ के हर मुल्क से निकाल

दिया गया है। फिर भी इसकी बू अभी कही कहीं बाकी है। कहा जाता है कि धारा सभाओ मे विभिन्न मत के लोगो को अपना प्रतिनिधि भेजना चाहिये। लीकाक लिखता है, (A Legislative body must consist of many persons, representing numerous interests, various points of view, and different sections of the community) "धारा सभाओ मे जनता के अधिक से अधिक प्रतिनिधि आने चाहिये। हर दृष्टिकोण और हर समुदाय के लोगों को उसमे आने का अवसर मिलना चाहिये ताकि समाज के सभी अङ्ग उसमे स्थान पा सके।" धारा सभा मे सदस्यो की संख्या क्या हो इसमे लोगो के मतभेद है। कुछ लोग यह कहते हैं कि सदस्यो की संख्या जितनी ही अधिक होगी उतने ही प्रकार के विचारों का सहयोग प्राप्त होगा। कुछ दूसरे प्रकार के राजनीतिज्ञ इस सिद्धान्त में विश्वास नही करते। वे कहते हैं कि कम प्रतिनिधि होने से अच्छी तरह विचार करने का मौका मिलेगा। बाजार लगाने से कोई फायदा नही है।

प्राचीन काल मे जब कि प्रत्येक मुल्क की आबादी बहुत थोड़ी थी, प्रतिनिधि चुनने का रिवाज न था और सारी जनता इकट्ठी होकर अपने लिये नियम बना लिया करती थी। यूनान देश मे यह रवाज काफी अरसे तक जारी था। आबादी बढ़ जाने पर सारी जनता का एकत्रित होना असम्भव ही नही बल्कि काफी खतरनाक है। हिन्दुस्तान को हम मिसाल के तौर पर ले सकते हैं। यह मुल्क काफी लम्बा चौड़ा है फिर भी यहाँ कोई ऐसा मैदान नहीं है जहाँ छत्तीस करोड़ आदमी इकट्ठे होकर अपने लिये कानून बना सके। यदि ये आदमी एक दूसरे से मिले हुये खड़े किये जायें तो कलकत्ते से पेशावर तक उन्हे खडे होने की भी जगह न मिलेगी। इन्हीं दिक्कतो को दूर करने के लिये प्रतिनिधित्व की प्रथा चलाई गई। जहाँ तक प्रतिनिधिओ की संख्या का प्रश्न है इसमें मध्यम मार्ग सबसे अच्छा होगा। जिस देश की जितनी ही कम वा बेश आबादी हो उसी हिसाब से छोटी बड़ी वहाँ की धारा सभा भी होनी चाहिये। ध्यान केवल इतना रखना चाहिये कि मुल्क का कोई भी गिरोह इसमें हिस्सा

लेने से अलग न रह जाय। इससे जनता में असन्तोष के सिवाय और कुछ नहीं होगा।

कुछ ऐसी बात हैं जिनका ध्यान प्रत्येक देश को रखना चाहिये। पहली बात तो यह है कि धारा सभा की मियाद अधिक नहीं होनी चाहिये। कम से कम ३ वर्ष और अधिक से अधिक ५ वर्ष इसकी आयु होनी चाहिये। संसार के लगभग सभी देशो में इन्हीं के आस पास धारा सभाओं की आयु रक्खी गई है। दूसरी बात यह है कि धारा सभा के सदस्यो को यह पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे कोई भी क़ानून पेश कर सकें और हर कानून पर अपनी जाती राय व्यक्त कर सकें। इसके अतिरिक्त सदस्यों को कुछ ऐसी सुविधायें मिलनी चाहिये ताकि वे अपने निर्वाचन क्षेत्र में जाकर उसका अध्ययन कर सकें। जर्मनी में धारा सभा के सदस्यों को रेलवे का मुफ्त पास दिया जाता है ताकि वे जहाँ चाहें बिना टिकट आ जा सकें। किसी किसी देश में सदस्यों को माहवारी तनख्वाह दी जाती है। कहीं कहीं पर यह रवाज है कि साल के अन्त में एक खास निश्चित रक़म जो भी सदस्य चाहे ले सकता है। जो न ले उसे कोई बाध्य भी नहीं कर सकता। इङ्गलैंड मे कामन्स सभा के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार है कि वह साल के अन्त में ६०००) चाहे तो ले सकता है। व्यवस्थापिका सभा भवन के अन्दर कोई भी सदस्य इङ्गलैंड में गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। यह प्रथा लगभग सभी सभ्य देशों में पाई जाती है।

धारा सभा सरकार के सभी अङ्गों में प्रधान है। इसकी उपयोगिता सबसे अधिक है। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की लिखता है, 'आमतौर से....... कार्यकारिणी सभा और न्याय समिति दोनों की शक्तियाँ धारा सभा की ही मर्जी पर क़ायम रहती हैं" (In general......the powers both of executive and Judiciary find their limits in the declared will of the Legislative organ.) धारा सभा के ही द्वारा जनता अपनी राय का इजहार कर सकती है। इसलिये कानून बनाने के अलावे यह सभा सभी अङ्गों की टीका टिप्पणी भी करती रहती है।

इस सभा का कार्य इतना वृहत् है कि लगभग सभी देशो ने इसके दो हिस्से कर दिये हैं। इन दोनो हिस्सो के नाम अलग अलग देशो मे भिन्न हैं। अमेरिका मे एक को सीनेट कहते हैं और दूसरे को हाउस आफ रिप्रजेन्टेटिव (House of Representative) फ्रान्स मे एक को सीनेट और दूसरे को चेम्बर आफ डिप्यूटी (Chamber of Deputy) कहते हैं। हमारे देश मे नये शासन विधान (Act of 1935) के अनुसार वाइसराय की धारा सभा मे एक का नाम कौंसिल आफ स्टेट होगा और दूसरे का फेडरल असेम्वली (Federal Assembly)। इसी शासन विधान के अनुसार सात प्रान्तो मे भी दो सभाओं का नियम जारी किया गया है। दो सभाओ से कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी। पहले हम एक को लेते हैं।

व्यवस्थापिका सभा में दो सभायें

जर्मनी की लड़ाई के पहले अधिकतर देशो मे व्यवस्थापिका सभाओ मे एक ही सभा हुआ करती थी। आज भी बलगारिया, लेटविया, फिनलैंड, पुर्तगाल, टर्की आदि देशों मे धारा सभा के एक ही अङ्ग होते हैं। वहाँ दो सभाओ का रवाज नही है। इतना जरूर है कि दुनियाँ का कोई भी शक्तिशाली और बड़ा देश एक सभा वाला तरीका पसन्द नहीं करता है। जहाँ एक सभा का रवाज है वहाँ धारा सभा का सभापति प्रेसीडेन्ट (President) कहलाता है।

एक सभा

ऊपर कहा गया है कि ससार के सभी सभ्य देशो ने दो सभाओ का तरीक़ा स्वीकार किया है। वहाँ पर ऊपरी सभा को द्वितीय सभा (Second Chamber or Upper Chamber) और नीचे वाली सभा को प्रथम सभा (First Chamber or Lower Chamber) कहते हैं। आम तौर से ऊपर वाली सभा मे प्रतिनिधियों की संख्या कम होती है। उसकी आयु भी नीचे वाली सभा से अधिक होती है। किसी किसी देश मे तो ऊपर वाली सभा कभी बर्खास्त ही नहीं की जा सकती और न उसका चुनाव

दो सभायें

होता है। कुछ लोग इन दोनों सभाओं को बड़ी सभा (Upper Chamber) और छोटी सभा (Lower Chamber) कह कर पुकारते हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि बड़ी सभा बड़ी होती है और छोटी सभा उससे छोटी होती है। बल्कि बात बिलकुल उल्टी है। छोटा बड़ा इस लिये कहा जाता है कि बड़ी सभा (Upper Chamber) में देश के बड़े बड़े लोग आते हैं। लेकिन छोटी सभा (Lower Chamber) मे आम जनता के चुने हुए प्रतिनिधि आते हैं। बड़ी सभा एक प्रकार से धनियों की सभा है। उसमें आने के लिये सदस्यों को एक बहुत बड़ी जायदाद का मालिक होना पड़ता है। कोई ग़रीब आदमी बड़ी सभा का सदस्य नहीं बन सकता।

बड़ी सभा का सभापति अधिकतर देशों मे प्रेसीडेन्ट कहलाता है। और छोटी सभा का स्पीकर (Speaker) कहलाता है। इङ्गलैंड में कामन्स सभा का सभापति स्पीकर (Speaker) कहलाता है, लेकिन वह सभा भवन में कभी बोलता नहीं। संख्या मे प्रत्येक देश की ऊपर वाली सभा छोटी होती है। उसके मेम्बर थोड़े होते हैं। इङ्गलैंड इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता। वहाँ की ऊपरी सभा (House of Lords) छोटी सभा (House of Commons) से भी बड़ी है। लार्ड सभा मे ७०० के लगभग और कामन्स सभा मे केवल ६०० सदस्य है। संसार की सभी व्यवस्थापिका सभाओं मे इङ्गलैंड की व्यवस्थापिका सभा सबसे बड़ी है। बड़ी सभा वा दूसरी सभा विचारो मे आम जनता की विरोधी हुआ करती है। वह सदैव धनिकों का ही पक्षपात करती है। इसी लिये सभी देशों मे ऊपरी सभा को कम अधिकार दिये गये हैं। अधिकतर शक्तियाँ छोटी सभा को दी जाती हैं। इङ्गलैंड मे भी यही किया गया है। कामन्स सभा को ही सब कुछ अधिकार प्राप्त हैं। लार्डस सभा नाम मात्र के लिये है। इसी लिये जब लार्डस सभा की कभी बैठक होती है तो ७०० सदस्यों में से बीस सदस्य भी हाज़िर नहीं हुआ करते हैं। जनता से जो कुछ टैक्स वसूल किया जाता है उसे खर्च करने का अधिकार सभी देशों मे छोटी सभा (Lower Chamber) को ही है। बड़ी सभा उसमें चूँ तक नहीं कर सकती। इसी लिये बड़ी सभा (Second Chamber) को

एक लेखक ने "बहली का पाँचवाँ पहिया" कहा है। अर्थात् बड़ी सभा एक बेकार चीज़ है।

बड़ी सभा (Upper Chamber) की आवश्यकता

जब सभी अधिकार छोटी सभा (Lower Chamber) को ही प्राप्त हैं तो बड़ी सभा (Upper Chamber) की क्या आवश्यकता है ? बड़ी सभा से भी कुछ लाभ हैं। पहिला तो यह कि किसी भी क़ानून के पास करने मे छोटी सभा जल्दी बाजी नहीं कर सकती। हर बिल के लिये यह आवश्यक है कि वह तीन बार (Three Readings) एक सभा मे पास हो जाने पर दूसरी सभा मे भेजा जाता है। फिर वहाँ भी उसी प्रकार तीन बार उस पर विचार किया जाता है। बहुत से उसमे संशोधन किये जाते है। इस प्रकार बिल की सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। यदि बड़ी सभा न होती तो मुमकिन है हर क़ानून मे कोई न कोई कमज़ोरी रह जाती। बड़ी सभा से दूसरा लाभ यह है कि अल्प संख्यक वर्ग को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है और उसे अपना दृष्टिकोण पेश करने का अवसर मिलता है। आम जनता अपने प्रतिनिधिओ को छोटी सभा (Lower Chamber) मे भेजती है। ये प्रतिनिधि जनता की आवश्यकताये पूरी करने की कोशिश करते है। कोई भी साधारण आदमी किसी पूँजीपति को अपना वोट नहीं दे सकता, क्योंकि वह यह जानता है कि इससे उसे कोई लाभ न होगा। लेकिन बड़ी सभा मे रुपये तथा जायदाद की कैद लगाकर कुछ ऐसे नियम बनाये गये हैं कि धनिओ को ही वहाँ प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। उन्हे भी अपनी कठिनाइयाँ रखने का अवसर मिलता है। बड़ी सभा से एक तीसरा लाभ यह है कि देश के सबसे तजुरबेकार और योग्य पुरुष इसी बड़ी सभा में आते है। उनके विचारो से आम जनता को भी लाभ पहुँचता है। ऊपरी सभा अधिकतर देशो मे नामजद किये हुये सदस्यो की हुआ करती है। हर देश मे कुछ ऐसे भी योग्य और विद्वान व्यक्ति होते है जो जनता द्वारा नही पहचाने जाते। उन्हे आम जनता अपना वोट नही देती। इस लिये ऊपरी सभा (Upper Chamber)

मे सरकार उन्हे नामजद करके भेजती है और वहाँ से वे अपने उच्च विचार प्रकट करते हैं।

सारे क़ानून व्यवस्थापिका सभा द्वारा बनाये जाते हैं। जब कोई कानून बनाना होता है तो धारा सभा का कोई भी सदस्य उस आशय का एक बिल पेश करता है। वह सभा भवन मे उठकर अपने बिल की आवश्यकता और उसका मजमून सबको समझाता है। फिर वह बिल सरकारी विज्ञप्ति (Government Gazette) द्वारा जनता मे प्रचलित किया जाता है। फिर कोई भी उस पर अपनी राय दे सकता है। सभा भवन मे इन रायों पर विचार किया जाता है और तब उसकी पढ़ाई होती है। इसके बाद उसमे कुछ संशोधन किया जाता है। फिर तीसरी बार उस पर प्रतिनिधियो मे गरमा गरम बहस होती है और सर्व-सम्मति से वह बिल पास होने पर दूसरी सभा मे भेज दिया जाता है। वहाँ भी इसी प्रकार तीन बार विचार किया जाता है और आवश्यकता होने पर संशोधन भी होता है। फिर वह पहली सभा मे भेजा जाता है। यदि दूसरी सभा के सभी संशोधन पहली सभा को मंजूर होते है तो बिल पास समझा जाता है और तब उसे ऐक्ट (Act) कहा जाता है। जब कार्यकारिणी सभा के प्रधान की उस पर दस्तख़त हो जाती है तो वह ऐक्ट क़ानून बन जाता है। यदि एक सभा के संशोधन दूसरी सभा को मंजूर नहीं होते तो दोनो सभाओ के सदस्य एकत्रित होकर अपने मतभेद का निवारण कर लिया करते हैं।

क़ानून कैसे बनते हैं

आधुनिक प्रजातन्त्रवाद के युग मे जनता को अधिक से अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। प्रजातन्त्र का अर्थ ही यह है कि सभी सरकारी अधिकार प्रजा को दे दिये जायँ। कानून बनाने और उस पर अपनी राय जाहिर करने के लिये कई देशो मे कुछ नियम बनाये गये हैं। एक नियम यह है कि यदि कुछ निश्चित संख्या में मतदाता (यह सख्या सरकार की ओर से निश्चित रहती है) कोई कानून पास कराना चाहे तो वे व्यवस्थापिका

इनीशियेटिव और रिफरेन्डम Initiative and Referendum

सभा पर इस बात का दबाव डालें कि अमुक कानून पास कर दिया जाय। जनता अपनी राय लिख कर धारा सभा मे भेज देती है और वहाँ उस पर विचार किया जाता है। इस तरीके को इनीशियेटिव (Initiative) कहते हैं। एक दूसरा तरीक़ा यह होता है कि जो भी कानून धारा सभा द्वारा पास किये जाते हैं उन पर जनता की राय लेना आवश्यक होता है। जब एक निश्चित तायदाद में मतदाता अपनी राय उसके पक्ष मे दे देते हैं तब वह कानून पास समझा जाता है। इस तरीके को रिफरेन्डम (Referendum) कहते हैं। इन दोनो से यह लाभ है कि जनता की राय ज़ाहिर हो जाती है। उसे बाद मे यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक कानून बुरा है। ये दोनों तरीक़े कोई नये नहीं हैं। प्राचीन काल मे यूनान और रोम नगर में सभी क़ानूनो पर पूरी जनता की राय ली जाती थी। उसी की नकल कुछ देशो मे अब भी किसी न किसी रूप मे प्रचलित है।

स्विटज़रलैंड मे ये दोनो तरीके काफी अरसे से प्रचलित है।

स्विटज़रलैंड

वर्तमान प्रजातन्त्रवादी देशों में स्विटज़रलैंड का प्रजातन्त्रवाद सबमे श्रेष्ठ समझा जाता है। जिस प्रकार भारतवर्ष कई सूबो मे बँटा हुआ है उसी तरह स्विटज़रलैंड छोटे छोटे कैन्टन्स (Cantons) में विभाजित किया गया है। कुछ कैन्टन्स (Cantons) तो इतने छोटे है कि वहाँ सभी लोग एकत्र होकर अपने लिये क़ानून बना लिया करते है। स्विटज़रलैंड मे ३०,००० मतदाता व्यवस्थापिका सभा को इस बात के लिये मजबूर कर सकते है कि वह अमुक कानून पास कर दे। सरकार को विवश होकर उसे पास करना पड़ता है। शासन पद्धति को बदलने के लिये ५०,००० मतदाता सरकार के सामने प्रार्थना पत्र पेश कर सकते हैं और उसे उनकी बात माननी पड़ती है। अमेरिका (U S A) की कुछ रियासतों (States) मे भी ये तरीके प्रचलित हैं। कुछ विद्वान् इन तरीक़ो के पक्ष में हैं और कुछ विपक्ष मे। जो पक्ष मे हैं वे यह कहते है कि इससे प्रजा को अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं और जनता मे सन्तोष रहता है। मतदाताओं को अपने मत का मूल्य मालूम पड़ता है। किसी भी क़ानून को पास करने वा बहिष्कृत करने मे कोई उलझन

नहीं होती। प्रजा खुले दिल से राजनीति में हिस्सा लेती है। क़ानून जनता के लिये भार न होकर उनकी इच्छाओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। और वह खुशी खुशी उनका पालन करती है। परन्तु जो लोग इनके विरुद्ध हैं उनका कहना है कि आम जनता में यह शक्ति नहीं होती कि वह सभी क़ानूनों के महत्व को समझ सके। ऐसी दशा में हर क़ानून पर जनता की राय लेना और उसकी मर्ज़ी पर ही उसे पास करना ठीक नहीं है। इससे क़ानून बनाने की शक्ति प्रतिनिधियों के हाथ से निकल कर मतदाताओं के हाथ में आ जाती है। फिर प्रतिनिधियो से लाभ ही क्या है? क़ानून एक ऐसी टेढ़ी चीज़ है कि हर आदमी उसके महत्व को नहीं समझ सकता। इसलिये जनता की राय पर उसे छोड़ देना ठीक नहीं है। चाहे कुछ भी हो स्विटज़रलैंड मे ये तरीके निहायत सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं।

कार्यकारिणी सभा Executive

कार्यकारिणी सभा से सरकार के उस अंग से तात्पर्य है जो शासन को चलाता है। जो धारा सभा के बनाये हुए क़ानूनों की देख रेख रखता है। वास्तव में देश का शासन कार्यकारिणी सभा ही करती है। शासन के दैनिक जीवन मे इसी अङ्ग का हाथ सबसे अधिक होता है। व्यवस्थापिका सभा से भी इसका सीधा सम्बन्ध होता है और न्याय समिति से भी। जो कोई क़ानून को भंग करता है वह कार्यकारिणी सभा द्वारा दोषी ठहराया जाता है और तब न्यायालय उसे दण्ड देते है। लीकाक लिखता है, "कार्यकारिणी सभा से उन सरकारी अफसरों से मतलब है जिनका काम सरकारी क़ानूनों का पालन कराना है।" (The term 'Executive' is used to designate those officers of the government whose business it is to 'execute' or carry out the law of the land.) गिल क्राइस्ट लिखता है, "कार्य-कारिणि सभा सरकार का वह अङ्ग है जो कानूनी ढंग पर जनता की राय का पालन कराता है (The Executive is that branch of Government which carries out or executes the will of the people as formulated in laws.) वास्तव में कार्य कारिणी सभा कोई सभा नहीं है। बादशाह से लेकर एक छोटा से

छोटा सरकारी कर्मचारी तक इसके अन्तर्गत गिना जाता है। कहा जाता है कि धारा सभा तो कभी कभी मिलती है, लेकिन व्यवस्थापिका सभा हर घड़ी अपना काम किया करती है। हमारे देश मे बड़े लाट (viceroy) से लेकर एक मामूली चौकीदार तक इसी कार्यकारिणी का सदस्य है। कार्यकारिणी सभा के कभी कभी दो अर्थ होते हैं। एक तो किसी देश के सबसे प्रधान तथा उसके सम्मतिदाता से और दूसरा कार्यकारिणि महकमें के सभी कर्मचारियों से। इङ्गलैंड में प्रधान मंत्री (Prime Minister) और कैबिनेट के सभी सदस्यो को कार्यकारिणि सभा से सूचित किया जाता है। और कभी कभी इसका अर्थ कर्मचारियों से भी होता है। अमेरिका में प्रेसीडेन्ट और कैबिनेट को कार्यकारिणी सभा कहा जाता है।

कार्यकारिणी के विभिन्न रूप

प्रत्येक देश की शासन पद्धति अलग अलग है। वहाँ की कार्यकारिणी भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी किसी देश में कार्यकारिणी के प्रधान को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। वह नाम मात्र के लिये तनख्वाह लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। इङ्गलैंड का सम्राट् बृटिश साम्राज्य का स्वामी कहलाता है। राज्य के सारे काम उसी के नाम पर होते हैं। लेकिन कार्यरूप में वह कुछ भी नहीं करता। सारा काम कैबिनेट करती है। इसके विपरीत अमेरिका में प्रेसीडेन्ट ही सब कुछ करता है। उसके सलाहकार उसकी मातहती में काम करते हैं, जिन्हें वह किसी भी समय निकाल बाहर कर सकता है। वही अपने देश की फौज का सबसे बड़ा अफसर होता है और समय पड़ने पर बड़े से बड़े तानाशाह (dictator) को भी मात कर सकता है। न केवल शक्ति में बल्कि स्वरूप और संगठन में भी कार्यकारिणी विभिन्न प्रकार की होती है। इनका अलग अलग वर्णन करना अधिक सुविधाजनक होगा।

पैत्रिक कार्यकारिणी Hereditary Executive)

इस प्रकार की कार्य कारिणी इङ्गलैंड में पाई जाती है। इसके अनुसार राज की गद्दी का हकदार राजा का जेठा लड़का हुआ करता है। उसके न रहने पर उसका छोटा भाई राज्य का हकदार होता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ का राजा जनता द्वारा निर्वाचित नहीं किया जाता। उसका हक़ सदैव के लिये अमर

कर दिया गया है। एक कहावत है, "जमी जुम्मद, जमा जुम्मद, न जुम्मद गुल महम्मद" इङ्गलैंड मे कितनी लड़ाइयाँ हुईं। कुछ बादशाहों को फाँसी और देश निकाला भी हुआ। फिर भी इङ्गलैंड की गद्दी बराबर चली आ रही है। उसके सच्चे हकदार को कोई भी अलग नहीं कर सकता। हाँ, वह स्वयं अपनी खुशी से उसे छोड़ सकता है। इस प्रकार की कार्य कारिणी के अन्दर सारी शक्ति मन्त्रियों को प्राप्त रहती है। इङ्गलैंड क्या, बृटिश साम्राज्य को केवल बीस या इक्कीस मन्त्री (Cabinet Ministers) चलाते हैं। उन्हीं की राय पार्लियामेंट मे भी मानी जाती है। इतना लाभ ज़रूर है कि देश देशान्तरों मे राजा की महिमा क़ायम रहती है। ब्रिटेन का सम्राट् चाहे कुछ भी न करे, फिर भी उसकी इज़्ज़त दुनिया में सबसे बड़ी मानी जाती है। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर ५० करोड़ जन संख्या उसी की प्रजा कहलाती है। कानूनों पर आख़ीरी दस्तख़त उसी की होती है। इससे एक और भी लाभ होता है। राज्य के लिये झगड़े की कोई गुञ्जाइश नहीं रह जाती। जिसका हक़ होता है वह स्वयं गद्दी का हक़दार मान लिया जाता है।

निर्वाचित कार्य कारणी Elective Executive)

जहाँ पैत्रिक कार्यकारिणी नहीं है वहाँ निर्वाचित कार्य कारिणी की प्रथा है। जिस देश का राजा, जो आम तौर से प्रेसीडेन्ट कहा जाता है, जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है वहाँ की कार्य कारिणी निर्वाचित कार्य कारिणी कहलाती है। इसी का दूसरा नाम प्रेसीडेन्सियल कार्यकारिणी (Presidential Executive) भी है। इस प्रकार की कार्य कारिणी तीन प्रकार की होती हैं। एक तो वह जहाँ पर जनता सीधे प्रेसीडेन्ट को चुनती है। चिली (Chile) मे प्रेसीडेन्ट सीधे जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। मध्य काल में जर्मनी का सम्राट् जनता द्वारा नहीं चुना जाता था, परन्तु छोटी छोटी रियासतों में जनता अपना राजा चुन सकती थी। अमेरिका की कुछ रियासतो मे आज भी जनता अपना प्रेसीडेन्ट सीधे चुनती है। निर्वाचित कार्य कारिणी का दूसरा रूप वह है जहाँ जनता सीधे तौर पर प्रेसीडेन्ट को नहीं चुन सकती। पहले

वह चन्द प्रतिनिधियों को चुनती है और फिर ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। अमेरिका (U. S. A) मे इसी प्रकार की कार्य कारिणी है। पहले जनता चन्द प्रतिनिधियो को (College of Electors) चुनती है और ये प्रतिनिधि प्रेसीडेन्ट को चुनते हैं। तीसरे प्रकार की निर्वाचित कार्यकारिणी वह है जहाँ का प्रेसीडेन्ट व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता है। फ्रांस में इसी प्रथा का रवाज है। वहाँ की प्रतिनिधि सभा (National Assembly) ही फ्रांस का प्रेसीडेन्ट चुनती है।

कार्य कारिणी सभा का संगठन

केवल बादशाह वा प्रेसीडेन्ट को ही कार्यकारिणी कहना ठीक नही हैं। किसी मानी मे वे इसके प्रधान भले ही कहे जा सकते हैं। कुछ देशों मे सारी शक्ति मन्त्रिमंडल के ही हाथो में केन्द्रीभूत होती है। इङ्गलैंड, फ्रांस तथा आस्ट्रेलिया मे सारी शक्ति कैबिनेट (Cabinet) के ही हाथो में होती है। यह कैविनेट उस पार्टी के सदस्यों से बनाई जाती है जिसकी धारा सभा मे बहुमत होती है। इसके सदस्य जो मन्त्री (Minister) कहलाते हैं तब तक कार्य कर सकते है जब तक धारा सभा का इनमे विश्वास होता है। किसी भी समय धारा सभा अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of No-confidence) पास कर मन्त्रि मंडल को खतम कर सकती है और नये मन्त्रियो को उनकी जगह बुला सकती है। मन्त्रि मडलो मे यह रवाज सा होगया है कि सबकी जिम्मेवारी सम्मिलित (Joint Responsibility) समझी जाती है। यदि कोई मन्त्री गलती करता है तो सारा मन्त्रि मंडल उसके लिये जिम्मेवार ठहराया जाता है। यदि एक मन्त्री इस्तीफा देता है तो पूरे मन्त्रि मंडल को ही हटना पड़ता है। मन्त्रि मंडल का प्रत्येक सदस्य किसी न किसी विभाग का प्रधान होता है।

कैबिनेट प्रथा से पार्टी प्रथा का रवाज बढ़ता है। हर पार्टी इस बात की कोशिश करती है कि वह कैबिनेट पर अपना अधिकार जमाये। अमेरिका (U. S A.) मे कैविनेट का संगठन किसी और प्रकार का है। वहाँ पर प्रेसीडेन्ट स्वयं मन्त्रियो को चुनता है और जब चाहे उन्हें हटा सकता है। व्यवस्थापिका सभा का उसमे कोई हाथ नहीं होता। यहाँ भी मन्त्रियो को एक एक

विभाग सौंप दिया जाता है। वास्तव मे यही कैबिनेट सारा काम करती है। राज्य के सारे कर्मचारी इसी की मातहती में काम करते हैं। सरकार की बागडोर इसी के हाथों मे होती है।

कार्य कारिणी के कर्तव्य

न्याय समिति के कर्मचारियो और धारा सभा के सदस्यों को छोड़कर बाक़ी सभी सरकारी कर्मचारी कार्यकारिणी के सदस्य माने जाते हैं। यह बात दूसरी है कि किसी का दर्जा बड़ा होता है और किसी का छोटा। सरकार के इस अंग का वही कर्तव्य है जो राज्य का कर्तव्य कहा जाता है। देश में शान्ति रखना, जान माल की रक्षा करना, विदेशियों के आक्रमण से देश को बचाना, शिक्षा प्रचार करना, कारोबार की वृद्धि करना, क़ानूनों की रक्षा करना, राज्य की हर प्रकार से बेहतरी करना इत्यादि इत्यादि कार्यकारिणी के कर्तव्य कहे गये हैं। इन कामों को मोटे तौर पर आठ या दस विभागों (departments) मे बाँट दिया जाता है। हर विभाग एक मन्त्री के हवाले कर दिया जाता है। नीचे से ऊपर तक सभी कर्मचारी अपने अपने विभाग की मातहती मे काम करते रहते है। शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, विदेशी विभाग, फौज, तिजारत, इमारत, पोस्ट आफिस और तार, आवागमन, तथा मज़दूर आम तौर पर अलग अलग विभाग होते है। आवश्यकता पड़ने पर नये नये विभाग भी बढ़ते जाते हैं।

कार्य कारिणी के दो स्वरूप

कार्यकारिणी की दो किस्में होती हैं। संसार की सभी कार्यकारिणी सभायें इन्हीं दोनो के अन्तर्गत आ जायेंगी। एक को अकेली कार्यकारिणी (Single Executive) और दूसरी को बहुसंख्यक कार्यकारिणी (Plural Executive) कहते हैं। पहिले प्रकार मे राज्य की पूर्ण शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में होती है। इस प्रकार की कार्यकारिणी किसी भी देश मे नहीं दिखाई पड़ती। प्राचीन तथा मध्यकाल में राजाओ को सारी शक्तियाँ प्राप्त होती थीं। लेकिन आजकल यह सम्भव नही है। १९१७ के पहले रूस का ज़ार सारी शक्तियो को अपने ही हाथों में रखता था। यह युग बहुसंख्यक कार्यकारिणी के लिये उपयुक्त है। इसके

अनुसार राज्य का भार दो या दो से अधिक व्यक्तियों पर रहता है। किसी समय स्पार्टा नगर मे दो बादशाह हुआ करते थे। दोनों मिल कर राज्य करते थे और दोनों की शक्ति बराबर होती थी। लोगो का यह विश्वास था कि दो राजा होने से एक की शक्ति अधिक नहीं बढ़ने पायेगी। स्विटज़रलैंड मे अब भी बहुसंख्यक कार्यकारिणी की प्रथा प्रचलित है। प्रधान कार्य कारिणी (Federal Council) । ७ सदस्यों का एक गिरोह है यह कौंसिल हर ३ वर्ष के लिये धारा सभा द्वारा निर्वाचित की जाती है। ये सातों सदस्य राज्य के सारे काम को ७ विभागों मे बाँट लेते हैं। हर एक किसी न किसी विभाग का प्रधान होता है। और इस प्रकार शासन चलता रहता। नाम मात्र को इन्हीं में से कोई इनका सभापति बन जाता है, लेकिन वास्तव में वह इन्हीं का एक सहकारी होता है। इङ्गलैंड मे कैबिनेट भी बहुसंख्यक कार्यकारिणी का एक खासा उदाहरण है।

कार्यकारिणी विभाग Executive Department

कार्यकारिणी विभाग मे सरकार के सबसे अधिक कर्मचारी काम करते है। इनमे बड़े से बड़े अफसर से लेकर छोटा से छोटा चपरासी तक आ जाता है। बड़े बड़े अफसरों को जो अमूमन सिविल सर्विस (Civil Service) के सदस्य होते हैं, सरकार निश्चित रूप से (Permanent) भर्ती करती है। इनकी भर्ती के लिये एक सरकारी महकमा ही अलग होता है जो पबलिक सर्विस कमीशन (Public Service Commission) कहलाता है। राज्य के लगभग सभी कर्मचारी इसी कमीशन द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। उनकी जगह स्थायी समझी जाती है। सरकार बदलती रहती है लेकिन ये कर्मचारी अपनी अपनी जगह काम करते रहते हैं। छोटे छोटे कर्मचारियों की नियुक्ति 'कमीशन' की ओर से नहीं होती है इसीलिये वे किसी भी समय अलग किये जा सकते हैं। अमेरिका (U. S. A.) में एक विचित्र प्रथा है जो दुनिया के किसी भी हिस्से मे नहीं पाई जाती। जब कोई नया प्रेसीडेन्ट चुना जाता है तो वह पिछले सभी कर्मचारियों को निकाल कर

अपनी पार्टी के नये नये कर्मचारी भर्ती कर लेता है। परिणाम यह होता है कि कोई भी कर्मचारी अपने आप को स्थायी नहीं समझता। उसे इस बात का भय रहता है कि मालूम नहीं किस पार्टी का प्रेसीडेन्ट चुना जायगा। इस प्रथा को spoil system कहते हैं। इससे सबसे बड़ी दो हानियाँ होती हैं। एक तो सरकारी काम मे बाधा पड़ती है और दूसरे कितने ही व्यक्ति बेरोजगार हो जाते हैं।

न्याय समिति
Judiciary

सरकार का तीसरा अङ्ग न्याय समिति है। क़ानून की परख न्यायालयों मे ही होती है। इस अङ्ग का मुख्य कर्तव्य क़ानून भंग करने वालो को दंड देना है। राज्य मे किसी भी दो व्यक्तियों मे अथवा दो गिरोहों मे झगड़ा होता है तो यही विभाग उसका फैसला करता है। इस विभाग के अन्तर्गत बहुत से न्यायालय होते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि राज्य और व्यक्ति मे भी झगड़ा हो जाता है। न्यायालय उसका फैसला करते हैं। यदि राज्य दोषी ठहराया जाता है तो उसके उस कर्मचारी को दंड दिया जाता है जिसने राज्य के नाम पर ग़लती की थी। सरकार को नागरिकों की स्वतन्त्रा और अधिकारो का उतना ही ध्यान रखना पड़ता है, जितना प्रत्येक नागरिक को क़ानून की रक्षा का। कितने ही गुनाहो मे सरकार को जुर्माने देने पड़ते हैं। सरकार इस बात को पसन्द करती है कि चाहे जो कुछ हो कचहरियो में पूरा पूरा इन्साफ किया जाय। न्याय के ही बल पर राज्य कायम रह सकता है। अफलातून (Plata) का कहना है "न्याय मनुष्य के मस्तिष्क का सबसे बड़ा गुण है", (Justice is the virtue of the mind.) अच्छे से अच्छे कानून तोड़े जाते हैं। लोग अपनी कमज़ोरियो के कारण उसके महत्व को नहीं समझते। इस प्रकार के गुनाहगार जब कचहरियो मे लाये जाते हैं तो जज उन्हें उसी मात्रा में दंड देता है जितने मे उसकी बुद्धि ठीक हो जाय। दंड क्यो दिया जाता है, और इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे कहाँ तक बाधा पड़ती, इसका वर्णन क़ानून वाले अध्याय में सविस्तर किया जायगा। यहाँ पर इतना कहना काफी होगा कि कचहरियो मे दंड नागरिक की भलाई के लिये दिया जाता है। दंड देते समय सरकार धनी-ग़रीब तथा छोटे-बड़े का कतई ध्यान नही रखती। उसकी नज़रो मे सभी बराबर हैं।

जिस प्रकार कार्यकारिणी विभाग का संगठन चपरासी से लाट तक है उसी प्रकार कचहरियाँ भी छोटे से लेकर बड़ी तक हैं। छोटी कचहरियों में न्यायाधीश की उतनी ही ज़िम्मेवारी है जितनी बड़ी से बड़ी कचहरी में। आमतौर से न्यायाधीशो की भर्ती तीन प्रकार से की जाती है। जो देश जैसा चाहे किसी एक तरीक़े को अपना ले। न्यायाधीश का काम बड़ी ज़िम्मेवारी का है। इसलिये उसकी भर्ती भी काफी परख के साथ होनी चाहिये। जब कि जजों को जीवन भर न्याय करना है तो उनकी भर्ती भी निहायत इन्साफ के वसूल पर होनी चाहिये। ऐसा नहीं कि कोई आदमी घूस देकर न्यायाधीश बन बैठे। जब आरम्भ में ही उसने इतनी बड़ी बेइन्साफी की तो उससे आगे चल कर इन्साफ की क्या उम्मीद की जा सकती है। इसीलिये भर्ती होने से पहले हर न्याया-धीश मे दो गुणो की परीक्षा की जाती है। एक तो यह कि उसे क़ानूनों का पूरा पूरा ज्ञान हो। जो क़ानून न जानेगा वह इन्साफ नही कर सकता। क़ानून के ज्ञान के साथ साथ न्यायाधीश को निष्पक्ष और स्वतन्त्र विचार का होना चाहिये। पक्षपात और इन्साफ इन दोनों में शत्रुता है। जो व्यक्ति पक्षपात करेगा वह न्याय नहीं कर सकता। जिन व्यक्तियो मे ये दोनों गुण पाये जाते हैं वे ही न्यायाधीश नियुक्त किये जाते हैं।

न्यायाधीश की भर्ती

अब सवाल यह है कि आख़िर उनकी भर्ती का तरीक़ा क्या है। ऊपर कहा गया है कि तीन प्रकार से इनकी भर्ती की जाती है। एक तो यह है कि व्यवस्थापिका सभा जजो को चुनती है। लेकिन यह तरीक़ा दुनिया के किसी भी देश में नहीं पाया जाता। केवल स्विटज़रलैण्ड मे धारा सभा जजो का निर्वाचन करती है। जहाँ अङ्ग विभाजन का सिद्धान्त पूरी तरह बर्ता जाता है वहाँ इस तरीक़े को बुरा ठहराया गया है। लोगो का कहना है कि जब न्यायाधीश व्यवस्थापिका सभा द्वारा चुने जायेंगे तो न्याय समिति और व्यवस्थापिका सभा दोनों अलग अलग नहीं रह सकते। अमेरिका में यह तरीका निहायत बुरा ठहराया गया है। जजों की भर्ती का दूसरा तरीका यह है कि आम जनता उनका निर्वाचन करे। इससे जनता उन्हीं व्यक्तियो को चुनेगी जिनमें उसका विश्वास

होगा। अमेरिका (U. S. A.) के कुछ देशों मे जजो की भर्ती इसी तरीके पर होती है। लेकिन एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि कितनी ही बार अच्छे से अच्छे व्यक्ति चुनाव मे सफल नहीं होते। जिस प्रकार धारा सभाओ मे जाने के लिये कितने हीं अच्छे से अच्छे व्यक्ति हरा दिये जाते है उसी प्रकार योग्य से योग्य व्यक्ति न्यायाधीश नहीं बन पाते। जजो की भर्ती का तीसरा तरीका यह है कि कार्यकारिणी सभा द्वारा उनकी नियुक्ति की जाय। यह तरीका सबसे उत्तम ठहराया गया है। दुनियाँ के लगभग सभी सभ्य देशो मे इसी का आश्रय लिया गया है। कार्यकारिणी आसानी से उन व्यक्तियो को चुन लेती है जिन्हे वह सबसे योग्य समझती है।

न्याय समिति का संगठन

सरकार का न्याय विभाग सीढ़ी की तरह नीचे से ऊपर तक संगठित है। हमारे देश मे सब से छोटी कचहरी गाँव की पंचायत कहलाती है। गाँव के छोटे मोटे मुक़दमे इसी पचायत द्वारा फैसला किये जाते हैं। यह पंचायत हर गॉव मे होती है और फिर आठ या दस गाँवों की एक बड़ी पंचायत हुआ करती है। पचायत मे आमतौर पर आठ या दस आदमी होते है। इसका सभापति सरपंच कहलाता है। पंचायत से ऊपर तहसील होती है। फिर ज़िले की छोटी और बड़ी अदालते होती हैं। इसके बाद हाईकोर्ट होती है। हाईकोर्ट हमारे देश की सबसे बड़ी अदालत है। १९३५ के शासन विधान के अनुसार एक फेडरल न्यायालय (Federal court) भी खोला गया है। इसका दफ्तर दिल्ली मे होगा और यह देश की सबसे बड़ी अदालत समझी जायगी। लेकिन इसका मुख्य काम शासन सम्बन्धी त्रुटियो को दूर करना तथा दो सूबो वा रियासतो के झगड़ों को फैसला करना होगा। हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी अपील की कचहरी अब भी इङ्गलैण्ड मे है, जिसे प्रिवी कौंसिल (Privy Council) कहते हैं। बड़े बड़े मुकदमे हाईकोर्ट के फैसले के बाद इसी जगह जाते हैं। लेकिन उन्हें अपील करने के लिये हाईकोर्ट से इजाजत लेनी पड़ती है।

कचहरियो मे जितने भी मुकदमे आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं। एक तो माल के मुकदमे (civil cases) और दूसरे जान

या अपराध के (criminal cases)। इसीलिये क़ानून भी दो प्रकार के होते हैं फौजदारी के कानून और माल के क़ानून (criminal law and civil law)। सभी न्यायालयो में इन दोनों प्रकार के कानूनों का उपयोग किया जाता है। अमेरिका (U. S. A) की सबसे बड़ी कचहरी प्रधान न्यायालय (supreme court) कहलाता है। वहाँ का प्रेसीडेन्ट उन्हें नियुक्त करता है। सभी देशों में न्याय विभाग का प्रधान कार्यकारिणी का कोई सदस्य (cabinet minister) हुआ करता है। हमारे देश मे बड़े लाट (viceroy) की कौंसिल में एक मेम्बर (Law Member) न्याय विभाग का स्वामी होता है। फ्रान्स में इसी मेम्बर की सहायता से वहाँ का प्रेसीडेन्ट न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। लगभग सभी सभ्य देशों में जुरी (Jury) की प्रथा प्रचलित है। न्यायाधीशों की सहायता के लिये कुछ अन्य ५ या ७ आदमी नियुक्त किये जाते है। हर मामले मे ये अपनी राय न्यायाधीश को देते हैं। हमारे यहाँ भी जुरी की प्रथा है। लोगो का यह अनुमान है कि जुरी प्रथा से इन्साफ में सहूलियत होती है।

न्ययाधीशों का समय

न्यायाधीश कितने साल के लिये नियुक्त किये जायँ इस पर लोगों की भिन्न भिन्न रायें हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि न्यायाधीश जीवन पर्यन्त के लिये नियुक्त किये जायँ। एक बार नियुक्त होने पर फिर उन्हें कोई हटा नहीं सकता। लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि न्यायाधीशों को तभी तक काम करना चाहिये जब तक उनका बर्ताव कार्यकारिणी और धारा सभा दोनो के साथ ठीक हो। न्यायाधीशों को जल्दी से निकाल देना भी ठीक नहीं है। इङ्गलैण्ड में न्यायाधीश तब तक नहीं निकाले जा सकते जब तक पार्लियामेन्ट उन्हें निकालने का प्रस्ताव बहुमत से पास न कर दे। हमारे देश में न्यायाधीश तब तक काम कर सकते हैं जब तक कि वे सम्राट (Crown) से सहमत रहते हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति काफी परख के बाद होती है। हाईकोर्ट के जज वे ही नियुक्त किये जाते हैं जो कम से कम १० वर्ष तक हाईकोर्ट में वकालत किये रहते हैं। न्याय विभाग को पाक साफ रखने के लिये यह आवश्यक है कि जजों को अच्छी तनख्वाहें दी

जायँ, ताकि वे आर्थिक कठिनाइयों में न रहें। कम तनख्वाहों में सबसे बड़ी बुराई यह होती है कि घूसखोरी का रवाज चल पड़ता है। कई महकमों में लोग कम तनखाह होते हुये भी काम करने के लिये लालायित रहते हैं। इसकी वजह यह होती है कि उन्हें बेजा तरीक़े से पैसे की आमदनी होती है। यदि न्याय विभाग में यह गन्दगी पैदा हो जाय तो क़तई इन्साफ नहीं हो सकता। अदालतें धनियों के हाथ की कठपुतली बन जायेंगी।

आदर्श न्याय विभाग

निष्पक्षता न्याय की कसौटी है। जिस न्यायालय में कोई भेद भाव नहीं किया जाता और क़ानून के आधार पर लोगों को उचित दंड दिया जाता है वही इन्साफ कर सकता है। न्यायालयों का कर्तव्य केवल दंड देना नहीं है। उनका कर्तव्य उचित और अनुचित में फरक करना है। जहाँ पर अनुचित ढंग से कोई व्यक्ति एक दूसरे का हक़ छीन लेता है वहाँ न्यायालय उसे ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। आदर्श न्याय के लिये आदर्श व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। आदर्श व्यक्ति अच्छे वायुमंडल में ही उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिये शिक्षा का प्रचार राज्य का एक मुख्य कर्तव्य ठहराया गया है। जजों को इतनी अधिक तनख्वाहें दी जायँ कि उन्हें अपने भरण पोषण के लिये किसी अन्य पर भरोसा न करना पड़े। राज्य के किसी भी विभाग का कर्मचारी न्याय विभाग के कामों में क़तई दखल न दे। जजों को कानून के अलावे किसी भी प्रकार की सिफारिश सुनने से इन्कार कर देना चाहिये। उनके दिल में जो निष्पक्ष भाव से बात आवे उसी की सहायता से वे फैसला दें। देश काल और पात्र का भी ध्यान न्यायालयों को रखना चाहिये। जजों को कोमल और कठोर दोनों ही होना चाहिये। सख़्त से सख़्त दंड देने में भी उनका हृदय पिघलना नहीं चाहिये।

न्याय तभी हो सकता है जब क़ानून सुलझे हुये हों। यदि क़ानून साफ नहीं है और उसका कई अर्थ लगाया जा सकता है तो ठीक ठीक इन्साफ़ नहीं हो सकता। इस लिये व्यवस्थापिका सभा का कर्तव्य है कि वह कानूनों को जितना हो सके स्पष्ट

करके न्यायालयों को दे। इसी लिये कहा जाता है कि सरकार का कोई भी एक अंग अकेले तब तक ठीक काम नहीं कर सकता जब तक बाक़ी अंग भी अपने अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन न करें। यदि कार्य कारिणी बे गुनाह लोगों को फँसा कर न्यायालयों में पेश करेगी तो जजों को इन्साफ करने में काफी कठिनाई होगी। फिर भी कितने ही व्यक्ति निरपराध जेलों में भेज दिये जायेंगे। इसलिये आदर्श न्याय विभाग के लिये जजों की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता के अतिरिक्त आदर्श कार्य कारिणी और आदर्श व्यवस्थापिका सभा की भी आवश्यकता है।

व्यवस्थापिका सभा न्यायाधीश और क़ानून

क़ानून बनाने में चाहे कितनी भी साव-धान रहे थोड़ी बहुत कमी रह ही जाती है। कितने ही क़ानूनों के दो दो और तीन तीन अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ ऐसे भी मौके न्यायालयों में आ जाया करते हैं जिनके लिये उचित क़ानून का कोई विधान ही नहीं पाया जाता। कारण यह है कि व्यवस्था-पिका सभा के सदस्यों को क़सूर के सारे पहलुओं का ज्ञान नहीं हो सकता। यह मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है। इस लिये जज को इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वह अपनी बुद्धि का प्रयोग इन दोनों अवसरों पर करता है। जब एक क़ानून के कई अर्थ लगाये जाते हैं तो जज उसी अर्थ का प्रयोग करता है जो उसकी बुद्धि में सबसे उचित होता है। कभी कभी तो लट्ठे और लकड़ी में भी उसे फरक करना पड़ता है। कभी ऐसे भी अप-राध सामने आ जाते हैं जिनके लिये कोई क़ानून ही नहीं होता। ऐसी दशा में जज यह नहीं कह सकता कि वह इसका फैसला नहीं करेगा, क्योंकि क़ानून की कमी है। उसे कोई न कोई मार्ग निकालना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर वह कुछ तो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और कुछ अन्य क़ानूनों का। इन दोनों का परिणाम यह होता है कि एक ओर तो क़ानून का मतलब साफ होता है और दूसरी ओर नये नये क़ानून बनते जाते हैं। न्यायालयों मे कितने ही नये क़ानून प्रति मास बनते रहते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि न्याय विभाग धारा सभाओं के अधिकार का दुरुपयोग करता है बल्कि उसे विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। धारा

सभा इसे बुरा नहीं मानती। लगभग सभी देशों में इस प्रकार के कानूनों का प्रचार है। ये क़ानून अधिक सुलझे हुये और साफ होते हैं क्योकि जजो के वर्षों अनुभव के बाद ये बनते हैं। साथ ही कार्य रूप मे तुरन्त इन्हे परिणत करना रहता है। इन कानूनों को न्यायाधीशों का कानून (Judge-made-law) कहते हैं।

अध्याय १०

राजसत्ता (Sovereignty)

राजसत्ता की परिभाषा—राजसत्ता का स्वभाव—राजा कौन है ? या राजसत्ता कहाँ पाई जाती है ? सरकार और राजसत्ता—राजसत्ता के भेद—राजसत्ता का इतिहास—व्यापक वाद—क़ानून और राजसत्ता—राजसत्ता की सीमा—जान आस्टिन का सिद्धान्त।

राजसत्ता की परिभाषा

प्रत्येक राज्य मे एक ऐसी शक्ति होती है जहाँ सारी शक्तियाँ केन्द्रीभूत होती हैं। सरकार की बागडोर इसी शक्ति के हाथ में होती है। यही शक्ति राजसत्ता कहलाती है। वैसे तो सरकार की शक्तियाँ बिखरी हुई होती हैं और किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होतीं फिर भी कोई न कोई प्रधान अवश्य होता है। यही प्रधान व्यक्ति राजा (Sovereign) कहलाता है। और उसकी शक्ति राजसत्ता (Sovereignty) कहलाती है। इंगलैंड का बादशाह वहाँ का सबसे प्रधान व्यक्ति है। हमारे देश मे बड़े लाट साहब सबसे बड़े अफसर कहे जाते हैं। एक प्रकार से वे ही हिन्दुस्तान के राजा हैं। राजसत्ता उन्ही के हाथ मे है। लेकिन आगे चलकर यह विचार किया जायगा कि वास्तव मे राजा कौन है और राज सत्ता कहाँ निवास करती है। इस प्रश्न पर लोगो के अनेक विचार हैं। राज सत्ता की परिभाषा करते हुये जान आस्टिन (John Austin) लिखता है, "यदि किसी स्वतन्त्र राजनैतिक संगठन के अन्दर कोई ऐसा व्यक्ति है जो किसी के मातहत नहीं है और सारा संगठित समाज उसकी आज्ञाओं का पालन करता है तो वह व्यक्ति राजा कहलाता है। और संगठित समाज एक स्वतन्त्र राष्ट्र कहलाता है।"* प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बोदाँ (Bodin) लिखता है,

---

* If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receive habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereign in that society, and that society is a society political and independent.

"राजसत्ता सम्पूर्ण प्रजा पर सबसे बड़ा अधिकार है जिसे कोई भी क़ानून दबा नहीं सकता।"*

राजसत्ता राज्य में सबसे बड़ी राजनैतिक शक्ति है। उसे न तो कोई दबा सकता है और न राज से बाहर निकाल सकता है। राजसत्ता के बिना कोई राज्य जीवित रह ही नहीं सकता। राजसत्ता राज का प्राण है। जैसे कुटुम्ब में किसी मालिक की आवश्यकता होती है उसी तरह राज्य में भी एक स्वामी की आवश्यकता है। यही स्वामी राजा कहलाता है। भिन्न भिन्न देशों मे वह अलग अलग नामों से सूचित किया जाता है। कहीं तानाशाह (dictator) कही बादशाह (King or Emperor) और कहीं सभापति (President) कहलाता है। इनके नाम में भिन्नता भले ही हो परन्तु इन्हे जो शक्ति प्राप्त है उसका स्वरूप एक सा है। वह शक्ति राजसत्ता (Sovereignty) कहलाती है। यह भी ठीक है कि राजा के अधिकार कम वेश हो सकते हैं।

राजसत्ता का स्वभाव

हर चीज़ के गुण दोष होते है। राजसत्ता के कुछ ऐसे गुण है जो किसी अन्य सत्ता मे नहीं पाये जाते। आमतौर पर राजसत्ता के पॉच गुण कहे गये हैं। पहिला तो यह कि स्वभाव से ही राजसत्ता सर्व प्रधान है। वह कभी भी किसी दूसरी सत्ता की मातहती मे नहीं रह सकती। राज्य मे जितनी भी शक्तियाँ होती हैं राजसत्ता इन सबके ऊपर अपना सिक्का जमाये रहती है। थोड़ी भी उसकी इस मर्यादा मे कमी पड़ते ही सरकार तितर-बितर होने लगती है। इसीलिये कहा गया है कि राज्य के बिना राजसत्ता और राजसत्ता के बिना राज्य जीवित नहीं रह सकते। राज्य के अन्दर सभी संगठनो वा समुदायों को राजा के हुक्म को मानना पड़ता है। राजसत्ता का दूसरा गुण इसका स्थायीपन है। जब तक राज्य की नींव क़ायम है तब तक राजसत्ता भी दृढ़ बनी रहती है। ऐसा कही भी नहीं सुना गया है कि राज्य क़ायम रहे और राजसत्ता नष्ट हो जाय। यह कहना बड़ा कठिन है कि पहले राज्य कायम हुआ या

---

* Sovereignty is the supreme power over citizens and subjects unrestrained by the laws.

राजसत्ता। जिस तरह हम यह नहीं बतला सकते कि पहले मुर्गी हुई या मुर्गी का अंडा, उसी तरह राज्य और राजसत्ता की नींव का भी हम निश्चय नहीं कर सकते। राजसत्ता का तीसरा गुण इसकी व्यापकता है। राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो एक ही स्थान पर कायम रहती है। राज्य के कोने कोने मे यह ताकत बिखरी हुई है। हर व्यक्ति हर संगठित राजसत्ता की ताकत से भयभीत रहता है। कोई भी अनियमित काम करते हुये वह इस शक्ति से डरता रहता है। हर एक चोरी करने वाला शंकित रहता है कि कहीं राजसत्ता उसे दंड न देवे। राजसत्ता का चौथा गुण उसका अटूट सम्बन्ध है। कोई भी व्यक्ति राजसत्ता को बाँट नही सकता। एक राज्य मे एक से अधिक राजसत्ता नहीं रह सकती। एक मुल्क के न दो बादशाह हो सकते हैं और न एक कुटुम्ब के दो स्वामी। इसी तरह राजसत्ता भी दो नही हो सकती। भ्रम से हम दो शक्तियों को राजसत्ता भले ही कह लें लेकिन यह बात असम्भव है। एक मियान मे दो तलवार नहीं रह सकती। इसी तरह एक देश मे दो प्रधान शक्तियाँ निवास नहीं कर सकतीं।

राजसत्ता का अन्तिम गुण यह है कि वह अपनी शक्ति किसी अन्य को प्रदान नहीं कर सकती। यदि यह शक्ति किसी अन्य को प्रदान कर दी गई तो राजसत्ता जीवित नहीं रह सकती। फिर भी स्वाभाविक तरीके पर राजसत्ता स्वयं अपनी शक्ति किसी अन्य को प्रदान कर ही नहीं सकती। एक अमेरिकन विद्वान् लीबर (Lieber) लिखता है, 'जिस प्रकार कोई मनुष्य अपना प्राण किसी और के शरीर मे नहीं डाल सकता और न कोई पेड़ अपनी हरियाली किसी दूसरे पेड़ को दे सकता है, उसी प्रकार राजसत्ता अपनी शक्ति किसी अन्य को प्रदान नहीं कर सकती।"* इस मानी में राजसत्ता विवश है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक राजा को हटा कर कोई दूसरा राजा नहीं बन सकता।

---

* Sovereignty, says Lieber, can no more be alievated than a tree can alievate its right to sprout or a man can transfer his life and personality without self-destruction.

राजसत्ता किसी भी व्यक्ति के हाथ में दी जा सकती है। रूसो (Rousseau) के कथनानुसार राजसत्ता एक प्रकार की इच्छा है। इसलिये शक्ति तो हम बदल सकते हैं लेकिन इच्छा नहीं बदल सकते।*

राजा कौन है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो यह कि जो राज करता है वह राजा कहलाता है। फिर दूसरा प्रश्न उठता है, कि राज कौन करता है ? किसी एक देश को ले लीजिये जो एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। इङ्गलैंड में वहाँ का राजा राज करता है। वही सारे बृटिश साम्राज्य का स्वामी है, उसी की फौज है और सारे

राजा कौन है ? या राजसत्ता कहाँ पाई जाती है ?

खज़ाने पर उसी का अधिकार है। छोटे से बड़े सभी अफसरों की नियुक्ति वही करता है। क़ानून बनाने के अधिकार उसी के हाथ मे हैं। देश विदेशो से सुलह और लड़ाई वही कर सकता है। पार्लियामेट को वह भंग कर सकता है और उसके स्थान पर नई पालियामेंट बुला सकता है। इसे देखते हुये यह बात कुछ समझ मे नहीं आती कि क्या एक व्यक्ति इतने कामों को कर सकता है ? और यदि वह अपनी इच्छा से यह सब कुछ करता रहता है तो क्या जनता भेड़ है जो चुपचाप उसके पीछे पीछे चलती रहती है ? यदि बादशाह सब कुछ कर लेता है तो पार्लियामेट और कैबिनेट की क्या आवश्यकता है ? क्या ये सब उसके हाथ की कठपुतली हैं ? बात यह है कि यह बतलाना कठिन है कि राजसत्ता कहाँ निवास करती है। अकेले राजा के हाथ मे सारी शक्ति नहीं रह सकती। समूचे राज्य मे सभी कर्मचारियो मे थोड़ी बहुत शक्ति बाँट दी गई है। इसलिये किसी न किसी अर्थ में सभी कर्मचारी राज करते हैं। जिले का कलक्टर और प्रान्त का गवर्नर दोनो ही अपने अपने क्षेत्र मे राजा हैं।

इससे स्पष्ट है कि राजसत्ता किसी एक के हाथ में नहीं रहती। प्राचीन काल मे राजाओ को अपने राज्य मे पूरा अधिकार रहता था। वे ही क़ानून बनाते और उनका पालन भी करवाते

---

* The power indeed may be transmitted, but not the will.

थे। दंड भी वे स्वयं देते थे। फिर भी यह कहना बड़ा कठिन है कि सम्पूर्ण राजसत्ता राजा के ही हाथ में रहती थी। वे किसी न किसी से सलाह अवश्य लेते रहे होंगे। और नहीं तो मन्त्री अथवा उनके मित्र उनकी सहायता करते ही रहे होंगे। वे पूरी तरह स्वतन्त्र भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि धार्मिक तथा सामाजिक नियम उन्हें मानने पड़ते थे। उनकी निजी शक्ति उनकी स्वतन्त्रता में बाधक थी। इससे साफ ज़ाहिर है कि कोई भी राजा न तो पूर्ण स्वतन्त्र होता है और न सारी शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता है। ये दोनों बाते असम्भव हैं। इङ्गलैंड मे राजा, पार्लियामेंट, कैबिनेट तथा और भी छोटे छोटे अफसर वहाँ का शासन करते हैं। वे सभी वहाँ के राजा कहे जा सकते हैं। थोड़ी बहुत राजसत्ता इन सबके हाथ में है। बल्कि एक बात उल्टी दिखलाई पड़ती है। ऊपर कहा गया है कि राजा सब कुछ करता है और सारी शक्ति उसी के हाथ में है। लेकिन कार्य रूप मे यह बात नहीं है। न तो बादशाह के हाथ में कोई शक्ति है और न खुद वह कुछ करता है। वह स्वयं प्रधान मन्त्री (Prime Minister) के हाथ की कठपुतली है। बिना उसकी मर्ज़ी के वह विदेश यात्रा तक नहीं कर सकता। क़ानूनों पर वह दस्तखत उसी की मर्ज़ी से करता है। और तो और, वह बिना उसकी सलाह के किसी दावत में भी शरीक नहीं हो सकता। वह जिस स्त्री से चाहे विवाह नहीं कर सकता। गत वर्ष इसी के कारण इङ्गलैंड के बादशाह को गद्दी तक छोड़ देनी पड़ी। किसी पत्र पत्रिका में बादशाह कोई स्वतन्त्र लेख नहीं लिख सकता और न कहीं एक शब्द बोल सकता है। वह जिससे चाहे मिल भी नहीं सकता।

ये उदाहरण इस बात के लिये काफी हैं कि राजा के हाथ में कोई भी शक्ति नहीं है। वह नाम के लिये राजा है। असली राजा पार्लियामेंट, कैबिनेट और प्रधान मन्त्री हैं। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या इनके ऊपर कोई सत्ता नहीं है? क्या पार्लियामेंट जो भी क़ानून चाहे बना सकती है? ऐसी बात नहीं है। जनता का उसे प्रतिक्षण भय रहता है। पार्लियामेंट के सदस्य जनता के प्रतिनिधि हैं। वे उसकी मर्ज़ी के विपरीत नहीं जा सकते। जनता की जो आवश्यकता होती है उसी पर पार्लियामेंट के सदस्य विचार

करते हैं। कैबिनेट स्वयं पार्लियामेंट की एक कमेटी है। इसलिये जनता सर्वोपारि है। तभी तो कहा जाता है कि इंगलैंड में प्रजातन्त्र-वाद का ज़ोर है। वहाँ का असली राजा प्रजा ही है। लेकिन यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि जब प्रजा ही अपना राज करती है तो राजा प्रजा में भेद क्या है? इस दशा में यह पता लगाना और भी कठिन हो जाता है कि राजसत्ता किसके हाथ में है। न तो वह बादशाह के हाथ में है न कैबिनेट के, न पार्लिया-मेंट के और न किसी ख़ास अफ़सर के हाथ में है। और यदि यह कहें कि राजसत्ता प्रजा के हाथ में है तो फिर 'राज' और 'राजा' की आवश्यकता ही क्या है? अच्छा होगा कि हम उस शक्ति को "प्रजासत्ता" कहें। तब तो इसका यह नतीजा निकला कि राजा कोई भी नहीं है और न 'राजसत्ता' कोई चीज़ है। फिर यह प्रश्न ही क्यों उठाया गया। यही बात अन्य देशों में भी पाई जाती है।

लोग यही समझते हैं कि अमेरिका का प्रेसीडेन्ट वहाँ का राजा है और सारी राजनैतिक शक्तियाँ उसी के हाथ में हैं। लेकिन कार्य रूप मे बात ऐसी नहीं हैं। लीकाक लिखता है, " अमेरिका का प्रेसीडेन्ट, कांग्रेस, रियासतों की सरकार, इनमे से कोई भी वहाँ का राजा नही है। प्रधान राजनैतिक शक्ति किसी और जगह है "। *

हमारे देश में भी वाइसराय, उसकी कौंसिल, गवर्नर आदि यहाँ के राजा नहीं कहे जा सकते। स्वयं शासन प्रबन्ध इस बात को स्वीकार करता है कि असली राजसत्ता इंगलैंड मे है जो बादशाह, पार्लियामेंट और कैबिनेट के हाथो मे निवास करती है। लेकिन ऊपर हम लोगों ने देखा है कि ये तीनों शक्तियाँ जनता की शक्ति के नीचे काम करती हैं इसलिये हम इन्हें राजसत्ता नही कह सकते। जब ये अपने ही देश के राजा नही हैं तो हमारे

* Neither the president nor the congress nor the state government is the body invested with the sovereign power of the state. The supreme authority lies elsewhere.

देश के राजा कैसे बन सकते हैं ? किसी भी शासन पद्धति के अन्दर यह पता लगाना कठिन है कि राजसत्ता कहाँ निवास करती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि राजसत्ता हर मुल्क में जनता के हाथ में हुआ करती है। वह जब चाहे शासन पद्धति को बदल सकती है और राजा को निकाल बाहर कर सकती है। सम्पूर्ण शासन की व्यवस्था प्रजा की बनाई हुई चीज़ है। सभी सरकारी नौकर जनता के पैसे से जीवित रहते हैं, इसलिये वे उसी के नौकर हैं। लेकिन हमें एक बात याद रखनी चाहिये कि 'जनता' शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। उसका अर्थ केवल 'मतदाताओं' से है। इसमें भी एक कठिनाई है। जनता स्वयं कोई चीज़ नहीं है। न तो इसका कोई निश्चित स्वरूप है और न कुछ खास व्यक्ति अपने को जनता कह सकते हैं। तो फिर राजसत्ता रहेगी कहाँ। जान आस्टिन (John Austin) के कथनानुसार राजसत्ता किसी प्रत्यक्ष व्यक्ति में होनी चाहिये। रूसो की तरह वह कोई अप्रत्यक्ष (General Will) वस्तु नहीं है। एक दूसरे प्रकार के राजनीतिज्ञ यह दलील पेश करते हैं कि राज्य मे सर्व शक्तिमान वही व्यक्ति वा समूह है जो शासन को बदल सकता है। उसी शक्ति को राजसत्ता कहना ठीक है। लेकिन यह कहना बड़ा कठिन है कि कौन सी शक्ति शासन पद्धति को बदल सकती है। जनता ग़दर करके न मालूम कितनी बार शासन पद्धति को पलट देती है। अभी हमारे सामने ही रूस की १९१७ ई० की क्रान्ति इस बात का सबूत है। तो क्या हम यह कह सकते हैं कि 'ग़दर' ही एक ऐसी शक्ति है जिसे 'राजसत्ता' कहा जा सकता है ? इस प्रकार की दलीलों से हम पार नहीं पा सकते।

सरकार और राजसत्ता

पिछले अध्याय में यह कहा गया है कि सरकार स्वय कोई चीज़ नहीं है। वह समस्त सरकारी कर्मचारियों से मिलकर बनी हुई एक चीज़ है। इन कर्मचारियों को राज्य की ओर से किसी न किसी प्रकार की शक्ति प्राप्त रहती है। इन शक्तियों की देख-रेख के लिये एक प्रधान शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। वही प्रधान शक्ति राजसत्ता कहलाती है। जिस प्रकार हम सरकार को देख

नहीं सकते और न उसकी कोई शकल खींच सकते हैं उसी तरह राजसत्ता को भी हम देख नहीं सकते। राजसत्ता के ही बल पर सरकार चलती रहती है। इन दोनों को एक दूसरे से शक्ति मिलती है। इसलिये राजसत्ता सरकार का एक विशेष गुण है। राजसत्ता को क़ायम रखने के लिये सरकार को भीतर और बाहर दोनों तरफ से देश को स्वतन्त्र रखना पड़ता है। परतन्त्र सरकार की कोई राजसत्ता नहीं हुआ करती है। राजसत्ता के ही बलपर सरकार किसी के सामने अपना सर नहीं झुकाती है। कभी कभी सरकार और राजसत्ता ये दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। जब हम कहते हैं कि पोलैंड की सरकार का अन्त हो गया तो इसका यह भी अर्थ है कि वहाँ की राजसत्ता का अन्त हो गया। स्पेन की सरकार कमजोर है अर्थात् वहाँ की राजसत्ता कमज़ोर है। अमुक देश की सरकार बदल गई का यही अर्थ है कि वहाँ की राजसत्ता एक के हाथ से निकल कर किसी दूसरे के हाथ में चली गई। इतनी एकता होते हुये भी दोनो दो चीज़े हैं। सरकार राज्य की एक मशीन है और राजसत्ता राज्य का एक विशेष गुण है। सरकार एक संगठन है और राजसत्ता एक शक्ति है। सरकार का रूप बदलता रहता है, कभी वह कमज़ोर और कभी मज़बूत होती रहती है, लेकिन राजसत्ता सदैव प्रधान रहती है और एक सी बनी रहती है।

राजसत्ता के भेद

वास्तव में राजसत्ता बाँटी नहीं जा सकती। किसी भी देश मे दो राजसत्ता साथ साथ नहीं रह सकती। लेकिन कुछ विद्वानों ने इसके भेद किये हैं। वास्तव मे हम उसे भेद नहीं कह सकते, बल्कि राजसत्ता को व्यापक रूप से समझाने के वे विभिन्न प्रकार हैं। पहिला भेद यह किया जाता है कि राजसत्ता दो प्रकार की होती है। एक झूठी और दूसरी सच्ची। इङ्गलैंड का बादशाह झूठी राजसत्ता रखता है। वह कहने मात्र को तो बादशाह है लेकिन उसे अधिकार कुछ नहीं है। लेकिन बादशाह और पार्लियामेट एक साथ मिलकर सच्ची राजसत्ता के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। राजसत्ता का दूसरा भेद क़ानूनी और राजनैतिक राजसत्ता है। क़ानूनी राजसत्ता वह है जो क़ानूनन तो सर्व श्रेष्ठ बतलाई जाती

है लेकिन दैनिक और प्रत्यक्ष राजनीति में उसका कोई भी हाथ नहीं होता। उसकी आवश्यकता इतनी जरूर होती है कि लोग उसे देखते रहे और यह न समझे कि उनका कोई राजा नहीं है। इङ्गलैंड में बादशाह और पार्लियामेंट दोनो क़ानूनी राजा समझे जाते हैं। परन्तु असली राजसत्ता जनता के हाथो मे रहती है। इसलिये जनता राजनैतिक राजसत्ता का स्वरूप है। कभी कभी एक ही व्यक्ति में क़ानूनी और राजनैतिक दोनों प्रकार की राजसत्ता पाई जाती है। यदि कोई बादशाह सारी शक्ति अपने ही हाथ में रखता है तो वह क़ानूनी और राजनैतिक दोनो प्रकार की राज सत्ता का मालिक है। क़ानून भी उसे राजा घोषित करते हैं और दैनिक जीवन में भी वह सर्व शक्तिमान दिखलाई पड़ता है। राज सत्ता का तीसरा भेद असली राजसत्ता और कमसली राजसत्ता है। इसका उदाहरण हमे अफ़गानिस्तान मे दिखलाई पड़ता है। अमानुल्लाह वहाँ का असली राजा था। क़ानूनन और जनता की ओर से भी वह राजा स्वीकार किया गया था। अफ़गानिस्तान मे बलवा हुआ। अमानुल्लाह निकाल दिया गया और बच्चा शक़्क़ा वहाँ का राजा हो गया। न तो जनता उसे चाहती थी और न क़ानून से ही वह राजा था। लेकिन उसने अपने को राजा घोषित कर दिया। अन्त मे नादिर खाँ ने उसे भी निकाल दिया और ख़ुद अफ़गानिस्तान का राजा बन बैठा। इसलिये बच्चा शक़्क़ा और नादिर खाँ दोनों कमसली या नकली राजा थे। बाद में नादिर खाँ को जनता ने राजा स्वीकार कर लिया और वह नकली से असली राजा बन गया। राजसत्ता की असलियत को समझने के लिये ये भेद बड़े काम के हैं।

राजसत्ता का इतिहास

राजसत्ता उतनी ही पुरानी है जितना राज्य। इन दोनों की उत्पत्ति साथ ही साथ हुई होगी। अरस्तू और अफलातून दोनों ने इस सत्ता का ज़िक्र किया है। अफलातून ने राजा को दार्शनिक तथा रक्षक (Philosopher king or the Guardian) कहा है। अरस्तू ने इसी राजसत्ता के आधार पर राज्य को तीन भागों में बाँटा है। यूनान देश में राजसत्ता एक महत्त्वशाली शक्ति समझी जाती थी जो अपने ही रंग में राज्य को ढाल सकती थी। वहाँ

की रियासतों का अन्त होते ही रोम नगर का सितारा चमका। यही रोम नगर बढ़ते बढ़ते रोम साम्राज्य हो गया। रोम सम्राट और सीनेट अपने को रोम साम्राज्य का कर्ता धर्ता समझते थे। लेकिन क़ानूनन राजसत्ता जनता की चीज समझी जाती थी। और वह उन्हीं के हाथों मे रक्खी गई थी।

आधुनिक काल में जो राजसत्ता का अर्थ लगाया जाता है उसका जन्म फ्यूडल काल में हुआ था। जो राजा अपनी भूमि को छोटे छोटे राजाओं में बाँटता था वह इन सब का सिरताज समझा जाता था। वह सब का राजनैतिक गुरु गिना जाता था। वैसे तो राज्य मे छोटे छोटे कई राजा हुआ करते थे लेकिन प्रधान एक ही समझा जाता था। तभी से आज तक यह परिभाषा चली आ रही है कि "राजसत्ता सर्व प्रधान राजनैतिक शक्ति है।" छोटे छोटे राजाओ को उसकी आज्ञा माननी पड़ती थी। उसकी सर्व प्रधानता मे किसी को भी शक नहीं हो सकता था। हुकुम और आज्ञा पालन की जो जड़ फ्यूडल काल में डाली गई थी वह बढ़ती गई। उसका रूप बदलते बदलते आज क़ानून और आज्ञा पालन कर दिया गया है। गिर्के (gierke) लिखता है कि आधुनिक राजसत्ता का जन्म उस समय हुआ था जब कि पोप और सम्राट में राज्य के लिये लड़ाइयाँ हुई थीं।* इसके बाद हाब्स (Hobbes) और बोदाँ (Bodin) ने राजसत्ता पर और अधिक प्रकाश डाला। बाद मे इस पर पोथे के पोथे लिखे गये। बीसवीं सदी के कुछ राजनीतिज्ञों ने राजसत्ता के अर्थ को एकदम पलट दिया है। उनका कहना है कि व्यावसायिक क्रान्ति ने जैसे मनुष्य के जीवन के सारे पहलुओं को बदल दिया उसी तरह राजसत्ता भी अब वह नहीं रही जो बीसवीं सदी के पहले थी। इस प्रकार के सिद्धान्त को व्यापकवाद (pluralism) कहते हैं।

---

* "... .It was in this struggle of the church...... with the feudal lords......that the modern conception of sovereignty was developed."

राजसत्ता में व्यापकवाद के प्रचारक मुख्य तीन व्यक्ति हैं। जी० डी० एच० कोल, डूगिट, और लास्की (G. D. H. Cole, Duguit and Laski) इनका कहना है कि राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी एक व्यक्ति या एक गिरोह के हाथों में ही रहे। राज्य के अन्दर बहुत से संगठन होते हैं। प्रत्येक संगठन राज्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना राज्य स्वयं जरूरी है। दैनिक जीवन मे उन संगठनो से व्यक्ति को राज्य से अधिक लाभ पहुँचता है। इस लिये राजसत्ता का कुछ अंश उन संगठनों के हाथ मे भी रहना चाहिये। और सच्ची बात तो यह है कि वे शक्ति को लिये बिना रह नहीं सकते। राज्य किसी हिन्दू को मुसलमान नही बना सकता। दोनो को अपने अपने मजहब प्रिय हैं। इसलिये राज्य की बड़ी से बड़ी सत्ता यह कहने का दावा नही कर सकती कि वह सब कुछ कर सकती है। कल्याण तभी होगा जब सरकार राजसत्ता को नीचे से ऊपर तक बाँट दे। वह हर संगठन की वास्तविकता को समझे और उसे शक्ति प्रदान करने मे थोड़ी भी हिचक न करे। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद न केवल व्यावसायिक बल्कि विचार तथा सांस्कृतिक सभी प्रकार के संगठनों की बेतरह वृद्धि हुई है। सरकार इन्हें शक्ति प्रदान करके इनके कार्यों को उत्साहित करे। वह यह न डरे कि अमुक संगठन बढ़ते बढ़ते राज्य पर हावी हो जायगा। यदि राज्य का उद्देश्य प्रजा की सेवा और उन्नति करना है तो ये संगठन भी आज काफी सेवा कर रहे हैं। मजदूर दल, किसान दल, शिक्षा संगठन, विश्वविद्यालय, स्वास्थ्य गृह, ये सब अपने अपने मार्ग मे स्वतन्त्र होने चाहिये। सरकार केवल इन्हें आपस मे संयोजित करती रहे। ये सभी राज्य के अंग हैं। जैसे शरीर में हाथ का महत्व कम नही है उसी तरह इन सगठनो का महत्व राज्य में काफी बड़ा है। किसी वस्तु का हिस्सा उतना ही आवश्यक है जितना सम्पूर्ण वस्तु। इसलिये इन संगठनो को भी थोड़ी बहुत राजसत्ता प्राप्त है और होनी भी चाहिये।

व्यापकवाद (Pluralism)

आधुनिक युग प्रजातन्त्रवाद का युग है। प्रजा को अधिक से अधिक शक्ति और अधिकार मिलते जायँ यही इसका उद्देश्य है। व्यापकवादियों (Pluralists) का भी यही उद्देश्य है कि जनता के

सभी उचित कार्यों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। यदि आज भी राजसत्ता किसी ख़ास जमाअत के हाथों में पड़ी रहे तो प्रजातन्त्र-वाद का कोई अर्थ ही नहीं है। जब स्वयं प्रजातन्त्रवादी देश इस बात का एलान करते है कि उनका उद्देश्य प्रजा को पूर्ण स्वतन्त्र कर समस्त राजकीय शक्तियो को जनता में ही वितरण कर देना है तो उन्हे इसी ओर बढ़ना चाहिये। इसलिये व्यापकवाद प्रजा की शक्ति को बढ़ाने का एक आधुनिक आन्दोलन है। इससे न केवल प्रजातन्त्रवाद की उन्नति होगी बल्कि और वाद भी इसी सिद्धान्त की नकल करेंगे। प्रजा की शक्ति के साथ साथ उनकी स्वतन्त्रता और क्रियायें भी बढ़तीं जायँगी। बहुत मुमकिन है ये ही संगठन जनता की सच्ची भलाई के हकदार हो जायँ और राजसत्ता स्वयं कोई चीज़ न रह जाय।

जो लोग राजसत्ता के एकीकरण वाले सिद्धान्त मे विश्वास करते हैं वे व्यापकवाद को ख़तरनाक और बेकार बतलाते हैं। उनका कहना है कि यदि इन संगठनो में ही व्यक्ति अपने आप को भुला देगा तो राज्य के आज्ञापालन की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी। एक बड़े संगठन को, जो सदियो से बड़ी छान बीन के साथ बनाया गया है, छोटे छोटे संगठनों के लिये नेस्त नाबूद कर देना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। आलोचकों की एक यह भी दलील है कि मौजूदा मजदूर सगठन के हल्ला तूफान को देखते हुये यह कोई भी कहने की हिम्मत न करेगा कि इसी प्रकार के संगठनो को सरकार प्रोत्साहन देती रहे। जो कुछ भी हो यह स्वीकार करना अच्छा होगा कि सगठनो का काफी महत्व है और उन्हे राज्य की ओर से शक्ति मिलनी चाहिये।

क़ानून और राजसत्ता

कहा जाता है कि, "कानून एक प्रकार का हुक्म है जिसे राजसत्ता जारी करती है।"* इसका तात्पर्य यह है कि राजसत्ता और कानून इन दोनों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। कोई भी कानून तब तक नहीं बन सकता जब तक राजसत्ता

---

* Law is a command issued by the supreme political authority.

की इजाजत न हो। चाहे राजसत्ता राजा में हो या पार्लियामेंट में अथवा जनता में, कानून पर उसका एक सा असर पड़ता है। उस व्यक्ति वा गिरोह के अलावे, जिसे राजसत्ता प्राप्त है, कोई भी कानून बनाने का अधिकारी नहीं है। क़ानून स्वयं एक प्रकार की शक्ति है जो राजसत्ता से ही उसे प्राप्त होती है। यदि राजसत्ता का भय न हो तो रोज़ ही क़ानून तोड़ने वालों की भरमार लग जाय। जब कि कानून बनाने का अधिकार राजा को ही प्राप्त है तो क्या वह सभी तरह के कानून बना सकता है? कोई भी प्रजा राज के उन क़ानूनों को नहीं मान सकती जो उसकी भलाई और उन्नति में बाधक हो। इसलिये राजसत्ता के अभिमान में कोई भी राजा अन्याय नहीं कर सकता। बड़ी से बड़ी राजसत्ता को धर्म और व्यक्तिगत मामले मे दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। कोई भी राजसत्ता उन्ही कानूनों का पालन करा सकती है जो प्रजा की इच्छा के अनुकूल हों और उसी की मर्जी से बनाये गये हों।

राजसत्ता की सीमा

ऊपर कहा गया है कि राजसत्ता की शक्ति अनन्त है। उसकी सीमा का कहीं अन्त नहीं है। लेकिन कार्य रूप में उसके लिये भी अनेक रुकावटें है। राजसत्ता किसी भी ऐसे क़ानून का प्रचार नहीं कर सकती जो किसी धर्म वा न्याय के विरुद्ध हो। इस प्रकार के कानूनों का विरोध जनता खुले दिल से करेगी, और राजसत्ता को उसके सामने झुकना होगा। राजसत्ता के अन्दर जितनी शक्ति प्रजा पर शासन करने की होगी, चाहे वह शक्ति शारीरिक, मानसिक, वा आध्यात्मिक हो, उसी हद तक वह प्रजा को दबा सकती है। बड़े बड़े तानाशाहों की भी शक्ति का कहीं न कहीं हद होता है। वे ज़मीन और आसमान एक कर देना चाहते हैं, लेकिन वह शक्ति उनके पास नहीं होती। अपने राज्य में वे जो कुछ करना चाहते हैं सब नहीं होता। कारण यह है कि शक्ति से हर चीज़ परिमित है। हर व्यक्ति वा संगठन का एक व्यक्तित्व होता है। जितना बड़ा व्यक्तित्व रहता है उसी हद तक वह अपनी योजना में सफल होता है। डाइसी (Dicey) लिखता है, "राजसत्ता प्राकृतिक नियमों का उलंघन नहीं कर सकती।" इसका तात्पर्य यह है कि कुछ दैवी तथा प्राकृतिक बन्धन भी राजसत्ता

को सब कुछ करने से रोकते हैं। ब्लन्चली (Bluntschli) लिखता है, "कोई भी ऐसी सत्ता नहीं है जो सर्वथा स्वतन्त्र हो। यहाँ तक कि राज्य का पूरा हंगामा भी सर्व शक्तिमान नहीं है। यह बाह्य तथा आन्तरिक दोनों तरफ से अन्य राज्यों के अधिकार और अपनी शक्ति तथा व्यक्तिगत अधिकारों से घिरा हुआ है।"* जैसे व्यक्ति के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता कोई चीज नहीं है उसी तरह राजसत्ता भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। उसे भी प्रजा की शक्ति और नीयत का ध्यान रखते हुए काम करना पड़ता है।

राजसत्ता की शक्ति चार प्रकार से घिरी हुई है। वह इनकी सीमा का उलंघन नहीं कर सकती। सब मे प्रथम तो दैवी शक्ति है। इसका दूसरा नाम प्राकृतिक नियम भी है। जिस प्रकार ये शक्तियाँ व्यक्ति के लिये पथ प्रदर्शक हैं उसी तरह राजसत्ता भी इनके प्रतिकूल नही जा सकती। जड़ और चेतन सभी पदार्थ इस दैवी शक्ति के आश्रित हैं, राजसत्ता इसमें अपवाद नहीं है। दूसरी रुकावट शासन पद्धति की है। सरकार जो नियम एक बार बनाती है उसका वह स्वयं उलंघन नही कर सकती। राजसत्ता बनाई हुई शासन पद्धति को तोड़ नहीं सकती। सम्पूर्ण प्रजा की अनुमति लेकर वह उसमे परिवर्तन कर सकती है। राज्य, शासन पद्धति की भले ही अवहेलना करे, परन्तु राजसत्ता ऐसा नहीं कर सकती (The constitution limits the government, not the state.) राजसत्ता की तीसरी रुकावट अन्तर्राष्ट्रीय नियम हैं। कोई भी राजसत्ता इनका उलंघन नहीं कर सकती। यद्यपि इनका उलंघन करके कोई राज्य बहुत बड़ी हानि नहीं उठा सकता, फिर भी विश्व शान्ति के लिये इनका पालन अच्छा है। जापान, जर्मनी, इटली आदि देशो की राजसत्ता ने अन्तर्राष्ट्रीय नियमो की खुले आम अवहेलना की है फिर भी वे राज्य राष्ट्र की उच्च

---

* There is no such thing as absolute independence, even the state as a whole is not almighty; for it is limited externally by the rights of other states and internally by its own nature and the rights of its individual members.

श्रेणी में गिने जाते हैं। इन नियमों के उलंघन से इतनी हानि जरूर है कि मालूम नहीं किस समय विश्व व्यापी युद्ध छिड़ जाय। राजसत्ता अपने देश के रीति रवाजों से भी घिरी हुई होती है। वह किसी भी धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध क़दम नहीं उठा सकती। रसम रवाज का बन्धन राजकीय क़ानूनों से कहीं बढ़कर होता है। इसलिये कोई भी राजसत्ता इनका तिरस्कार नहीं कर सकती। वह कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो जाय, इन्हें बचा कर ही उसे चलना पड़ता है। औरंगज़ेब एक ज़ालिम बादशाह कहा गया है। मैं इस कथन मे तिल भर भी विश्वास नहीं करता कि उसकी तलवार के सामने कोई भी सत्ता डॅट नहीं सकती थी। वह क़ुरान और मज़हबी मामलों में सर नीचा कर लेता था।

जान आस्टिन का सिद्धान्त

राजसत्ता के समस्त सिद्धान्तो में जान आस्टिन (John Austin) का सिद्धान्त बड़े मार्के का है। जान आस्टिन इङ्गलैण्ड में एक वकील था। उसने १८३२ ई० में अपनी एक पुस्तक "लेक्चर्स आन जूरिस प्रूडेन्स (Lectures on jurisprudence) मे राजसत्ता पर अपना विचार प्रकट किया था। तब से बराबर उस पर टीका टिप्पणी होती चली आ रही है। मैं आस्टिन के ही शब्दो में उसका सिद्धान्त रखना चाहता हूँ। वह लिखता है।*

आस्टिन के इस सिद्धान्त की व्याख्या करने पर इसमें से तीन ख़ास बातें मालूम होती हैं:—

* "The notions of sovereignty and independent political society may be expressed thus...... If a determinate human superior not in the habit of obedience to a like superior receive habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is the sovereign in that society, and the society including the superior, is a society political and independent. To that determinate superior the other members of the society are subjects ...."

१—प्रत्येक राज्य मे एक प्रत्यक्ष राजसत्ता का होना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना राज्य का एक भी क़ानून नहीं बन सकता। क्योंकि आस्टिन स्वयं लिखता है कि चाहे वह राजसत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में हो अथवा किसी समूह के हाथों मे, लेकिन उसका स्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिये।

२—राजसत्ता की शक्ति किसी भी तरह से सीमित नहीं है। वह किसी दूसरी शक्ति से घिरी नहीं रह सकती। वह पूर्ण स्वतन्त्र और असीम है।

३—राजसत्ता के टुकड़े नहीं किये जा सकते। एक राज्य में दो राजसत्ता नहीं रह सकती। एकीकरण राजसत्ता का प्रधान गुण है।

आस्टिन के इस सिद्धान्त मे कानूनी दृष्टि से काफी सचाई मौजूद है। लेकिन कार्य रूप में यह सिद्धान्त असम्भव है। संसार मे किसी भी असीम शक्ति का अनुमान ही ग़लत है। कोई भी राजा इतिहास के किसी भी युग मे ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो सभी प्रकार से स्वतन्त्र रहा हो। आज भी संसार के किसी भी देश मे कोई राजा अथवा गिरोह ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जिसकी ताकत की सीमा नियत न हो। संघ शासन में आस्टिन का सिद्धान्त एक दम फेल कर जाता है। अमेरिका में हम यह नही कह सकते कि राजसत्ता कहाँ है। उसने अँग्रेजी शासन विधान की बिलकुल ग़लत व्याख्या की है। यदि वह राजसत्ता को कानूनी और राजनैतिक दो भागों में न बाँटे होता तो उसके सिद्धान्त की और भी छीछालेदर होती।

अध्याय ११

मताधिकार (Franchise)

मताधिकार का अर्थ—प्राचीन काल में मताधिकार—मताधिकार की उत्पत्ति—मताधिकारी कौन है—इंगलैंड—फ्रांस—अमेरिका—जर्मनी—हिन्दुस्तान—निर्वाचन क्षेत्र—निर्वाचन नियम—मत कैसे देना चाहिये—स्वतन्त्र मत—स्त्रियाँ और मताधिकार—अल्प संख्यक और निर्वाचन—द्वै निर्वाचन—प्रतिनिधि—सम्मिलित और पृथक निर्वाचन।

मताधिकार का अर्थ

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है 'मत' एक प्रकार का 'अधिकार' है। लेकिन हर आदमी रोज़ बीसो मामलो मे अपना मत देता है तो क्या उसे किसी तरह का अधिकार प्राप्त है? उसकी कितनी हीं राये ठुकरा दी जाती हैं। यदि उसे थोड़ा भी अधिकार प्राप्त होता तो वह उन्हे हरगिज ठुकराने न देता। अधिकार तो तभी माना जा सकता है जब उसकी राय का कुछ मूल्य हो अथवा राय के बगैर कोई काम रुक जाय। 'मताधिकार' (Franchise) शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। यहाँ पर 'मत' शब्द से तात्पर्य केवल "राजनैतिक विषयो मे राय देने से है।" मताधिकार उसी को प्राप्त है जो राज्य की ओर से राय देने के योग्य होता है। इस योग्यता की कुछ कसौटी है जिसे पूरा किये बिना कोई भी मताधिकारी नही बन सकता। राज्य मे सबसे महत्वपूर्ण काम क़ानून को बनाना है। लगभग सभी देशों मे प्रजा के प्रतिनिधि ही इस काम को करते हैं। इसलिये प्रतिनिधिओं का दर्जा काफ़ी बड़ा है। यदि राजा जिसे चाहे प्रतिनिधि बना दे और जो चाहे क़ानून पास करा ले तो प्रतिनिधि और कानून दोनो का कोई महत्व नहीं रह जाता। लेकिन किसी भी राज्य मे ऐसी बात दिखाई नही पड़ती। प्रतिनिधि को जनता चुनती है और कानून बनाने मे प्रतिनिधि पूर्ण स्वतन्त्र हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जनता के हाथ में यह ताक़त दी गई है कि वह जिसे चाहे अपना प्रतिनिधि चुने। अगर यह शक्ति आम जनता को दे दी जाय तो प्रतिनिधियों का चुनाव

ठीक ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि नादान बच्चों और अयोग्य व्यक्तियों को यह बात समझ मे नहीं आ सकती कि कौन योग्य और कौन अयोग्य प्रतिनिधि है। इसीलिये सरकार उन्हीं लोगों को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार देती है जो पूर्णतया योग्य होते हैं। या दूसरे शब्दों मे यह कह सकते हैं कि प्रतिनिधि चुनने का अधिकार केवल नागरिक को ही दिया जाता है। आरम्भ मे ही यह बतलाया गया है कि नागरिक कौन है और उसके क्या क्या अधिकार हैं। नागरिक के अन्य अधिकारों मे से अपनी राय के अनुसार प्रतिनिधियों का चुनना भी एक अधिकार है। उनके मत के बगैर कोई भी प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता और जिसे जनता अपनी राय से चुन ले उसे कोई निकाल भी नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि मताधिकार एक बहुत बड़ी ताकत है जो नागरिक को ही प्राप्त है। मताधिकार एक राजनैतिक अधिकार है जो राज्य की ओर से हर नागरिक को दिया जाता है।

प्राचीन काल में मताधिकार

मताधिकार एक नई चीज़ है। इसका रवाज प्राचीन काल मे बिलकुल न था। इसकी दो वजूहात हैं। एक तो यह कि मताधिकार एक ऐसी कला है जो पूर्वजों को मालूम न थी। जिस प्रकार आधुनिक काल की बहुत सी वैज्ञानिक वस्तुओं का उन्हे ज्ञान न था उसी तरह यह विज्ञान भी उनकी समझ से बाहर था। दूसरी वजह एक और भी है। प्राचीन काल मे शासन की व्यवस्था आज कल की सी न थी। न तो इतनी आबादी थी और न आवागमन के इतने साधन थे। छोटे छोटे राज्य होते थे और उनका सम्बन्ध अन्य राज्यों से लगभग नहीं के बराबर होता था। इतना ज़रूर था कि वे राज्य प्रजातन्त्र राज्य थे। उनमें प्रजा की राय से ही काम किया जाता था। कभी कभी कोई अत्याचारी अथवा ज़ालिम राजा भी हो जाया करते थे। वे या तो प्रजा द्वारा निकाल बाहर किये जाते या खुद कहीं लड़भिड़ कर अपनी जान गँवा देते थे। उनके काल में प्रजा के सभी अधिकार छीन लिये जाते थे और उसे अनेक सख्तियों का सामना करना पड़ता था। लेकिन प्रजातन्त्र राज्यो में यह बात न थी। वहाँ सारी प्रजा इकट्ठी होकर अपने लिये क़ानून बनाती थी और राज्य के हर मामले पर ठंडे दिल से विचार

करती थी। राजा खुशी खुशी उन रायों को मान लेता था और परोक्ष वा प्रत्यक्ष दोनो प्रकार से उनका पालन करता था। ऐसे राज्य आदर्श कहलाते थे। प्राचीन काल मे यूनान देश मे इस प्रकार के अनेक राज्य थे, जिनमे एथेन्स (Athens) अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। उसी स्वतन्त्र वातावरण ने सुकरात, अफलातून और अरस्तू ऐसे व्यक्तियों का जन्म दिया जिनकी विद्वत्ता पर आज बीसवीं सदी में भी संसार को गर्व है।

उस दशा मे जब कि राज्य के सभी व्यक्ति इकट्ठे होकर अपनी अपनी इच्छाओ को प्रकट कर लेते थे प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता ही न थी। जो व्यक्ति स्वयं अपनी राय ज़ाहिर कर सकता है उसे औरो को अपना मतदाता चुनने की क्या आवश्यकता है। इसी लिये 'मताधिकार' शब्द का ज़िक्र प्राचीन-काल के इतिहासों मे नहीं आता। और यदि कहीं इस शब्द का प्रयोग किया भी गया है तो उसका अर्थ आज कल से बिलकुल भिन्न है। हमारे देश मे भी यूनान की तरह प्रजातन्त्र राज्य थे। सिकन्दर जब हिन्दोस्तान फतह करने के लिये आया था तो उसे उन प्रजातन्त्र राज्यो से मुठभेड़ हुई थी। वह स्वयं इन राज्यों की तारीफ करता है। राज्यो की सीमा छोटी होने से और उनकी जनसंख्या कम होने के कारण प्रतिनिधित्व की प्रथा न थी। यूनान का राजनैतिक इतिहास देखने से पता चलता है कि मत देने वालों मे काफी फरक किया जाता था। जो लोग अपने राज्य के आदिम निवासी होते थे वे ही इकट्ठे होकर अपनी राय दे सकते थे। जो विदेशी होते थे उन्हें राजनैतिक मामलों में चूँ तक करने का अधिकार न था। गुलामो की दशा उनसे भी बदतर थी। वे राय तो देना दूर रहा, अपने पास कोई जायदाद भी नहीं रख सकते थे और न अपने रहने के लिये घर बना सकते थे। वे जानवरों की तरह बाजारो मे बेंचे जाते थे। एथेन्स नगर मे तो एक समय १००० आदिम निवासी थे और १०,००० गुलाम तथा विदेशी थे। इन्हें कोई अधिकार राज्य की ओर से नहीं दिया गया था।

मताधिकार एक वैज्ञानिक आविष्कार है। औद्योगिक क्रान्ति के पहले इस प्रथा का रवाज़ कहीं भी न था। कहने सुनने को किसी किसी देश में प्रतिनिधित्व का रवाज़ था लेकिन उसका ढंग आजकल का सा न था। लोग धारा सभाओ मे जाना एक भार समझते थे। उन्हें यह बात समझ में न आती थी कि एक व्यक्ति किसी और की राय को ज़ाहिर कर सकता है। कहने को तो 'मताधिकार' की उत्पत्ति इस क्रान्ति से काफी पहले हुई थी, लेकिन इसका मौजूदा ढंग क्रान्ति के बाद ही बनता गया। प्रत्येक देश की आबादी काफी बढ़ने लगी। अच्छे से अच्छे प्रजातन्त्र वादी देशों में भी यह सम्भव न था कि सभी लोग एकत्रित होकर किसी मामले पर विचार कर सकें। एक दूसरी बात यह थी कि प्रजा को उन दिनों अधिकार भी कहने सुनने को ही प्राप्त थे। राजा और प्रजा दो विपक्षी समझे जाते थे। प्रजा उनकी आज्ञाओं को दैवी अधिकार समझ कर मान लेती थी। जब आबादी अधिक बढ़ गई और विज्ञान की उन्नति के साथ ही साथ लोगों को अधिकार की चेष्टा बढ़ने लगी तो 'मताधिकार, का जन्म हुआ। प्रजा अपने प्रतिनिधि चुन कर धारा सभाओ मे भेजती थी। तबसे यह प्रथा जारी है। मताधिकार धीरे धीरे बढ़ता जा रहा है और इस अधिकार का महत्व भी बढ़ रहा है। जितनी ही शिक्षा बढ़ रही है उतनी ही इसकी महत्ता भी मालूम होती जा रही है। सभी प्रजातन्त्र देशो मे मताधिकार सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती है। प्रजातन्त्रवाद और मताधिकार दोनों साथ साथ चलते हैं।

मताधिकार की उत्पत्ति

कोई भी अधिकार उसी व्यक्ति को दिया जाता है जो उसका उचित उपयोग कर सकता है। हर अधिकार के पीछे कर्तव्य की भावना छिपी रहती है। राज्य मे सबसे बड़े अफसर को बहुत से अधिकार प्राप्त रहते हैं। लेकिन उसकी ज़िम्मेवारी भी बहुत बड़ी होती है। कुटुम्ब का स्वामी कुटुम्ब का पूरा मालिक होता है। वह जिसे चाहे दण्ड दे सकता है और बुरा भला कह सकता है। लेकिन उसे कुटुम्ब की मर्यादा की सबसे बड़ी चिन्ता रहती है। कुटुम्ब की

मताधिकारी कौन है

बुराई भलाई उसी की बड़ाई और निन्दा समझी जाती है। इसलिये अधिकार प्राप्त करना उतना कठिन नहीं है जितना उसे निबाहना। मताधिकार यदि राज्य मे सबको दे दिया जाय तो इसका काफी दुरुपयोग हो सकता है। इसका उदाहरण आज भी मौजूद है। यद्यपि हमारे देश में मताधिकार बहुत थोड़े से लोगों को मिला हुआ है फिर भी लोग इसका दुरुपयोग करते हैं। यही सोचकर राज्य की ओर से कुछ ऐसी शर्तें रक्खी गई हैं जिन्हे पूरा किये बग़ैर कोई भी मताधिकारी नही बन सकता। विदेशी लोग किसी देश मे मताधिकारी नहीं बन सकते। भीख माँगने वालो को अपने ही देश मे मत देने का अधिकार नहीं रहता। पागल तथा दिवालिये मत नहीं दे सकते। मत देने के लिये हर देश मे एक आयु का भी विधान बनाया गया है। किसी भी देश में नाबालिग मत देने के अधिकारी नहीं समझे जाते। कहीं कहीं पर स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं है। मताधिकारी बनने के लिये जायदाद की भी क़ैद लगाई गई है। जिसके पास न कोई जायदाद है और न अपना घर है वह मताधिकारी नही बन सकता। किसी दर्जे तक शिक्षा की भी आवश्यकता ठहराई गई है। अर्थात् जो उस माप तक शिक्षित नहीं रहता वह मत नहीं दे सकता। मताधिकार के सम्बन्ध मे लोगो के दो विचार हैं।

कुछ लोग तो यह कहते हैं कि मताधिकार सभी नागरिको को प्राप्त होना चाहिये। यदि किसी नागरिक को वोट या मत देने का अधिकार नहीं है तो उसकी नागरिकता के कुछ मानी नहीं हैं। फ्रांसीसी विद्वान रूसो का मत है कि मताधिकार सभी नागरिकों को एक समान मिलना चाहिये। यदि प्रजातन्त्रवाद को सफल बनाना है तो जनता को इस अधिकार से भूषित करना चाहिये। इस दलील में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शिक्षा की कमी के कारण इस अधिकार का लोग दुरुपपयोग कर सकते हैं। बीसवीं सदी मे किसी किसी देश में, जिनकी संख्या आज काफी बढ़ गई है, शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य है। यह इसीलिये किया गया है कि अधिक से अधिक लोग मताधिकार का उपयोग कर सकें। मताधिकार को विश्वव्यापी करने में सबसे बड़ा भय यही है कि अज्ञानता वश इसका दुरुपयोग होगा। इसीलिये प्रजातन्त्रवाद के

पक्ष में होते हुये भी जान स्टुअर्ट मिल, लेकी, सिजविक आदि विद्वानों ने मताधिकार के विश्व सिद्धान्त (Universal Franchise) का खंडन किया है। वे खुले आम कहते हैं कि सभी नागरिकों को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिये। यह अधिकार उन्हीं को मिलना चाहिये जो इसका उचित उपयोग कर सकें, जिनके अन्दर इसे समझने की शक्ति हो। जान स्टुअर्ट मिल लिखता है, "मैं इसे क़तई बुरा समझता हूँ कि लिखने पढ़ने तथा गणित की साधारण योग्यता न होते हुये भी किसी को मताधिकार प्रदान कर दिया जाय।"* इतना ही नहीं वह जायदाद पर भी ज़ोर देता है और साफ लिखता है कि जो सरकार को किसी प्रकार का कर न देते हों उन्हें मताधिकार हरगिज़ नहीं मिलना चाहिये।

अच्छा होगा कि हम दुनिया के चन्द बड़े बड़े मुल्क़ों की ओर नज़र डालें कि वहाँ मताधिकार किनको किनको प्राप्त है। उनका मुकाबिला करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि हमारा देश उनसे काफी पीछे है। साथ ही हम यह भी देखेंगे कि हमारे देश की एक बहुत बड़ी जनसंख्या 'मताधिकार' शब्द से भी परिचित नही है। यही नहीं, हम यह भी देखेंगे कि हमारे देश मे जो प्रजातन्त्रवाद की डींग मारी जाती है वह एक दम निर्मूल और सरासर ग़लत है। हमारी ग्रामीण जनता भेंड़ की तरह अब भी चन्द पढ़े लिखे नुमाइन्दो की हाँ में हाँ मिलाती है। बोट बेचे जाते हैं। निर्वाचन के समय झूठी झूठी प्रतिज्ञायें की जाती हैं और जनता पर बेजा दबाव डाला जाता है। पिछले चुनाव के समय यह कमी काफी हद तक दूर हो गई थी। जनता ने अपने सच्चे प्रतिनिधियों को पहचाना और साधारण तथा ग़रीब लोगो को अपना प्रतिनिधि चुना। उन्हें यह मालूम होगया कि जब तक हमारे सच्चे प्रतिनिधि धारा सभाओ में न जायेंगे तब तक मुल्क़ की भलाई नहीं हो सकती।

---

*I regard it as wholly inadmissible that any person should participate in the suffrage without being able to read, write, and I will add, peıform the common operations of arithmetic

इङ्गलैंड

१९१८ के पहले बृटेन निवासी मताधिकार के सच्चे अर्थ से एक दम महरूम थे। उन्हें इस अधिकार की चेष्टा न थी। १९१८ ई० में एक क़ानून (Representation of the People Act) पास किया गया। इसके अनुसार काफी लोगो को मताधिकार मिला। १९२८ ई० में एक दूसरा क़ानून पास किया गया, जिसके अनुसार स्त्री-पुरुष सबको बराबर हक दिये गये। आज इंगलैंड के किसी भी निर्वाचन मे स्त्री वा पुरुष दोनों ही अपना मत दे सकते हैं। जिसकी उमर २१ वर्ष से अधिक हो, चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष, और जो कम से कम ५० रुपये सालाना आमदनी की तिजारत करता हो और वोट लिये जाने के दिन तक कम से कम ३ माह पहले से वह अपने निर्वाचन क्षेत्र में रहता हो, उसे मताधिकार का अधिकार दिया गया है। हर मताधिकारी का नाम रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है। प्रत्येक मताधिकारी को दो से अधिक निर्वाचन क्षेत्रो मे मत देने का अधिकार नहीं है। वह भी इस शर्त पर कि दोनो क्षेत्रों मे वह भिन्न भिन्न हैसियत से अपने को मताधिकारी सिद्ध करे। इसके अलावे किसी को भी मताधिकार प्राप्त नही है। लार्डस; नाबालिग़, विदेशी, दिवालिये तथा ख़ब्त दिमाग़ वाले मताधिकार से सर्वथा वञ्चित रक्खे गये हैं।

फ्रांस

फ्रांस स्वतन्त्रता की ज्योति (Torch bearer of liberty) कहा जाता है लेकिन ग़ौर से देखने से पता चलता है कि वहाँ स्वतन्त्रता के क्षेत्र में कोई विशेषता नहीं है। फ्रांस का वायुमंडल स्त्रियों के प्रतिकूल है। भौगोलिक दृष्टि से इस कथन की पुष्टि भले ही न होती हो पर राजनैतिक क्षेत्र मे यह बात आइने की तरह साफ दिखलाई पड़ती है। वहाँ किसी भी स्त्री को मताधिकार प्राप्त नहीं है। स्त्रियाँ राजनीति से एक दम अलग रक्खी जाती हैं। लेकिन २१ वर्ष से ऊपर वाले सभी पुरुषो को मत देने का अधिकार प्राप्त है। यह प्रथा १८७४ ई० से आज तक चली आ रही है। पागल, अपराधी तथा फौजी सिपाहियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। बड़े आश्चर्य की बात है कि यूरप ऐसे महाद्वीप मे, जो आधुनिक सभ्यता का जन्मदाता कहलाता है, फ्रांस एक ऐसा देश है जिसने नारी वर्ग को राजनीति से एक दम वंचित कर रक्खा है।

अमेरिका यूरप का दोहरा ख़ाका कहा जाता है। कोई भी ऐसी बात यूरप मे न होगी जिसकी नक़ल अमेरिका में मौजूद न हो। वहाँ संघ शासन की व्यवस्था है, इसलिये मताधिकारी दो श्रेणियों में बाँट दिये गये हैं। एक तो वे जो अपनी ही रियासतों के निर्वाचन मे भाग ले सकते हैं, और दूसरे वे जो सम्पूर्ण संघ की धारा सभा मे भी मत देने के अधिकारी हैं। सभी रियासतो में मताधिकार सम्बन्धी अलग अलग नियम हैं। किसी मे शिक्षा की क़ैद है तो किसी में जायदाद की। फिर भी थोड़े से अपवादों के अतिरिक्त १९२० ई० से स्त्री और पुरुष दोनों को एक समान मताधिकार प्राप्त हैं।

अमेरिका
U. S. A.

१९२० ई० तक जर्मनी में मताधिकार केवल पुरुषों को ही प्राप्त था। सम्पूर्ण मताधिकारी तीन हिस्सों मे बाँट दिये गये थे, जिसका इतिहास और उद्देश्य वर्णन करना यहाँ उचित नही है। मताधिकारी के लिये कम से कम २५ वर्ष की आयु का होना आवश्यक था। लेकिन १९२० के बाद जर्मनों ने यूरप के और मुल्क़ों की नक़ल की। मौजूदा जर्मन शासन पद्धति के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को मत देने का एक समान अधिकार है। उनकी आयु भी २५ वर्ष से घटा कर २० वर्ष कर दी गई है।

जर्मनी

हमारे देश में मताधिकार सम्बन्धी नियम इतना टेढ़ा मेढ़ा है कि साधारण लोग उसे समझ ही नहीं सकते। साथ ही कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो और मुल्कों मे नहीं पाई जातीं। पूरे देश की आबादी ३६ करोड़ के लगभग है। जिसमे २ करोड़ ९० लाख पुरुष और ६० लाख स्त्रियों को मत देने का अधिकार है। यानी अधिक से अधिक १४ फ़ीसदी आदमी मताधिकारी बन सकते हैं। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि हर सैकड़े ८६ आदमी वोट नहीं दे सकते। यह नम्बर संघ की व्यवस्थापिका सभा मे मत देने वालों के लिये है। हमारे देश मे इतना ही फरक नहीं रक्खा गया है कि कौन संघ शासन में मताधिकारी बन सकता है और कौन प्रान्तीय शासन मे,

हिन्दुस्तान

बल्कि हर प्रान्त में मताधिकार के अलग अलग नियम बनाये गये हैं। जो नियम संयुक्त प्रान्त में है वही बम्बई में नहीं है। वैसे तो इसकी वजह भौगोलिक परिस्थिति बतलाई जाती है लेकिन कोई भी इसे इनकार नहीं कर सकता कि इससे राष्ट्रीय एकता नष्ट होती है। राजनैतिक दृष्टि से मुल्क के लिये यह एक घातक चीज़ है। अध्ययन की सुविधा के लिये हम समस्त मताधिकारों को दो कोटि में रख सकते हैं। एक तो वे जो केवल केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिये मत दे सकते हैं। दूसरे वे जो केवल अपने ही सूबों में मत देने के अधिकारी हैं।

भारतीय मताधिकार में, चाहे वह केन्द्रीय हो अथवा प्रान्तीय, कुछ ऐसी बातें हैं जिनका वर्णन करना यहाँ अनुचित न होगा।

१—प्रत्येक मताधिकारी के लिये अंग्रेजी प्रजा होना आवश्यक है। उन रियासतों के राजा तथा नागरिक भी मत देने के अधिकारी हैं जो संघ शासन मे शरीक होंगे।

२—पागल, दिवालिये, अपराधी मताधिकारी नहीं बन सकते।

३—जिन्हें काले पानी की सज़ा हुई है या जो हिरासत अथवा जेल मे हैं वे भी अपना मत नहीं दे सकते।

४—प्रत्येक मताधिकारी के लिये कम से कम २१ वर्ष की आयु का होना आवश्यक है।

५—१९३५ ई० तक हमारे देश में केवल पुरुषों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन नये शासन विधान के अनुसार अब स्त्रियाँ भी वोट दे सकती हैं।

६—मताधिकारी के लिये अपने निर्वाचन क्षेत्र का निवासी होना आवश्यक है।

यदि हम सिद्धान्त की चर्चा करें तो पता चलेगा कि हमारे देश में मताधिकार के इतने टुकड़े किये गये है कि इनमें एकता को कोई भावना ही नहीं है। कोई एक निश्चित सिद्धान्त मान कर मताधिकार का वितरण नहीं किया गया है। उल्टे मुल्क को छोटे छोटे समुदायों और सम्प्रदायों मे विभाजित करके देश के सामने एक विकट समस्या रख दी गई है। और मुल्को में केवल शिक्षा और

जायदाद के आधार पर मताधिकार का सिद्धान्त बनाया गया है। लेकिन हमारे देश में ९ ऐसी बातें रक्खी गई हैं जो मताधिकारियों के लिये ज़रूरी हैं। इनसे पता चलेगा कि किस क़दर जाति और धर्म के मामलों को राजनीति मे मिलाकर खिचड़ी पकाई गई है।

सम्प्रदाय

१—किसी भी हिन्दू निर्वाचन क्षेत्र मे कोई मुसलमान अपना मत नही दे सकता। कोई भी यूरप का निवासी किसी मुसलमान निर्वाचन क्षेत्र मे अपना मत देने का अधिकारी नहीं है। कोई भी अँग्रेजी ईसाई किसी हिन्दुस्तानी ईसाई के निर्वाचन क्षेत्र मे वोट नहीं दे सकता।

वर्ग

२—मताधिकार में स्त्री और पुरुष वर्ग को भी अलग किया गया है। मुसलिम स्त्री निर्वाचन क्षेत्र में केवल स्त्रियों को ही मत देने का अधिकार है। लेकिन हिन्दू स्त्री निर्वाचन क्षेत्र में स्त्री और पुरुष दोनों को मत देने का अधिकार दिया गया है। एक ख़ास बात और है। १९१९ ई० के शासन विधान के अनुसार जो पुरुष मताधिकारी ठहराये गये थे उनकी स्त्रियाँ भी चाहे वे सधवा हों वा विधवा, मताधिकारिणी मान ली गई हैं।

संगठन

३—कुछ निर्वाचन क्षेत्रों मे केवल वे ही मताधिकारी ठहराये गये हैं जो किसी ख़ास संगठन वा दल के सदस्य हों। जैसे मज़दूर निर्वाचन क्षेत्र में वही व्यक्ति मताधिकारी है जो मज़दूर दल का सदस्य है। अथवा किसी चैम्बर आफ कामर्स (Chamber of Commerce) निर्वाचन क्षेत्र में वोट देने का वही अधिकारी है जो चैम्बर का सदस्य है।

सामाजिक विभेद

४—मताधिकार वितरण मे ऊँच और नीच का भी ध्यान रक्खा गया है। इससे समाज के टुकड़े टुकड़े होने के सिवाय और कोई लाभ नहीं है। इतना अवश्य है कि जो समाज में पिछड़े हुये लोग हैं उन्हें भी मताधिकार का अवसर मिल जाता है। हिन्दू समाज अपनी इस कमज़ोरी के लिये काफी ज़िम्मेवार है। किसी किसी निर्वाचन क्षेत्र में केवल ख़ास जाति वा वर्ग के लोग मत

देने के अधिकारी हैं। कुछ सूबों में अछूतों के लिये स्थान नियत कर दिये गये हैं, अर्थात् उनके प्रतिनिधियो की एक निश्चित संख्या मुक़र्रर कर दी गई है।

५—लगभग सभी सूबों में मताधिकार के लिये थोड़ी बहुत जायदाद का होना आवश्यक ठहराया गया है। मताधिकारी वे ही बन सकते हैं जो या तो सरकार को टैक्स देते हो अथवा किसी निश्चित रक़म से ऊपर उनकी वार्षिक आमदनी हो।

साम्पत्तिक विभेद

६—सरकारी फौज का कोई भी पेन्शन आफता अफसर मत देने का अधिकारी है।

नौकरी

७—पुरुषों के लिये कम से कम चौथा दर्जा और स्त्रियों के लिये शिक्षित होने का सबूत—प्रत्येक के लिये आवश्यक है। अशिक्षित व्यक्ति मताधिकारी नहीं बन सकता।

शिक्षा

८—जिसे 'सर' अथवा 'खाँ' या इसी तरह का कोई और भी सरकारी ख़िताब प्राप्त है वह भी मत देने का अधिकारी समझा जाता है।

ख़िताब

९—मताधिकारियों की सूची में उन लोगो का भी नाम शामिल कर लिया गया है जो किसी खास स्थान को ग्रहण करते हैं। भविष्य में जो कोई भी उन स्थानो को सुशोभित करेगा वह मताधिकारी मान लिया जायगा। हाईकोर्ट के जज, विश्व विद्यालयो के वाइस चान्सलर इस कोटि मे आ जाते हैं।

पद

नागरिकों का मत लेने के लिये सरकार सम्पूर्ण देश को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट देती है। प्रत्येक टुकड़े को निर्वाचन क्षेत्र कहते हैं। जब म्युनिसिपल बोर्ड के प्रतिनिधियों का चुनाव होता है तो शहर की पूरी आबादी को छोटे छोटे वार्डों मे विभाजित कर दिया जाता है। यह प्रत्येक वार्ड निर्वाचन क्षेत्र कहलाता है। यदि किसी स्कूल में १०० विद्यार्थी पढ़ते हो और वे सब किसी मामले में वोट देने के अधिकारी हो तो स्कूल का प्रधान अलग

निर्वाचन क्षेत्र

अलग दर्जों मे उनकी राय ले सकता है। यहाँ पर प्रत्येक क्लास उनका निर्वाचन क्षेत्र कहलायेगा। कार्य रूप मे निर्वाचन क्षेत्र के अलावे कोई दूसरा तरीका नहीं है जिससे प्रतिनिधियों का चुनाव किया जाय। निर्वाचन क्षेत्रों का विभाजन कई प्रकार से किया जा सकता है। या तो किसी प्राकृतिक सीमा के आधार पर इनका विभाजन होता है अथवा आबादी की गणना के अनुसार। सबसे अच्छा यही होता है कि बराबर बराबर जनसंख्या में पूरा देश बाँट दिया जाय। और हर जगह से बराबर बराबर प्रतिनिधि चुन लिये जायँ। लेकिन इसमें कठिनाई यह होती है कि सरकार को बार बार मनुष्य गणना करानी पड़ती है। क्योंकि आबादी घटती बढ़ती रहती है। विशेष कर आधुनिक मशीन युग में मामूली जगहो पर चन्द वर्षों मे ही शहर बस जाया करते है। मनुष्य गणना एक महँगी चीज़ है। इसमें सरकार को लाखों रुपया खर्च करना पड़ता है। लेकिन सरकार को इसे करना ही पड़ता है। हमारे देश में हर १० वर्ष के बाद मनुष्य गणना होती है। अगली मनुष्य गणना १९४१ ई० में होगी। मनुष्य गणना का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को है। कोई व्यक्ति अथवा प्रान्तीय सरकार इसे नहीं कर सकती।

निर्वाचन नियम

निर्वाचन क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुनने के कई तरीक़े हैं। एक तो यह कि हर निर्वाचन क्षेत्र से एक व्यक्ति प्रतिनिधि के रूप मे चुन लिया जाय। इससे सुविधा यह होगी कि जितने प्रतिनिधि चुनने हो उतने ही निर्वाचन क्षेत्रो मे देश को बाँट दिया जाय। इस तरीके को 'एक निर्वाचन प्रथा' (Single District System) कहते हैं। यह प्रथा सबसे अच्छी समझी जाती है। इङ्गलैंड में इसी प्रकार से निर्वाचन होता है। लेकिन किसी किसी निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक प्रतिनिधि भी चुन लिये जाते हैं। फ्रांस मे कुछ दिनो तक 'एक निर्वाचन प्रथा' का रवाज़ था लेकिन आज कल नहीं है। इस प्रथा का प्रचार भारतवर्ष में भी नही है। इसमे कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराइयाँ भी हैं। सबसे बड़ी ख़ूबी तो यह है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र की भलाई के लिये पूरा पूरा ज़िम्मेवार होता है। उसका

कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता। अपने निर्वाचन क्षेत्र की आवश्यकताओं को व्यवस्थापिका सभा में रखने के लिये वह एक मात्र जिम्मेवार होता है। वह अपने निर्वाचन क्षेत्र को भली भाँति जानता है और वहाँ की जनता भी उस पर नज़र लगाये रहती है। यदि एक ही निर्वाचन क्षेत्र से दो या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो यह ज़िम्मेवारी सब मे बँट जाती है, और इस दशा मे कोई भी पूरी ज़िम्मेवारी लेने के लिये तैयार नहीं हो सकता। दूसरा लाभ यह है कि एक प्रतिनिधि होने से निर्वाचन क्षेत्र का बच्चा बच्चा उसे जानता है। वह वहीं का निवासी होने के नाते सबसे भली भाँति परिचित होता है। एक तीसरा लाभ इस प्रथा से यह है कि निर्वाचन क्षेत्र में अनेक दल बन्दियाँ नहीं होने पाती हैं। जब एक ही प्रतिनिधि का चुनाव है तो अधिक से अधिक दो दल हो सकते हैं। एक उसके पक्ष में और दूसरा विपक्ष मे। चौथा लाभ यह है कि निर्वाचन में काफी आसानी होती है। अल्प संख्यक लोगो को इस प्रथा से प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का अवसर मिलता है। लेकिन 'एक निर्वाचित प्रथा' से कुछ ऐसी हानियाँ भी हैं जिनकी वजह से यह प्रथा सर्वमान्य नहीं है। एक तो आबादी सदैव घटती बढ़ती रहती है। इसलिये हर चुनाव के अवसर पर सरकार को जनसंख्या की गणना करानी होगी, जो कि कठिन और साथ ही बेकार भी है। वोट लेने के नाते प्रतिनिधि अपने ही निर्वाचन क्षेत्र की भलाई चाहते रहते हैं। उन्हें समूचे देश की भलाई का ध्यान कम होता है। तीसरी बुराई यह है कि यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र में दो योग्य व्यक्ति हो और जनता दोनो को चुन कर भेजना चाहती हो तो वह नहीं भेज सकती। इतनी कमी होते हुये भी 'एक निर्वाचित प्रथा' सबसे सरल और उत्तम है। प्रत्येक देश मे इसकी नक़ल होनी चाहिये।

निर्वाचन का दूसरा नियम 'बहुनिर्वाचन प्रथा (General Ticket method) कहलाता है। यह पहली प्रथा के विरुद्ध इस बात का पक्षपाती है कि हर निर्वाचन क्षेत्र से कई प्रतिनिधि चुने जाने चाहिये। एक एक प्रतिनिधि के लिये अलग अलग निर्वाचन क्षेत्र बनाना बेकार की परेशानी है। थोड़े से निर्वाचन क्षेत्रो में सम्पूर्ण देश को बाँट दिया जाय और जितने प्रतिनिधि चुनने हों

उनको हर क्षेत्र से आबादी के लिहाज़ से चुन लिया जाय। इसमें परेशानी भी कम है और मतदाताओं को कोई घाटा भी नहीं है। लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रथा से हर एक निर्वाचन क्षेत्र में दलबन्दियों की भरमार लग जायगी। कोई भी प्रतिनिधि अपने निर्वाचन क्षेत्र को 'अपना' नहीं कह सकता। साथ ही यदि कोई पार्टी काफी मज़बूत है तो सारे प्रतिनिधि उसी के दल के चुन लिये जा सकते हैं, बाकी लोगों को मुँह ताकना पड़ेगा। जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि हर प्रथा में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों रहती हैं। संसार के अधिकतर देश 'बहु-निर्वाचन प्रथा' को ही मानते हैं।

मत कैसे देना चाहिये

हर चीज़ का एक ढंग होता है। मत लेने के कई तरीक़े होते हैं। प्राचीन काल में भी राजा लोग प्रजा का मत लिया करते थे। प्रजा किसी जगह इकट्ठी होती थी। हर बात पर वह चिल्ला कर 'हाँ' या 'नहीं' कहती थी। धीरे धीरे इसमें सुधार हुआ और फिर हाथ उठाने की प्रथा चली। जो लोग किसी बात के पक्ष में होते वे हाथ ऊपर को उठाते थे। जो इसके विपक्षी होते वे हाथ नहीं उठाते थे। आगे चल कर कुछ निशान मुकर्रर किये गये जिससे लोगों का मत ले लिया जाता था। बाद में, जो कि बहुत हाल का तरीका है. लिखकर मत लेने की प्रथा चली। जहाँ मत लिया जाता था वहाँ एक काग़ज पर मतदाता से यह लिखवाया जाता था कि वह अपना वोट किस व्यक्ति को देना चाहता है। दोनों पक्ष के लोग अपना अपना नाम लिखवाने की कोशिश करते थे। इससे कभी कभी झगड़े और ख़ून ख़राबियाँ तक हो जाती थीं। उन्नीसवीं सदी के अन्त मे छिपे वोट (Secret Vote or Secret Ballot) की प्रथा चली। यह तरीक़ा सबसे नवीन और सबसे सुविधा जनक है। इससे यह कोई भी नहीं जान सकता कि मतदाता अपना मत किसको दे रहा है।

हर निर्वाचन क्षेत्र में दो चार जगहों पर निर्वाचन केन्द्र नियत कर दिये जाते हैं। निर्वाचन की तिथि और ठीक ठीक समय का समूचे क्षेत्र में हफ्तो पहले एलान कर दिया जाता है। हमारे देश में डुग्गी द्वारा यह एलान किया जाता है। हर निर्वाचन केन्द्र पर

मतदाताओं के नाम का एक रजिस्टर रक्खा रहता है ताकि कोई भूठा व्यक्ति मताधिकारी न बन जाय। निर्वाचन केन्द्र पर एक लोहे वा लकड़ी का बक्स रक्खा रहता है जिसका ताला बिलकुल बन्द रहता है। हर निर्वाचन केन्द्र पर एक ऐसा व्यक्ति सरकार की ओर से नियुक्त किया जाता है जो बक्स की निगरानी करता है और किसी तरह की बेजा बात नहीं होने देता। यह व्यक्ति रिटर्निङ्ग आफिसर (Returning Officer) कहलाता है। मतदाता लोग आते हैं। उनको एक एक करके बक्स के पास बुलाया जाता है। वहाँ पर उनके हाथ में एक छपा हुआ कार्ड दिया जाता है जिस पर उन सब व्यक्तियों का नाम छपा रहता है जो प्रतिनिधित्व के लिये खड़े हुये रहते हैं। मतदाता चुपके से लाल स्याही से उस व्यक्ति के नाम के आगे निशान कर देता है, जिसे वह अपना वोट देना चाहता है। फिर वह उस कार्ड को बक्स में ऊपर से डाल देता है। कोई भी यह देख नहीं सकता कि मतदाता ने किसको वोट दिया है। जब निश्चित समय खतम हो जाता है तो कोई भी वोट नहीं दे सकता। इसके बाद रिटर्निङ्ग आफिसर कुछ और व्यक्तियों के साथ, जो सरकार की ओर से निश्चित रहते हैं, वोट को गिनता है। और सरकार को उसका नतीजा बतला दिया जाता है। इस नये तरीके का रवाज लगभग सभी देशों मे है। हमारे देश में भी सभी निर्वाचनो में यही तरीका अमल में लाया जाता है। जिन्हें सबसे अधिक वोट मिलते हैं वे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं।

स्वतन्त्र मत

मतदाताओ को यह पूरी स्वतन्त्रता है कि वे जिसे चाहे अपना मत दें। कोई उन पर किसी भी तरह का दबाव नहीं डाल सकता। मतदाताओ पर मत के लिये बेजा दबाव डालना एक बहुत बड़ा जुर्म माना जाता है। यदि सरकार को इसका पता चल जाता है तो वह दबाव डालने वाले को बड़ी सख्त सजा देती है। जिस प्रकार मतदाता अपना प्रतिनिधि चुनने में स्वतन्त्र है उसी तरह उसे यह भी स्वनन्त्रता दी गई है कि चाहे तो वह अपना वोट दे और चाहे तो न दे। कोई भी व्यक्ति किसी मतदाता को जबरदस्ती निर्वाचन केन्द्र पर नहीं ला सकता। निर्वाचन केन्द्र पर आकर भी कोई मतदाता यह कह सकता है कि वह अपना वोट किसी को भी नहीं

देना चाहता। कुछ विद्वानों का मत है कि सरकार को यह आवश्यक नियम बना देना चाहिये कि मतदाता को अपना मत देना पड़ेगा। लेकिन यह बात नागरिक स्वतन्त्रता के सर्वथा विरुद्ध है। संसार के बहुत कम देशों में नागरिक को अपना मत देने के लिये बाध्य किया जाता है। स्पेन और बेल्जियम में प्रत्येक मतदाता को मजबूरन अपना मत देना पड़ता है। जो मतदाता अपना मत नहीं देते उन्हें सरकार दंड देती है। लेकिन यह बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। मतदाता का स्वयं यह कर्तव्य है कि वह अपने अधिकारों को समझे और उनका उपयोग करे। लेकिन कोई सरकार इसके लिये उन्हें दंड नहीं दे सकती।

स्त्रियाँ और मताधिकार

"राजनीति में स्त्रियाँ अछूत हैं,"—बहुत दिनों तक लोगों का यही मत रहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक लोगों का यह विचार था कि स्त्रियों के राजनीति में आने से राजनीति तो गन्दी हो ही जायगी, साथ ही घर भी नष्ट हो जायगा। स्त्रियो का काम घर का प्रबन्ध करना है न कि राजनैतिक क्षेत्र मे लड़ाई लड़ना। १८६९ ई० में जान स्टुअर्ट मिल ने एक पुस्तक (The Subjection of women) लिख कर यह भविष्य वाणी की थी कि 'एक ही पीढ़ी के अन्दर वह ज़माना आने वाला है जबकि स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह राजनीति मे भाग लेगी।' यह भविष्य वाणी काफी अंश तक सची निकली। सबसे पहले आस्ट्रेलिया में स्त्रियो को मताधिकार मिला। इसके बाद इङ्गलैंड आदि देशों में वह फैला। संसार में शायद ही कोई सभ्य देश होगा जहाँ स्त्रियों को मताधिकार न मिला हो। जो लोग इसके पक्ष में हैं उनका यह कहना है कि राज्य मे स्त्री और पुरुष दोनो रहते हैं। इसलिये समानता के आधार पर किसी को एक अधिकार से वंचित रखना सर्वथा अनुचित है। स्त्रियाँ अपनी भलाई जितना स्वय कर सकती हैं उतना पुरुष नहीं। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद के युग में देश की आधी जनता को राजनीति से एक दम अछूत समझना अन्याय नहीं तो और क्या है? जबकि स्त्रियाँ भी उसी प्रकार सुशिक्षिता हैं जैसे पुरुष, तो क्यों एक को अपना विचार प्रकट करने का अवसर नहीं दिया जाता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजनैतिक, धार्मिक

अथवा सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों से कम कुशल नहीं रही हैं। रजिया बेगम, चाँद बीबी, विक्टोरिया, एलिज़ाबेथ आदि स्त्रियों ने जो संसार के सामने अपनी कार्य कुशलता और वीरता का परिचय दिया है वह किसी भी असाधारण पुरुष से कम नही है। जिन देशो मे स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त है वे देश दुनिया में किसी से पिछड़े नहीं हैं। स्त्री जाति के नाते अधिकार से वंचित कर देना निरी अज्ञानता है। यही नहीं, बल्कि स्त्रियो के आगमन से राजनीति अधिक शुद्ध और सुव्यवस्थित रह सकेगी। जबकि पुरुष जाति का एक मामूली मजदूर वोट दे सकता है तो कोई वजह नहीं है कि एक योग्य पढ़ी लिखी स्त्री इस अधिकार से वंचित रक्खी जाय।

स्त्रियों के मताधिकार के विरोध में काफी सबूत पेश किये जाते हैं। पहला तो यह कि पुरुष का क्षेत्र बाहर है और स्त्री का घर के अन्दर (Men for the field women for the hearth) कार्य का विभाजन कोई बुरी चीज़ नहीं है। राजनीति गुण्डों का एक घर है (Politics is a game of the scoundrels) बिचारी भोली भाली स्त्रियाँ उसके अन्दर आकर कौन सा लाभ उठा सकेंगी। पुरुषों की बहादुरी और उनके अच्छे कारनामे इस बात के सुबूत है कि उनका जन्म किसी योग्य स्त्री ने दिया था। माताओ की ज़िम्मेवारी यह कम नही है कि वे घर को सँभाल सकें। इससे अधिक अधिकार और क्या हो सकता है कि कोई स्त्री अपने घर को जैसा चाहे बना सकती है। यूरप की लहर कोई बड़ी कारगर सिद्ध न होगी। कुछ लोग यह कहते हैं कि वोट देने का अधिकार उन्ही को मिलना चाहिये जो लड़ाई में तलवार उठा सकें। स्त्रियाँ स्वभाव से ही कोमल होती हैं, वे फौज में काम नहीं कर सकतीं। इसलिये उन्हे वोट माँगने का कोई अधिकार नही है।

किसी भी विषय पर दलीलो को कमी नहीं हो सकती। इतना ज़रूर है कि स्त्री पुरुषो मे कार्य की दृष्टि से अन्तर ज़रूर किया जा सकता है, लेकिन जहाँ अधिकार का प्रश्न है वहाँ हम दोनों को एक ही समान समझें। जिन देशों मे स्त्रियो को सामाजिक और राजनैतिक दोनो अधिकार प्राप्त हैं वे देश काफी उन्नति शील हैं। हर आदमी को चाहे वह स्त्री हो वा पुरुष इस बात का अवसर

मिलना चाहिये कि सभी क्षेत्रों में वह अपनी शक्ति की परीक्षा कर सके। यदि स्त्रियो को राजनीति अनुचित मालूम होगी तो वे स्वयं उसे छोड़ देंगी। एक जमाना ऐसा भी था जबकि स्त्रियो को शिक्षा देना भी गुनाह समझा जाता था। लेकिन तजुर्बे के बाद यह मालूम हुआ कि बात ग़लत थी। स्त्री और पुरुषों में किसी प्रकार के होड़ की आवश्यकता नही है। समाज का कल्याण दोनों के सम्मिलन से ही हो सकता है।

अल्प संख्यक और निर्वाचन

निर्वाचन में चाहे कितनी भी कोशिश की जाय दल बन्दी को कोई भी नहीं रोक सकता। नतीजा यह होता है कि जो दल मज़बूत होता है उसी दल के व्यक्ति अधिक तादाद मे प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं। दलबन्दी का मर्ज़ इतना ख़राब होता है कि अच्छा से अच्छा उम्मीदवार हरा दिया जाता है और उसके स्थान में अयोग्य व्यक्ति चुन लिया जाता है। दलबन्दी कई प्रकार से बनाई जाती है। इसका विस्तृत वर्णन बारहवें अध्याय मे किया जायगा। कभी कभी इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया जाता है। अर्थात् जो सम्प्रदाय सबसे मज़बूत है और जिसकी संख्या अधिक है उसकी पार्टी भी मज़बूत होती है। ऐसी दशा मे जिस सम्प्रदाय में थोड़े से लोग होते हैं उनकी पार्टी एक दम कमज़ोर होती है। जब कभी किसी मामले मे मत लिया जाता है तो बहुसंख्यक सम्प्रदाय की ही विजय होती है। साम्प्रदायिक मामला भी बड़ा टेढ़ा होता है। जिन्होने हिन्दू और मुसलमानो के झगड़ों को देखा है तथा अरब और यहूदियों की लड़ाई का ज़िक्र सुना है वे इस बात को समझ सकते हैं कि किस प्रकार एक सम्प्रदाय दूसरे को उठाकर फेंक देना चाहता है। राजनीति एक ऐसी चीज़ है जिसमें सबको हिस्सा मिलना चाहिये। वे लोग भी जो किसी छोटे से छोटे सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं राजनीति में उतने ही हकदार हैं जितने बड़े से बड़े गिरोह वाले। लेकिन यदि दोनों को बराबर मैदान मे छोड़ दिया जाय तो छोटी पार्टी कभी भी विजय नहीं प्राप्त कर सकती। इसी छोटे सम्प्रदाय वा समुदाय की समस्या को अल्प संख्यक समस्या (minority problem) कहते हैं। इन्हीं के निर्वाचन को अल्पसंख्यक निर्वाचन (minority representation) कहते हैं।

प्रश्न यह है कि इन मजबूत दलों के मुक़ाबिले में कौन सी ऐसी तरक़ीब निकाली जाय कि कमज़ोर दल वालों को भी धारा सभाओं मे अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिल सके। लोगो ने बहुत सी तरक़ीबें सोची हैं। उन सबका वर्णन करना किसी भी दृष्टि से यहाँ उचित न होगा। केवल दो तरीको पर ही विचार करना अच्छा होगा। ये ही दोनों तरीके आम तौर पर काम में लाये जाते हैं। बाक़ी महज़ किताबों के अन्दर बन्द हैं। इनमें से एक को "समानुपाती निर्वाचन (Proportional Representation) या हेयर प्रथा (Hare System) कहते हैं। दूसरे को निहित निर्वाचित (Reservation of Seats) कहते हैं। 'समानुपाती निर्वाचन' का अर्थ यह है कि हर सम्प्रदाय वा गिरोह को उसकी संख्या के अनुसार यह बतला दिया जाय कि उसे इतने प्रतिनिधि भेजने हैं। इससे सभी गिरोह अपने प्रतिनिधि भी भेज सकेंगे और किसी को कोई शिकायत भी नही रह जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि अल्प संख्यक गिरोह भी अपना उचित स्थान व्यवस्थापिका सभाओं में पा सकेगा। इस तरीके को पहले पहल थामस हेयर (Thomas Hare) साहब ने सन् १८५१ ई० में निकाला था। उन्हीं के नाम पर इसे हेयर प्रथा कहते हैं। यह तरीका बहुत से देशो में प्रचलित है। अब तक जितने तरीके अल्प सख्यक निर्वाचन के लिये निकाले गये हैं उनमे 'समानुपाती निर्वाचन सब से श्रेष्ठ है। अल्प संख्यक निर्वाचन का दूसरा तरीका 'निहित निर्वाचन' (Reservation of Seats) कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि धारा सभाओ मे अल्प सख्यक गिरोहों के प्रतिनिधियों के लिये सीटे निश्चित कर दी जायँ। अर्थात् यह बात निर्वाचन से पहले ही तय हो जाय कि अमुक गिरोह के इतने प्रतिनिधि धारा सभा में ज़रूर भेजे जायँ। इससे छोटे गिरोहों को यह भय नहीं रहेगा कि बड़े बड़े दल उन्हे दबा कर निर्वाचन में हरा देंगे। यह तरीका 'शान्ति सभा' (League of Nations) ने पहले पहल मध्य यूरप की रियासतो मे प्रयोग किया था। हमारे देश मे साम्प्रदायिक समस्याओ को सुलझाने के लिये और अल्प संख्यक गिरोह की रक्षा के लिये 'निहित

निर्वाचन' का प्रयोग किया गया है। १९३५ के नये शासन विधान मे यह तरीका काम में लाया गया है।

निर्वाचन दो प्रकार से होता है। एक तो यह कि मताधिकारियों को यह अधिकार है कि वे सीधे अपना प्रतिनिधि चुन सके। यह तरीका आमतौर से लगभग सभी देशो मे प्रचलित है। मताधिकारी स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार उम्मीद्वारों को वोट देते हैं और जिन्हे सबसे अधिक वोट मिलता है वे प्रतिनिधि कहे जाते हैं। हमारे देश मे इसी तरीके का रवाज है।

द्वै निर्वाचन
Indirect
Election

लेकिन मिश्र, टर्की, ईराक तथा कुछ अन्य देशों में द्वै निर्वाचन की प्रथा प्रचलित है। मताधिकारी अपने निर्वाचन क्षेत्र मे कुछ व्यक्तियों को चुन लेते हैं। और ये चुने हुए व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते हैं। अमेरिका और फ्रांस मे कुछ दिनों तक इस प्रथा का तजुरबा किया गया था, लेकिन बाद में इसका परित्याग कर दिया गया। जहाँ द्वै निर्वाचन की प्रथा प्रचलित है वहाँ निर्वाचन दो बार होता है। एक तो वह जो मताधिकारी ४०, ५०, या १०० खास व्यक्तियो को चुन लेते हैं। फिर दूसरे निर्वाचन मे या चुने हुए व्यक्ति प्रतिनिधियों को चुनते है। इसीलिये इसे द्वै निर्वाचन प्रथा कहते हैं। रूस मे आज भी यह प्रथा प्रचलित है। अमेरिका का प्रेसीडेन्ट इसी द्वै निर्वाचन पद्धति से चुना जाता है। जिन्हें प्रेसीडेन्ट को चुनने का अधिकार है वे पहले अपने ही मे से एक गिरोह (Electoral College) चुन लेते हैं। और फिर यह गिरोह प्रेसीडेन्ट को चुनता है। प्रश्न यह है कि इन दोनो मे कौन सबसे अच्छा है। सीधे निर्वाचन की प्रथा सबसे अच्छी मानी जाती है। इससे मताधिकारी राजनैतिक शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं। साथ ही वे प्रतिनिधिओ को व्यक्तिगत रूप से जानने लगते हैं। उन्हे यह शौक होता है कि अपनी इच्छा के अनुसार वे अपने प्रतिनिधि चुने। लेकिन इसमे एक खास कमज़ोरी भी होती है। हम यह आशा नही कर सकते कि सभी मताधिकारी योग्य प्रतिनिधियो को ही चुनेंगे। आम जनता की दृष्टि उतनी तीव्र नहीं हो सकती जितनी थोड़े से चुने हुए लोगो की। यहाँ पर द्वै निर्वाचन प्रथा

का उपयोग उचित मालूम पड़ता है। मताधिकारियों में बहुत थोड़े लोग ऐसे होते हैं जो जनता के वास्तविक हित को पहचान सकें। यदि वे सभी मिलकर थोड़े से योग्य व्यक्तियों को चुन लें तो ये चुने हुये व्यक्ति अच्छे से अच्छे प्रतिनिधि चुन सकते हैं। यहाँ पर एक बात की दिक्कत ज़रूर रह जायगी कि मताधिकारियों और चुने हुये व्यक्तियों का एक ही दृष्टिकोण न हो। मुमकिन हो एक किसी और को अपना प्रतिनिधि चुनना चाहता हो और दूसरा किसी और को। चाहे इन दोनों में कोई भी अच्छी हो, द्वै निर्वाचन प्रथा बहुत कम देशों में पाई जाती है।

मताधिकारियों द्वारा निर्वाचित व्यक्ति प्रतिनिधि कहलाता है।

प्रतिनिधि

जिस प्रकार मताधिकार सबको नहीं मिल सकता और इसके लिये कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं उसी तरह सभी व्यक्ति प्रतिनिधि के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकते। सबसे पहली शर्त तो यह है कि प्रतिनिधि को स्वयं मताधिकारी होना चाहिए। कोई भी व्यक्ति मताधिकारी तब तक नहीं बन सकता जब तक कि वह नागरिक न हो। इसलिये प्रतिनिधि के लिये नागरिक होना आवश्यक है। कोई विदेशी प्रतिनिधि के लिये उम्मीदवार नहीं हो सकता। यद्यपि प्रतिनिधियों की कैद हर मुल्क मे अलग अलग होती है फिर भी चन्द बातें ऐसी हैं जो सब जगह एक सी पाई जाती हैं। एक ही देश में विभिन्न धारा सभाओ के लिये भिन्न भिन्न शर्तें होती हैं। नागरिकता के अतिरिक्त प्रतिनिधि के लिये किसी खास उम्र से अधिक होना पड़ता है। यह उम्र नागरिक की साधारण उम्र से कुछ अधिक होती है। आम तौर से बड़ी सभा के लिये कुछ अधिक उम्र रक्खी जाती है। हमारे देश मे केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा सभाओं में बड़ी और छोटी सभा के लिये क्रमशः ३० और २५ वर्ष की आयु कम से कम होनी चाहिये। प्रतिनिधि के लिये कम से कम एक निश्चित दर्जे तक सम्पत्ति की भी आवश्यकता होती है। उम्र का बन्धन तो इस लिये लगाया गया है कि केवल तजुरबेकार व्यक्तियों को ही धारा सभाओं में जाना चाहिये। सम्पत्ति की रुकावट इसलिये रक्खी गई है कि प्रतिनिधि समझ बूझ कर दीवानी क़ानून बनायेगा,

क्योंकि उसके पास स्वयं जायदाद है। लेकिन सम्पत्ति का बन्धन किसी हद तक अनुचित भी है। इससे योग्य से योग्य व्यक्ति, जिसके पास संयोगवश सम्पत्ति नहीं है, प्रतिनिधि नहीं बन सकता। यदि सामाजिक व्यवस्था ने उसे धन से रहित कर रक्खा है तो राजनैतिक व्यवस्था को उसे अधिकार और सुअवसर से वञ्चित नहीं करना चाहिये।

कुछ ऐसे भी नियम बनाये गये हैं जिनसे मजबूर होकर बहुत से व्यक्ति प्रतिनिधि नहीं बन सकते। इङ्गलैंड में न्याय विभाग में काम करने वाले न्यायाधीश कामन्स सभा का प्रतिनिधि नहीं बन सकते। हमारे देश में सरकारी विभाग में काम करने वाला कोई भी व्यक्ति किसी धारा सभा का सदस्य नहीं हो सकता। यहाँ तक कि सरकारी वकील भी किसी धारा सभा का सदस्य नहीं बन सकता। मंत्रिमंडल के सदस्य, चाहे वे प्रान्त में हों अथवा केन्द्र में, धारा सभा के सदस्य हो सकते हैं। यद्यपि वे भी एक प्रकार से सरकारी नौकर हैं और सरकार से तनख्वाह पाते हैं, फिर भी वे धारा सभा के सदस्य बन सकते हैं। यदि किसी प्रतिनिधि के विषय में यह पता चल जाय कि उसने न्याय विरुद्ध तरीके से प्रतिनिधित्व हासिल कर लिया है तो वह प्रतिनिधि नहीं रह सकता। प्रतिनिधित्व में धर्म भी कहीं कहीं पर बाधक ठहराया गया है। स्थायी चर्च के मन्त्री (Ministers of the established Churches) कामन सभा का सदस्य नहीं बन सकते। हमारे यहाँ भी मजहब के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये गये हैं। किसी एक मजहबी निर्वाचन क्षेत्र से दूसरे मजहब का उम्मीदवार प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि हर प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन क्षेत्र से कुछ खास सलाहें (Instructions) मिलनी चाहिये। मताधिकारी इस बात का ध्यान रक्खें कि प्रतिनिधि उन सलाहो को पूरा करता है या नहीं। यदि वह इन्हें पूरा नहीं करता है तो मताधिकारियों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे उसे वापिस बुला ले और उसकी जगह दूसरा प्रतिनिधि भेज सकें। इस वसूल की आलोचना बड़े कड़े शब्दो मे की गई है। आस्टिन का कहना है कि प्रतिनिधि जनता के ट्रस्टी हैं। मताधिकारियों

को यह कतई अधिकार नहीं है कि वे प्रतिनिधि को वापिस बुला सके। यदि वे उससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो अगले निर्वाचन में उसे मत देने से इनकार कर सकते हैं। प्रतिनिधि के विरुद्ध किसी भी तरह की कानूनी कार्रवाई करने का अधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। प्रतिनिधि और मताधिकारी इन दोनो के दृष्टिकोण और कार्यक्रम मे अन्तर पड़ना लाजमी है। एक का ध्यान केवल अपने हीं निर्वाचन क्षेत्र मे सीमित रहता है, परन्तु प्रतिनिधि को समूचे देश की भलाई के साथ साथ काम करना पड़ता है। यदि प्रतिनिधियों को मताधिकारियो की ही इच्छा के अनुसार चलना पड़े तो अच्छा हो वे अपना कोई मामूली नोकर धारा सभाओं में भेज दें, ताकि वह उनका हुकुम बजाता रहे। योग्य और प्रतिष्ठित व्यक्ति कतई प्रतिनिधि बनना स्वीकार नहीं कर सकते। यह बात आम जनता की शक्ति से बाहर है कि वह हर कानून पर अपने प्रतिनिधि को मुनासिब और ठीक ठीक सलाह दे सके। यह हर शख्स स्वीकार कर सकता है कि प्रतिनिधि मताधिकारी से कहीं योग्य और काबिल होता है। वह मताधिकारी से सलाह लेने के बजाय उल्टे उसे सलाह दे सकता है। वह धारा सभा मे उसका हुक्म बजाने नहीं जाता बल्कि उनकी तकलीफे दूर करने के लिये जाता है। संघ शासन मे यह नियम किसी क़द्र कारगर हो सकता है। वहाँ पर केन्द्रीय धारा सभा मे रियासतों के चुने हुये प्रतिनिधि आते है। उन्हें अपनी पूरी रियासत की भलाई का ध्यान रखना होता है। ऐसी दशा में उनकी सरकार उन्हे चन्द सलाहे दे सकती है जिनका पालन करना प्रतिनिधि के लिये लाजमी हो सकता है। इस अवसर पर हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये वह रियासत का नुमाइन्दा प्रतिनिधि नहीं बल्कि एक प्रकार का राजदूत (Ambassador) है।

मध्य काल में जर्मन साम्राज्य में यह नियम काफी अर्से तक जारी था। उस समय जर्मनी सैकड़ो छोटी छोटी रियासतो में बँटा हुआ था। हर रियासत के प्रतिनिधि को चन्द सलाहे दी जाती थी, जिनका उसे पालन करना पड़ता था। आधुनिक युग मे कोई भी देश इसे पसन्द नहीं करता। यहाँ तक कि संघ शासन में भी इसका रवाज नहीं है। अमेरिका तक में यह रवाज नहीं माना जाता।

मौजूदा प्रजातन्त्रवादी राज्यों में प्रतिनिधियों पर इतना कड़ा बन्धन लगाना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता।

सम्मिलित और पृथक् निर्वाचन
Joint and separate electorate

जिन देशों मे कई सम्प्रदाय हैं वहाँ पर एक बहुत बड़ी समस्या है कि निर्वाचन की क्या विधि हो। क्या जनसंख्या के अनुसार निर्वाचन क्षेत्र बना कर प्रतिनिधि चुन लिये जायँ और साम्प्रदायिक प्रश्नों को उठा कर ताख पर रख दिया जाय अथवा हर सम्प्रदाय को अलग अलग प्रतिनिधित्व दे दिया जाय। हम अपने ही देश को उदाहरण के तौर पर पेश करते हैं। यहाँ पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी इत्यादि इत्यादि मजहबी सम्प्रदाय हैं। हर एक बुद्धिमान आदमी यह कह सकता है कि जब तक ये सम्प्रदाय आपस मे मिल न जायेंगे तब तक हिन्दोस्तान एक राष्ट्र नहीं बन सकता। आपस में मिलने का तात्पर्य यह नहीं है कि एक की हस्ती मिट जाय। बल्कि सभी सम्प्रदायो का उद्देश्य मुल्क की तरक्की और बहबूदी हो जाय। हर सम्प्रदाय पहले देश का भला सोचे फिर पीछे अपनी जमात का। क्योंकि यदि देश रसातल को जायगा तो एक टुकड़े की रक्षा नहीं हो सकती। अब सवाल यह है कि देश को एक राष्ट्र बनाने के लिये निर्वाचन कहाँ तक सहायक हो सकता है। यदि हम इस प्रश्न को हल कर दे तो यह बात साफ हो जायगी कि सम्मिलित निर्वाचन अच्छा है अथवा पृथक् निर्वाचन।

पृथक् निर्वाचन का अर्थ यह है कि हर सम्प्रदाय को अलग अलग प्रतिनिधि चुनने का अधिकार हो। अर्थात् हिन्दू अपना अलग प्रतिनिधि चुने, मुसलमान अलग और सिख अलग इत्यादि इत्यादि। इसका नतीजा यह होगा कि धारा सभाओ में भी इसी साम्प्रदायिक आधार पर दल बन्दियाँ होंगी। हिन्दू अपने मन्दिर के लिये लड़ेगे और कहते फिरेंगे कि "गाय ख़तरे में" और मुसलमान अपनी मसजिद पर जान देने के लिये तैयार रहेंगे। सारे देश की बेहतरी सोचने वाला एक भी व्यक्ति वा सम्प्रदाय धारा सभा में न रहेगा। इस ख़ुदगर्ज़ी की रस्सा कशी मे पड़कर मुल्क हज़ारो वर्ष तक ग़ुलाम रहेगा और कभी भी एक सुसंगठित

राष्ट्र नहीं बन पायेगा। इसीलिये हमारे देश के लिये पृथक् निर्वाचन अफीम और शराब से भी खतरनाक है।

सम्मिलित निर्वाचन का तात्पर्य यह है कि सबको एक साथ निर्वाचन का अधिकार दिया जाय। अर्थात् निर्वाचन क्षेत्र बना दिये जायें। उनकी आबादी के अनुसार प्रतिनिधि चुन लिये जायें। किसी सम्प्रदाय के मताधिकारी या प्रतिनिधि को अलग न रक्खा जाय। सभी सम्प्रदाय वाले एक साथ मिलकर जिसे चाहे अपना प्रतिनिधि चुने। उन्हें अलग अलग प्रतिनिधि भेजने की आवश्यकता नहीं है। यह तरीका हमारे देश के लिये सबसे अच्छा होगा। साम्प्रदायिक प्रश्न दूर हो जायगा। लोग अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यो न हो, अपना प्रतिनिधि चुनेंगे। मजहबी मामले राजनीति में नहीं घुसने पायेंगे, और सिद्धान्त के आधार पर राजनैतिक दल बंदिया होंगी, जो प्रजातन्त्र वाद मे स्वाभाविक और आवश्यक है। इससे देश मे राष्ट्रीयता की वृद्धि होगी और सच्ची राजनैतिक भावना की लहर में साम्प्रदायिकता अपने आप बह जायेगी। हमारे ही देश मे नहीं, बल्कि कहीं भी पृथक् निर्वाचन हर पहलू से खतरनाक है।

अध्याय १२

मित्र मंडल (Party System)

मित्र मडल का अर्थ—विभिन्न मित्र मंडल—मित्र मंडल के उद्देश्य—मित्र मंडल की उत्पत्ति—मित्र मंडल की वृद्धि—मित्र मंडल से लाभ और हानि—मित्र मंडल और प्रजा तन्त्रवाद—मित्र मंडल और तानाशाही—आधुनिक मित्र मडल प्रथा—इङ्गलैंड अमेरिका—हिन्दोस्तान ॥

कोई भी ऐसा व्यक्ति न होगा जिसके दो चार मित्र न हों।

मित्र मडल का अर्थ

हर आदमी किसी न किसी मित्र मंडल का सदस्य होता है। गाँव में, शहर में, स्कूल मे हर जगह मित्र मंडल होते हैं। एक ही जगह पर अलग अलग मित्र मंडलियाँ भी हुआ करती हैं। त्यौहारों-तथा उत्सवों पर लोग अपने मित्रो से मिलते जुलते हैं। पूरी की पूरी मित्र मंडली इकट्ठी होकर गाना बजाना करती है। इस तरह हम देखते हैं कि मित्र मंडल का अर्थ समझने मे किसी को भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये। ऊपर के उद्धरणों से साफ ज़ाहिर है कि हर आदमी मित्र मंडल का सदस्य ही नहीं है, बल्कि इसके लाभ और हानि से भी परिचित होता है। लेकिन अब तक जिन मित्र मंडलो का वर्णन किया गया है उनका राजनीति मे कोई हाथ नहीं होता। मित्र मंडल (Party System) एक खास अर्थ रखता है। यह मित्र मडली केवल राजनीति से सम्बन्ध रखती है। सभी प्रजातन्त्रवादी देशों मे राजनैतिक दल बन्दियाँ होती हैं। हर दल मित्र मंडल कहलाता है। इनका सिद्धान्त धार्मिक और व्यक्तिगत नहीं होता बल्कि किसी न किसी राजनैतिक वसूल पर बनता है। मित्र मंडल का तात्पर्य इसी राजनैतिक दल से है। जिन जिन देशो में इस प्रकार के मित्र मंडल हैं वहाँ प्रजा को अधिक से अधिक अधिकार दिये गये है। हर मित्र मंडल का एक खासा संगठन होता है। इसके कुछ स्थायी सदस्य होते हैं। इसका दफ्तर होता है। और सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि इसका एक

लीडर या अगुआ होता है जिसके इशारे पर उस मित्र मंडल के सभी सदस्य नाचते रहते हैं।

यदि मित्र मंडल की परिभाषा की जाय तो पता चलेगा कि वह कुछ ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो किसी खास राजनैतिक सिद्धान्त में विश्वास करता है। अथवा यों कहना चाहिये कि मित्र मंडल एक संगठित जमात है जिसका उद्देश्य सरकार को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना होता है। गिल क्राइस्ट (Gilchrist) लिखता है, "मित्र मंडल उन लोगों का एक संगठन है जो एक विचार और एक उद्देश्य रखते हैं।"*

लीकाक लिखता है, "मित्र मंडल से हमारा तात्पर्य उन नागरिकों के एक संगठन से है जो राजनीति में किसी एक सिद्धान्त पर सहमत होते हैं"†

एक तीसरी परिभाषा यह की गई है कि "मित्र मंडल कुछ नागरिकों का एक गुट होता है जो इस बात के लिये उत्सुक रहता है कि उनके राज की सारी कार्रवाई एक ख़ास ढंग पर हो।"‡

एक सज्जन ने मित्र मंडल की परिभाषा बड़े लम्बे शब्दों में की है। वे लिखते हैं, "मित्र मंडल व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जिसका दृष्टिकोण वर्तमान राजनैतिक प्रश्नो पर एक होता है और वे सभी व्यक्ति इसी लिये संगठित रहते हैं

---

* (Party means a number of people joined by common opinions on a given subject.)

† (By political party we mean a more or less organized group of citizens who act together as a political unit.)

‡ (A party is a body of citizens who agree in desiring to see the business of legislation and government carried on in a particular way.)

कि चाहे जैसे हो सरकार उन्हीं के विचारों के अनुसार अपना काम करे।"*

इससे यह साफ ज़ाहिर है कि मित्र मंडल राजनैतिक संगठन को ही कहते हैं।

विभिन्न मित्र मंडल

ऊपर कहा गया है कि मित्र मंडल राजनैतिक संगठन को ही कह सकते हैं। लेकिन इस संगठन का रूप वही होता है जो अन्य संगठनों का। गाँव तथा शहरों मे भी अलग अलग संगठन होते हैं। म्युनिसिपल बोर्ड मे भी दल बन्दियाँ रहती हैं। हर स्कूल या कालेज में अलग अलग जमातें बनती हैं। हर संगठन का कोई न कोई उद्देश्य होता है, उसका एक कार्य क्रम भी रहता है। साथ ही उसके काम करने का तरीका भी अन्य सगठनों से भिन्न होता है। हर मामले में उसकी अपनी राय होती है। हर पार्टी का एक अगुआ होता है जो अपनी पार्टी को आगे बढ़ाता है। इसी तरह मित्र मंडल भी एक राजनैतिक दल है। इसका उद्देश्य अपने हाथ में सरकार को लेना होता है। वह अपनी शक्ति को इसीलिये बढ़ाना चाहता है कि उसी के हाथ मे शासन की बागडोर आ जाय। हर मित्र मंडल अधिक से अधिक सदस्यों को अपने संगठन में शामिल करना चाहता है। सभी संगठन वा दल अपनी अपनी डींग मारते हैं। कोई भी धार्मिक संगठन अपने आपको किसी राजनैतिक संगठन से कम महत्व पूर्ण और लाभदायक नहीं समझता। और मित्र मंडलों मे तो यह बात होती है कि एक ही व्यक्ति कई का सदस्य वन सकता है। लेकिन राजनैतिक मित्र मंडल में यह बात नहीं है। हर सदस्य किसी अन्य मित्र मंडल का सदस्य नहीं बन सकता। अपने मित्र मंडल का परित्याग करके वह दूसरे मित्रमंडल में जा सकता है। राजनैतिक मित्र मंडल का उद्देश्य धारा सभाओं में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करना होता है।

---

* (A party is a body of individuals holding similar views on the leading political questions of the day united together to secure the adoption and the maintenance of those views in the conduct of government.)

प्रत्येक मित्र मंडल (political party) का एक उद्देश्य होता है। वह चाहता है कि सरकार इसी की पूर्ति करे। यह उद्देश्य कई प्रकार का हो सकता है। उद्देश्य के अलावे उनके कार्यक्रम में भी अन्तर होता है। लेकिन सभी मित्र मंडल सरकार पर ही अपनी दृष्टि लगाये रहते हैं। वे मौजूदा सरकार को बुरा ठहराने में कोई भी कसर बाक़ी नहीं रखते। लेकिन जिस मित्र मंडल के हाथ मे सरकार होती है वह इन टीका टिप्पणियों की बहुत परवाह नही करता। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि जिस सरकार की अधिक टीका होती है वह उन्नति शील होती है और जनता को अपने विचार प्रकट करने का पूरा पूरा मौक़ा देती है। एक ज़ालिम सरकार की कोई भी डर के कारण बुराई नहीं कर सकता, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह सरकार अच्छी है। हर मित्र मंडल इस बात के लिये तैयार रहता है कि अवसर पाने पर सरकार को वह अपने हाथो मे कर ले। मित्र मंडल का यह भी उद्देश्य होता है कि सरकारी महकमों मे अधिक से अधिक कर्मचारी उसी के दल के हों। अपने सदस्य को अधिक से अधिक सुविधा देना, उसकी रक्षा का प्रबन्ध करना, उसके अधिकार के लिये सरकार से लड़ना, हर मित्र मंडल का एक वसूल होता है। हर निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक मित्र मंडल अपना बहुमत चाहता है। इसके लिये वह जनता में अपने उद्देश्यों का प्रचार करता है। अपने मक़सद के लिये वह नाना प्रकार की जनता की सेवा करता है। जिन्हे किसी निर्वाचन केन्द्र पर जाने का अवसर मिला है, वे यह समझ सकते हैं कि मित्र मंडल जनता की कितनी ख़ुशामद करते हैं। मुफ्त भोजन का प्रबन्ध किया जाता है, सवारियों का इन्तज़ाम रहता है, और आगे के लिये जो बड़े बड़े आश्वासन दिये जाते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं है। कभी कभी तो मताधिकारियों को रुपये तक प्रदान किये जाते हैं। यूरप के देशो मे मित्र मंडलों की कश-मकश इतनी ज़बरदस्त है कि अपनी विजय के लिये कोई भी कसर बाकी नहीं रक्खी जाती। निर्वाचन के दिन मुफ्त हवाई जहाज़ उड़ाते जाते हैं, शहरो मे गली गली मे मोटरें घूमती रहती हैं, जो चाहे चढ़ सकता है। हर पार्टी रेल

मित्र मंडल के उद्देश्य

खरीद कर वोटरों को मुफ्त ढोती है। आखिर यह सब कुछ क्यो होता है। इन सब का यही उद्देश्य है कि किसी भी तरह से उस मित्र मंडल के हाथ मे सरकार चलाने का भार आ जाय।

मित्र मंडल की उत्पत्ति

जब तक प्रजा को यह अधिकार न था कि वह राज्य के मामले मे अपनी स्वतन्त्र राय जाहिर कर सके, तब तक मित्र मंडलों का कहीं नाम भी न था। और इसकी जरूरत भी न थी। यही नहीं, यदि राज्य मे कोई दल ऐसा खड़ा हो जाता जो सरकारी मामले में दखल देता था तो वह आततायियों का एक गिरोह समझा जाता था। राजा उसे बड़ी सख्ती के साथ छिन्न भिन्न कर देता था। मध्य काल तक मित्र मंडल का कहीं नाम भी न था। प्रजातन्त्र राज्यो मे भी, जो कि इक्के दुक्के कहीं दिखलाई पड़ते थे, इस मंडल का कहीं नामों निशान भी न था। हिन्दुस्तान प्रजातन्त्र का जन्मस्थान कहा जाता है। यहाँ का राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिये और उसकी राय सुनने के लिये हर घड़ी अपने को तैयार रखता था। फिर भी यहाँ मित्र मंडलों का कहीं नाम भी नहीं सुना जाता। कारण यह है कि उन दिनों सामाजिक सगठन का स्वरूप कुछ और ही था। व्यक्तिगत जीवन के आगे दलबन्दियो का कोई मूल्य नहीं था। जहाँगीर ऐसे महान सम्राट् ने, जिसका राज्य हिन्दोस्तान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैला हुआ था, इन मित्र मंडलों की कोई आवश्यकता न समझी। इन्साफ के लिये उसने अपने दरबार मे एक सोने की जजीर लटका रक्खी थी जिसे कोई भी आदमी जाकर खींच सकता था और अपनी गरज बादशाह के सामने पेश कर सकता था। अकबर का राज्य, जो हिन्दोस्तान मे किसी स्वर्णयुग से कम न था, मित्र मंडल का नाम तक नहीं जानता था। ख़ुद योरप में एलिजाबेथ से पहिले इन पार्टियो का कहीं ज़िक्र भी नहीं आता। उसी के समय से मित्र मडल की प्रथा चली। पहले इसका आधार केवल धार्मिक वैमनस्य था लेकिन बाद मे चल कर यह मजहबी दलबन्दी राजनैतिक दलबन्दी के रूप मे परिणत हो गई। इससे यह बात निश्चित है कि मित्र मंडल की उत्पत्ति सबसे पहिले योरप में हुई थी। इंगलैण्ड मित्र मंडल शासन का सिरताज कहलाता है। दुनिया के सभी प्रजातंत्र राज्यों

ने इसी की नक़ल की है। आज कोई भी प्रजातंत्र राज्य ऐसा नहीं है जिसमे कम से कम दो या तीन मित्रमंडल (Political Parties) न हों। प्रजातंत्र राज्य की यह एक ख़ूबी समझी जाती है कि उसमें कई मित्र मंडल हों और हरेक अपनी अपनी राय स्वतंत्र तरीक़े से देश के सामने ज़ाहिर कर सके।

मित्र मंडल की वृद्धि

विचारों में फरक पड़ना एक स्वाभाविक बात है। किसी भी मामले मे कम से कम दो रायें ज़रूर हो सकती हैं। यह भी मुमकिन है कि उस पर दो से अधिक भी राये हों। राजनैतिक मामला इतना जटिल होता है कि उस पर अनेक रायें दी जा सकती हैं। सरकार के सभी काम अलग अलग नज़रो से देखे जाते हैं। इसलिये हर राजनैतिक मामले मे कई विचार हो सकते हैं। पहिले दो ही मित्र मंडल आमतौर से हुआ करते थे। एक किसी बात के पक्ष में होता था और दूसरा विपक्ष मे। बाद में चल कर इनमे भी टुकड़े होने लगे और मित्र मंडलो की भरमार सी लग गई। इस मामले को हम काँग्रेस के मिसाल से अच्छी तरह समझ सकते हैं। काँग्रेस का उद्देश्य हिन्दोस्तान को आज़ाद करना है। फिर यह कोई वजह नहीं मालूम पड़ती कि इसमें भी टुकड़े बाजियाँ क्योंकर होती हैं। गाँधीवादी दल, समाजवादी दल, अग्रगामी दल—सबका उद्देश्य एक होते हुए भी ये अलग अलग दलबन्दियाँ कायम हैं। इसी तरह पहिले इङ्गलैंड में उदार और अनुदार दो ही दल थे। बाद में चल कर उदार दल के अन्दर एक मज़दूर दल अलग मित्रमंडल बन गया। राजनीतिज्ञो का कहना है कि अधिक से अधिक चार मित्रमंडल होने चाहिये। सबसे अच्छा तो यह है कि केवल दो ही मित्रमंडल हों। इससे पक्ष और विपक्ष दोनों की पुष्टि अच्छी तरह हो सकती है। दो से अधिक मित्रमंडल बाल की खाल निकालने के अलावे और कुछ नहीं करते। बेकार की दलबन्दियो से मुल्क को लाभ के बदले हानि होती है। छोटी छोटी बातों पर बहस मुबाहिसों की झड़ी लग जाती है और सरकार को अपना काम करने मे दिक्कत होती है। सरकार के अच्छे से अच्छे कामों की आलोचना की जाती है। ख़िलाफत दल का यह फैशन हो जाता है कि वह सरकार की किसी भी बात को चुपचाप न मान ले। आधुनिक काल मे मित्र

मंडलों की इतनी भरमार है कि कोई भी मुल्क इससे बाक़ी नहीं है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तानाशाही (Dictatorship) इन्हीं मित्र मंडलों की वृद्धि को रोकने का एक इलाज है। कोई भी तानाशाह अपने मुल्क में एक मित्र मंडल के अलावे और किसी मित्र मंडल को रहने की इजाज़त नही देता। इसके विपरीत प्रजातन्त्रराज्य मित्र मंडलों की वृद्धि के लिये अधिक से अधिक मौक़ा देता है। पाश्चात्य देशों के चन्द प्रजातन्त्र राज्यों मे ६-७ मित्र मंडल तक क़ायम हो गये हैं। सबके अलग अलग उद्देश्य हैं और उनके तरीके भी एक दूसरे से भिन्न हैं।

ऊपर कहा गया है कि अधिक से अधिक चार मित्र मंडल होने चाहिये। एक तो वह जो पूरा रूढ़िवादी हो और किसी भी तरह की तब्दीली का कट्टर दुश्मन हो। दूसरा वह जो रूढ़ीवाद को एक दम तोड़ कर आगे को बढ़ना चाहता हो। एक तीसरा दल वह हो जो इन दोनों के बीच मे हो। कुछ बातों मे वह रूढ़िवादियो का समर्थन करे और कुछ मामलो मे अग्रगामी दल वालों का। इनके अलावे एक चौथा मित्र मंडल भी हो सकता है। वह इन तीनो में से किसी से भी सहमत नहीं रह सकता। कभी वह एक का साथ देगा और कभी दूसरे का। उसका यही उद्देश्य होता है कि किसी भी दल को बेजा बढ़ने से रोके। संघ राज्यों में मित्र मंडल का कुछ और ही स्वरूप होता है। वहाँ आमतौर से दो दल हुआ करते हैं। एक तो वह जो केन्द्रीय शासन को अधिक से अधिक मजबूत बनाना चाहता है। उसका यह उद्देश्य होता है कि सम्पूर्ण राजसत्ता केन्द्रीय शासन के ही अन्तर्गत हो। दूसरा दल इसका विरोधी होता है। वह प्रान्तीयता का पक्षपाती होता है। केन्द्रीय शासन की शक्ति को वह मज़बूत नही बनाना चाहता। शक्ति के वितरण में उसका पूरा पूरा विश्वास होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मित्र मंडल का कहीं अन्त नहीं हैं।

मित्र मडल से लाभ और हानि

प्रजातंत्रवाद की सफलता के लिये मित्र मंडल एक आवश्यक चीज़ है। कहा गया है कि मित्र मंडल के बिना प्रजातंत्रवाद का अन्त हो जायेगा। हमें यह देखना है कि इन दलबन्दियो से आख़िर फायदा क्या है। पार्टी से कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानि भी।

राज्य काफी लम्बाई चौड़ाई मे फैला हुआ रहता है। हर आदमी एक दूसरे को नहीं जान सकता। लेकिन दलबन्दियो के कारण वह काफी लोगो के सहवास मे आ जाता है। और संगठनो से कोई अपने को अलग भले ही रख ले लेकिन राज्य का संगठन एक ऐसी जरूरी चीज़ है कि इसमे मजबूर होकर सबको आना पड़ता है। राज्य के संगठन और उसके कार्य्यो का असर हर व्यक्ति पर पड़ा करता है। ये विभिन्न दलबन्दियाँ इस राजनैतिक सगठन की हमे शिक्षा देती हैं। साथ ही वे अधिक से अधिक व्यक्तियो को इस बात के लिये तैयार करती हैं कि वे सरकार के सामने अपनी सच्ची माँग पेश करे। दलबन्दियो से सरकार के कार्य्यो की टीका टिप्पणी होती है। इसलिये वह डरती रहती है कि वह कोई ऐसा काम न कर बैठे, जो प्रजा के हित के विरुद्ध हो। वर्तमान राजनैतिक आवश्यकताओ को ये विभिन्न दल आम जनता को समझाने की पूरी पूरी कोशिश करते हैं। बहुत से व्यक्ति, जिन्हे राजनैतिक विपयो के अध्ययन का अवसर नही मिलता, मित्र मंडल के सहयोग से अपने मुल्क की सारी बाते जानते रहते है। पार्टियाँ स्वतंत्र विचारो को प्रतीक है। उनके कामो से मुल्क मे जीवन का सचार होता है और राजनैतिक मामलो मे काफी चहल पहल रहती है। प्रत्येक व्यक्ति का राजनैतिक व्यक्तित्व अपने मित्र मडल मे ही विकसित होता है। देश के प्रमुख राजनीतिज्ञो को मित्र मंडल ही पहचानते हैं और उन्हे अपना नेता बना कर मुल्क की भलाइ करने का अवसर देते है। मित्र मंडल और नेतृत्व दोनो साथ साथ चलते हैं। मित्र मडल हर नागरिक को इस बात की शिक्षा देते है कि वह अपने राजनैतिक अधिकारो का अधिक से अधिक उपयोग किस प्रकार कर सकता है। मित्र मंडल नागरिक की शक्ति को बढ़ाते है और रचनात्मक कार्य क्रम द्वारा इस शक्ति का उपयोग करते हैं।

जहाँ मित्र मंडल से इतने लाभ हैं, वहाँ चन्द हानियाँ भी है। इन दलबन्दियो से हम यह न समझ बैठे कि ये सभी राजनैतिक सिद्धान्तो पर ही बनाई जाती हैं। बहुत से मित्र मंडल व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण भी संगठित कर लिये जाते है। एक पार्टी दूसरी पार्टी के अच्छे से अच्छे कामो को बुरा ठहराने के लिये तैयार

रहती है। हर मित्र मंडल अपने अपने कार्य क्रम की इस क़द्र डींगें मारता है कि जनता को यह कठिन हो जाता है कि इनमें से किसे अच्छा और किसे बुरा कहे। अमेरिका मे पार्टी बन्दी का भूत इतना भयकर है कि योग्य से योग्य व्यक्ति सरकारी नौकरियो से निकाल बाहर कर दिये जाते हैं, और उनकी जगह निकम्मे आदमी भरती कर लिये जाते है। ये दलबन्दियाँ कभी कभी इतनी विकट हो जाती हैं कि ख़ून खराबे तक हो जाते हैं। उद्देश्य को भुला कर गन्दे झगड़ों मे लोग पड़ जाया करते हैं। मित्र मंडल की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि योग्य से योग्य व्यक्ति को भीगी बिल्ली की तरह उसमें काम करना पड़ता है। एक मित्र मंडल का सदस्य अपने सहकारी सदस्यो की गन्दी से गन्दी बातो का समर्थन करता है। मित्र मंडल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये जनता मे ग़लत से ग़लत बातों का प्रचार करते हैं। पार्टी मे हाँ में हाँ मिलाने की प्रथा इतनी ज़बरदस्त होती है कि अच्छे से अच्छे व्यक्तियो को अपने स्वतंत्र विचारो को स्पष्ट करने का अवसर नहीं मिलता। उन्हें पार्टी के इशारे पर ही चलना पड़ता है। मित्र मंडल ग़लत बातों को भी सही साबित करने के लिये इसलिये तैयार रहते हैं कि उनका नाम और यश होता है। मित्र मंडल का सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि पार्टी का सदस्य अपने दल के सामने देश भक्ति को कोई चीज़ नहीं समझता।

मित्र मंडल और प्रजातंत्रवाद

मित्र मंडल की उत्पत्ति प्रजातन्त्रवाद के ही अन्दर हुई है। जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, प्रजातन्त्रवाद के अन्दर जनता को यह पूरी स्वतन्त्रा दी गई है कि वह निर्भयता पूर्वक अपने विचारों को स्पष्ट करे। प्रेस को पूरी आज़ादी रहती है कि वह सभी विचारों को स्थान दे। जनता जब चाहे सभायें कर सकती है और उसमे कोई भी उचित प्रस्ताव पास कर सकती है। हर व्याख्यान-दाता को अपनी राय ज़ाहिर करने का अधिकार होता है। लेखक स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विचार व्यक्त कर सकते हैं। सरकार के बुरे कामो की हर कोई आलोचना कर सकता है। सभी कामो में जनता की राय ली जाती है। किसी किसी देश मे यह प्रजातन्त्र-वाद उस सीमा तक पहुँच गया है कि जनता के बहुमत के बिना

एक भी काम नहीं किया जा सकता। स्विटज़रलैंड इसका जीता जागता उदाहरण है। वहाँ कानून बनने के बाद भी प्रजा की राय उस पर ली जाती है। प्रजातन्त्रवाद नागरिक को पूरी स्वतंत्रता देने का पक्षपाती है। यदि हम ग़ौर से देखें तो पता चलेगा कि प्रजातंत्र-वाद के सारे उसूल मित्र मंडल में पाये जाते हैं। जिस स्वतंत्रता को प्रजातंत्रवाद एक एक व्यक्ति को देना चाहता है, उसी का संगठित रूप मित्र मंडल कहलाता है। मित्र मंडल के सारे कार्यक्रम उस मार्ग पर बनाये जाते हैं जिस पर व्यक्ति को चलना चाहिये। पार्टियाँ प्रजातंत्रवाद के अन्दर इस बात का सबूत हैं कि नागरिक को किस हद तक आज़ादी दी गई है। पार्टियो के धुआँधार प्रचार से प्रजा-तंत्रवाद हिल उठता है। उसे इस बात का भय होता है कि कहीं व्यक्ति अपनी आज़ादी का बेजा फायदा न उठाये। इतने पर भी मित्र मंडल रोके नहीं जाते। जब तक सरकार इस बात का काफी सबूत न दे दे कि अमुक मित्र मंडल नागरिक स्वतंत्रा मे बाधक है तब तक वह उसे रोक नहीं सकती। यदि प्रजातंत्रवाद के अन्दर नागरिक सचमुच स्वतंत्र है तो वह मित्रमंडल को आज़ादी के साथ अपनी आवाज़ अधिक से अधिक लोगो को सुनाने दे। यदि लेखक को सच्ची स्वतंत्रता दी गई है तो इसकी भी परीक्षा मित्रमंडलों द्वारा ही हो सकती है। अगर मित्र मंडल द्वारा प्रकाशित छोटी छोटी पुस्तिकाये ज़ब्त कर ली जाती हैं तो नागरिक स्वतंत्रता एक झूठा बहाना है। जनता अपनी इच्छा के अनुसार मित्र मंडल बनाकर अपनी आवाज़ को मज़बूत बना सकती है। एक व्यक्ति सरकार को अच्छे से अच्छे मामले में दबा नहीं सकता, लेकिन मित्र मंडल सर-कार के सामने यह साबित कर सकते हैं कि या तो वह जनता की राय को सुने अथवा अपना प्रजातंत्रवादी ढकोसला छोड़ दे। यदि किसी प्रजातंत्रवाद के अन्दर कोई मित्र मंडल नहीं है तो इसके मानी हैं कि वहाँ सच्चा प्रजातंत्रवाद नहीं है। राजनीति मे अधिक से अधिक भाग लेने का सबसे बड़ा साधन मित्र मंडल है।

मित्र मंडल और तानाशाही

तानाशाही प्रजातन्त्रवाद का विरोधी है। किसी भी तानाशाही के अन्दर व्यक्ति वहीं तक स्वतन्त्र है जहाँ तक वह तानाशाह की मर्ज़ी के अनुकूल चलता है। नागरिको को वहाँ मनमाने संगठन बनाने की

इजाजत नहीं है। तानाशाही के अन्दर केवल एक मित्रमंडल होता है। तानाशाह स्वयं इस मित्रमंडल का प्रधान होता है। वहाँ की सरकार और मित्रमंडल इन दोनों के उद्देश्य में किसी भी प्रकार का फरक नहीं होता। वहाँ की सरकार मित्रमंडल के ही हाथो में होती है। सरकार के सभी कर्मचारी नीचे से ऊपर तक इसी मित्रमंडल के सदस्य होते हैं। मित्रमंडल के सदस्यों की मर्यादा मुल्क में सबसे अधिक मानी जाती है। ग़ैरपार्टियों का नामो-निशान भी बाकी नहीं रहता। शासन की व्यवस्था इस ढंग से बनाई जाती है कि इसी मित्रमंडल के हाथों में राज्य की बाग-डोर बनी रहे। यदि कोई ग़ैरपार्टी थोड़ा भी सर उठाती है तो वह बड़ी बेरहमी के साथ दबा दी जाती है। इटली मे फासिस्ट पार्टी के अलावे कोई दूसरी पार्टी सर नहीं उठा सकती। जर्मनी मे नाजी पार्टी का ही दौरदौरा है। हिटलर स्वयं उसका प्रधान है। रूस मे बोलशेविक पार्टी राज्य करती है। स्टैलिन उसका सर्वेसर्वा है। यह अक्सर देखा गया है कि स्टैलिन ने सैकड़ों आदमियों को केवल इसी गुनाह पर तलवार के घाट उतार दिया कि वे अलग पार्टी बनाना चाहते थे। तानाशाही के अन्दर मित्रमंडल का सारा कार्यक्रम प्रजातन्त्रवादी मुल्कों से बिलकुल भिन्न होता है। तानाशाह स्वयं तलवार मे विश्वास करता है और अपनी पार्टी को भी इसी रास्ते पर तैयार करता है। उसकी पार्टी ग़ैर मुल्को से लोहा लेने के लिये हरदम तैयार रहती है। तानाशाही के अन्दर मित्रमंडल उस भरी बन्दूक की तरह है जो किसी भी समय आग लगा सकती है। प्रजातंत्रवाद के अन्दर पार्टियाँ अपना अपना राग अलापती हैं लेकिन ताना-शाही के अन्दर मित्रमंडल का एकमात्र उद्देश्य मुल्क की बेहतरी होता है। प्रजातन्त्र के अन्दर पार्टियाँ आपस में ही लड़ती भिड़ती रहती हैं लेकिन तानाशाही का मित्रमंडल ग़ैरमुल्कों पर ही अपनी नजर लगाये रखता है।

आधुनिक मित्र मंडल प्रथा

आधुनिक युग स्वतंत्रता का युग कहलाता है। सभी प्रजा-तंत्रवादी देशों मे पार्टी मार्ग पर ही राजनैतिक कार्य किये जाते हैं। निर्वाचन से लेकर क़ानून बनाने तक सारे काम मित्र मंडल करते हैं। मित्र

मंडल ही प्रचार करते हैं, वे ही निर्वाचन का संगठन करते हैं, उन्हीं की सहायता से अधिक से अधिक मताधिकारी निर्वाचन केन्द्र पर लाये जाते हैं। वर्तमान पार्टी प्रथा को समझने के लिये अच्छा होगा कि प्रमुख देशो के मित्रमंडलों का अध्ययन किया जाय। हमारा भी देश उन्हीं मार्गों पर मित्र मंडलों का संगठन करना चाहता है। जिस प्रकार और मानो मे हम योरप की नकल कर रहे हैं उसी तरह राजनैतिक मामलों में भी हमारी नज़र योरप की ही ओर है। इस दृष्टि से भी इन पार्टियों का अध्ययन हमारे लिये उपयोगी सिद्ध होगा। हमें यह भी मालूम होगा कि किस तरह धार्मिक और साम्प्रदायिक प्रश्नों के ऊपर राजनीति में पार्टियाँ बनाई जाती हैं।

इंगलैंड

एलिज़ा वेथ के समय तक इंगलैंड में पार्टी प्रथा का कहीं नाम भी न था। लेकिन धार्मिक मामले धीरे धीरे ज़ोर पकड़ रहे थे। लिपमैन लिखता है, "जिसे इंगलैंड की पार्टी प्रथा का अध्ययन करना हो वह चार्ल्स प्रथम के समय के घरेलू युद्ध (Civil War 1642-1645) का इतिहास पढ़े।" बात बिलकुल ठीक है। चार्ल्स प्रथम के समय में धार्मिक प्रश्न पर एक दम दो पार्टियाँ हो गई थीं। इसी मतलब को पूरा करने के लिये एक दल राजा का पक्षपाती था और दूसरा पार्लियामेंट का। घरेलू युद्ध में एक का नाम राउन्ड हेड पड़ा और दूसरे का कवेलियर। इसके बाद इन्हीं का नाम ह्विग और टोरी पड़ा। जार्ज प्रथम के समय में कैबिनेट की प्रथा चली। कैबिनेट स्वयं एक ऐसी संस्था थी जिसका आधार पार्टी पर ही था। जो पार्टी पार्लियामेट में सबसे मजबूत होती थी उसी के सदस्य कैबिनेट के मेम्बर होते थे। १८ वीं सदी तक इंगलैंड की राजनीति केवल धनिकों के हाथ की कठपुतली थी। अठारहवीं सदी के अन्त में स्वतन्त्रता का बादल मड़राने लगा। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने यूरप मे स्वतन्त्रता की भावना को खूब फैलाया। औद्योगिक क्रान्ति से यह भावना और भी बढ़ने लगी। लोगों मे शिक्षा और व्यवसाय की वृद्धि से नागरिक जीवन का महत्व बढ़ने लगा। इसलिये लोगों का ध्यान धर्म से हटकर राजनीति की ओर अग्रसर हुआ। ह्विग लोग उदार दल (Liberal)

के कहलाने लगे और टोरी अनुदार दल के (Conservative) उदार दल वाले प्रजा को अधिक से अधिक अधिकार देना चाहते थे और नये नये सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे। इसके विपरीत अनुदार दल वाले बड़े बड़े लोगो के ही हाथों में शासन की बागडोर रहने देना चाहते थे। वे धनिकों के पक्षपाती थे और सभी सामाजिक सुधारों के विरोधी थे।

मशीनों की वृद्धि के कारण सामाजिक व्यवस्था बदलने लगी। मज़दूरो की संख्या काफ़ी बढ़ने लगी। इसलिये यह आवश्यक था कि उनके अधिकार की भी कोई न कोई व्यवस्था बनाई जाय। इसके अलावे उनकी हालत आम जनता से बुरी थी। वे सभी प्रकार से मिल मालिको के हाथों मे थे। वह जितना चाहता उनसे काम कराता और अपनी मर्ज़ी के अनुसार उन्हें मज़दूरी देता। स्वतन्त्रता की भावना मज़दूरों में भी बढ़ रही थी। उदार दल उनके अन्दर सुधार करना चाहता था, लेकिन अनुदार दल वाले काफी विरोध करते थे। उदार दल मे एक ऐसा गिरोह था जो मज़दूरों के पूरे पक्ष में था। वह इस बात पर तुला हुआ था कि चाहे जैसे हो मज़दूरों को अधिकार मिलने चाहिये। पूरा उदार दल इतना उत्सुक न था। इसलिये बीसवीं सदी के आरम्भ मे उदार दल दो भागों मे बँट गया। जो मज़दूरों के पक्के सहायक थे उन्होने अपना नाम मज़दूर दल (Labour Party) रख लिया। इस प्रकार इंगलैंड मे तीन पार्टियाँ हो गई, उदार अनुदार और मज़दूर दल (Liberal, Conservative and Labour Party) १९२३ ई० मे रेम्जे मैकडानल्ड मज़दूर दल का नेता हो गया। उसके अन्दर इस पार्टी ने इतनी उन्नति की कि १९२४ ई० में शासन की बागडोर इसी मज़दूर दल के हाथ मे आ गई। १९२९ मे फिर यही दल इंगलैंड का शासक बना। किसी कारण वश १९३१ ई० में रेम्ज़ मैकाडानल्ड ने मन्त्रि मंडल से इस्तीफा दे दिया और मज़दूर दल की सरकार का अन्त हो गया। आज इंगलैंड मे ये तीनो दल क़ायम हैं। हर दल का समूचे देश मे संगठन है, उसके कई दफ्तर हैं, और लाखों रुपये प्रतिवर्ष चन्दे के रूप मे आते हैं। अनुदार दल इन सबमें धनी है। हर दल का एक सिद्धान्त है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये हर पार्टी

स्कूल खोलती है, तरह तरह के सामाजिक सुधार करती है। इन पार्टियों के कार्य-क्रम से देश को काफी लाभ पहुँचता है।

अमेरिका
U. S. A.

१७७५ ई० तक अमेरिका एक गुलाम देश था। जो पार्टी इङ्गलैण्ड में थी उसी की नक़ल वहाँ भी थी। लेकिन १७८२ ई० में अमेरिका आज़ाद हो गया। तब से वहाँ नई पार्टी प्रथा का जन्म हुआ। आज़ादी के बाद ही अमेरिका मे संघ शासन की व्यवस्था हुई। इसलिये यह स्वाभाविक था कि दो दल उठ खड़ा होता। एक तो संघ शासन को अधिक से अधिक अधिकार देना चाहता था। वह केन्द्रीय शासन को एक दम मज़बूत बनाने के पक्ष मे था। इसके विपरीत दूसरा दल प्रान्तीयता का पक्षपाती था। वह चाहता था कि अलग अलग रियासतो को सारे अधिकार बाँट दिये जायँ। स्थानीय अधिकार उसे केन्द्रीय अधिकारो से कहीं आवश्यक थे। जब केन्द्रीय शासन अच्छी तरह दृढ़ हो गया तो संघ का विरोधी दल समाप्त होगया। उसका स्थान एक नई पार्टी ने ले लिया। इसका नाम स्वतन्त्र दल (Republican party) था। इस दल ने स्वतन्त्रता मे दूसरे दल को भी मात कर दिया। १८०१ ई० मे इसी स्वतन्त्र दल की ताक़त सबसे अधिक हो गई। १८१६ से लेकर १८३० ई० तक इस पार्टी के अतिक्ति अमेरिका मे कोई पार्टी ही न रह गई। इसीलिये वहाँ के इतिहास में इस १४ वर्ष के समय को "सद्भाचना का युग" कहते हैं। १८३० के बाद फिर दो पार्टियाँ उठ खड़ी हुई। अभी इनका संगठन बन ही रहा था कि गुलामो की रिहाई का सवाल उठ खड़ा हुआ। हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पार्टियाँ हमेशा किसी बड़े सवाल पर ही बना करती हैं। जब कभी कोई बड़ा प्रश्न मुल्क के सामने उपस्थित हो जाता है तो पिछली सारी दल बन्दी ख़तम हो जाती है, और नये दल उठ खड़े होते हैं। इसी प्रश्न पर घरेलू युद्ध आरम्भ हुआ और अन्त मे गुलामी प्रथा का अन्त कर दिया गया। जब गुलामी का सवाल दूर हो गया तो कोइ सवाल ही ऐसा न रहा जिस पर दल बन्दी हो सके। नतीजा यह हुआ कि वही पुरानी दोनों पार्टियाँ (Republican and Democrat) बनी रहीं। उनके सामने

कोई ख़ास उद्देश्य न था। तब से आज तक अमेरिका में कोई ऐसा सवाल पैदा नहीं हुआ जिस पर नई पार्टियाँ बन सकें। छोटी छोटी बातों पर पार्टियाँ बनती बिगड़ती रहती हैं। यदि ठीक ठीक शब्दों मे अमेरिकन पार्टी का वर्णन किया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि अमेरिका में कोई भी पार्टी नहीं है। नाम मात्र को उनका संगठन जरूर है लेकिन उनके सामने कोई ख़ास कार्यक्रम (Programme) नहीं है। समाजवाद की लहर वहाँ भी पहुँच गई है। इस पर वहाँ दो समाज वादी दल भी(Socialist and Socialist Labour) उत्पन्न होगये हैं। इसके अलावे १९१२ ई० से एक 'अग्रगामी दल' (Progressive Party) का भी जन्म हुआ है। इतनी पार्टियाँ होते हुये भी अमेरिका को 'पार्टी रहित देश' (Non-Party Country) कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा।

कहने को अमेरिका में कोई ख़ास पार्टी नहीं है, लेकिन दल बन्दी की भावना जितनी अमेरिका मे है उतनी बहुत कम देशों मे पाई जाती है। इसकी वजह यह है कि वहाँ चुनाव बार बार होते रहते हैं। और देशों में केवल धारा सभा के प्रतिनिधियों का ही चुनाव होता है लेकिन अमेरिका मे प्रेसीडेन्ट, सहायक प्रेसीडेन्ट तथा कुछ बड़े बड़े अफसरो तक का चुनाव होता है। इसलिये वहाँ राजनैतिक भावना की बड़ी चहल पहल रहती है। एक सबसे अजीब बात, जो दुनिया के किसी भी हिस्से मे प्रचलित नही है, अमेरिका की "सफाचट प्रथा" (Spoil System) है। इसका अर्थ यह है कि जब प्रेसीडेन्ट का चुनाव हो जाता है तो वह अपनी पार्टी को खुश करने के लिये सभी सरकारी कर्मचारियों को निकाल बाहर कर देता है। और उनकी जगह अपनी पार्टी के लोगों को भर्ती कर लेता है। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि कोई भी सरकारी कर्मचारी अपने को स्थायी नहीं समझता। चपरासी तक डरता रहता है कि कब वह निकाल न दिया जाय। इसलिये सरकारी विभागो मे अनुभवशील व्यक्तियों का अभाव रहता है। पार्टी प्रथा का इतना ज़बर्दस्त असर किसी और मुल्क में शायद ही दिखाई पड़ता हो। अब इसे रोकने का किसी हद तक प्रयत्न किया गया है। कुछ जगहे स्थायी बना दी गई हैं। सिविल सर्विस की

परीक्षा का नियम किया गया है। इसमें सफलीभूत व्यक्ति राज्य के स्थायी कर्मचारी समझे जाते हैं। अमेरिका मे बड़े बड़े सेठ लोग पार्टी के लीडरो को लम्बी लम्बी रक़मे देकर कभी कभी अपने मन के मुताबिक कानूने पास करवा लिया करते हैं।

ऊपर कहा गया है कि पार्टियाँ किसी ख़ास मसले पर ही बना करती हैं। वैसे तो निर्वाचन प्रथा की अनुपस्थिति मे पार्टी बनने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता। मुगल राज्य मे न कहीं पार्टी थी और न कोई व्यवस्थापिका सभा थी। यदि कोई मसला छिड़ जाता तो बादशाह का फैसला अन्तिम माना जाता था। फिर उस पर किसी तरह का बहस मुबाहिसा नहीं हो सकता था। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के शासन काल में हालत और भी बदतर थी। कम्पनी के कर्मचारी मनमानी करते थे। आम जनता यह समझ ही नहीं पाती थी कि राजनीति क्या चीज़ है। कम्पनी के ढ़ाई सौ वर्षो के काम का नतीजा यह हुआ कि मुल्क एक सिरे से दूसरे सिरे तक कम्पनी का कट्टर दुश्मन हो गया। सन् १८५७ ई० के ग़दर के बाद कम्पनी का राज्य खतम होगया और हिन्दुस्तान के शासन का भार पार्लियामेट ने खुद अपने हाथों मे ले लिया। तब से यहाँ पालियामेटरी शासन की नींव पड़ी। शासन प्रबन्ध का ढाँचा इङ्गलैण्ड के आधार पर बनाया गया। इसी बीच मे सन् १८८४ ई० मे कांग्रेस का जन्म हुआ। देश के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञो ने इसकी नीव इसलिये डाली कि यह संस्था ब्रिटेन और हिन्दुस्तान दोनो मे सहयोग उत्पन्न करेगी। साथ ही भारतीय सामाजिक सुधारो मे भी हाथ बँटायेगी।

हिन्दुस्तान

सुधार के प्रश्न पर दो समूह उत्पन्न हुये। एक तो वे जो अधिक से अधिक सुधारों के पक्षपाती थे और दूसरे वे जो इसके विरोधी थे। धारा सभाओ मे भी इसी आशय के दो दल हो गये। फिर हिन्दुस्तानियों के अधिकार का प्रश्न उठा। यह एक गहरा सवाल था। इस पर न सिर्फ धारा सभाओ मे बल्कि देश मे दो दल उठ खड़े हुये। एक तो वह दल था जो ब्रिटेन से मिल कर अपने अधिकारो की माँग पेश करना चाहता था। लेकिन दूसरा दल इसे पसन्द न करता था। वह ब्रिटेन की ख़िलाफत

करते हुये आगे बढ़ना चाहता था। एक का नाम 'नरम' दल था और दूसरे का 'गरम' दल। इन दोनो दलो का संगठन बढ़ने लगा। धारा सभाओं, कांग्रेस, तथा सारे देश मे इन्हीं दोनों दलो का ज़ोर था। इसके बाद जब मुल्क की आज़ादी का सवाल पेश हुआ तो हिन्दुस्तान के हर सम्प्रदाय ने अपना अपना दल बनाकर इसका समर्थन किया। साम्प्रदायिक संगठनों को राजनैतिक संगठन मे मिलाना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है, लेकिन हिन्दुस्तान एक ऐसा मुल्क है जहाँ विभिन्न सम्प्रदाय आज भी अपना अलग अलग संगठन बनाकर सरकार के सामने अपनी माँगे पेश करते हैं। मुसलिम लीग अपने आप को एक राजनैतिक पार्टी कहती है। वैसे इसका स्थान वही है जो हिन्दू सभा का। दोनो दल साम्प्रदायिक हैं। इतना मै ज़रूर कहूँगा कि ये दोनों दल अपने अपने सम्प्रदाय की दिल से उन्नति चाहते हैं।

हिन्दोस्तान में राजनैतिक मामले मज़हबी नज़र से देखे जाते हैं। यही वजह है कि मुसलिम लीग और हिन्दू सभा दोनों ही अपने आप को किसी राजनैतिक पार्टी से कम नही समझती है। लेकिन यह बात असलियत से कोसो दूर है। सीधी बात तो यह है कि गुलाम मुल्क होने से हमारे देश में आज़ादी की वह लहर नहीं है जो अन्य प्रजातन्त्रवादी देशो मे है। और बिना आज़ादी की लहर के जनता मे दलबन्दी की भावना नहीं हो सकती। लोग यही सोचते हैं कि टुकड़े के लिये क्या लड़ा जाय। असली ताकत तो विदेशियो के हाथ में है। इसलिये राजनैतिक मामलो से लोग काफ़ी उदासीन रहते हैं। यही वजह है कि पाश्चात्य प्रदेशो के मार्ग पर अभी हमारे यहाँ पार्टियाँ नहीं बन पाई हैं। लेकिन इसका यह भी अर्थ नही है कि हिन्दोस्तान मे कोई राजनैतिक दल है ही नही। हमारे यहाँ कहने सुनने को कम से कम चार या पाँच पार्टियाँ हैं। कृषक पार्टी, स्वतन्त्र पार्टी, कांग्रेस पार्टी, मज़दूर पार्टी, लिबरल पार्टी तथा कुछ और भी ऐसी ही छोटी छोटी पार्टियाँ हैं। इनमें से कुछ तो ऐसी हैं जो केवल प्रान्तीय-धारा सभाओं तक ही सीमित है। लिबरल और कांग्रेस पार्टियाँ ऐसी हैं जो समूचे देश मे अपना प्रभुत्व रखती हैं। इन दोनो में कांग्रेस पार्टी का संगठन काफी मज़बूत

और व्यापक है। इन दोनों पार्टियों का अलग अलग ज़िक्र करना अच्छा होगा।

लिबरल पार्टी एक बहुत ही पुरानी पार्टी है। जब कांग्रेस का जाल इतना अधिक नहीं फैला था उस समय लिबरल पार्टी काफी बढ़ी चढ़ी थी। इसके अन्दर देश के अच्छे से अच्छे आदमी रह चुके हैं। गोखले इसी पार्टी के एक नेता थे। इस पार्टी का आरम्भ से अब तक एक ही उद्देश्य रहा है। वह यह कि अंग्रेज़ी सरकार से सहयोग प्राप्त करते हुये मुल्क की सामाजिक और राजनैतिक उन्नति करना। इस दल का यह विश्वास है कि हिन्दोस्तान की बेहतरी इसी मे है कि वह वृटिश साम्राज्य के अन्दर बना रहे। जिस समय यह मुल्क वृटिश साम्राज्य से निकल जायगा उसी दम कोई और मुल्क इस पर हावी हो जायगा। सामाजिक सुधारो के लिये यह दल स्कूल खोलता है, कालेज चलाता है, व्यवसायो की उन्नति करता है, अछूतो मे काम करता है, तथा गॉवो में कृषि आदि की उन्नति करता है। राजनैतिक उन्नति के लिये इस दल के सदस्य धारा सभाओ मे जाते हैं और वहाँ पर अपने देश वासियो के राजनैतिक अधिकार की माँगे पेश करते हैं। वे शासन प्रबन्ध मे अपने देश वासियो का अधिक से अधिक हाथ चाहते हैं। उनकी नीयत किसी सच्चे देश भक्त से कम नहीं होती है। लेकिन ये सारे काम वे अंग्रेज़ी सरकार से मिल कर ही करना चाहते हैं। अपने एक भी काम से वे उसे नाराज़ नहीं करना चाहते। यह पार्टी काफी संगठित है। सारे देश मे इसका सगठन है। इसके हज़ारो सदस्य है। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है जिसमे सारे हिन्दोस्तान से नुमाइन्दे आकर अपना अगला कार्य क्रम बनाते हैं। इस पार्टी की ओर से पत्र पत्रिकाये भी निकलती है जो अपने उद्देश्य का प्रचार करती हैं। 'भारत सेवक मण्डल' (Servants of India Society) नाम की संस्था इसी पार्टी की सस्था है, जिसकी नीव गोखले ने डाली थी। इस सस्था के सदस्य आजन्म व्रत लेकर लिबरल पार्टी का काम करते रहते हैं।

हिन्दोस्तान की सबसे बड़ी राजनैतिक पार्टी कांग्रेस है। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दोस्तान को आज़ाद करना है। यह पार्टी इतनी

सुसंगठित है कि हिन्दोस्तान का बच्चा बच्चा इसके नाम से परिचित है। कोई गाँव ऐसा बाकी न होगा जिसमे इस पार्टी का संगठन न हो। हर जिले में इसका दफ्तर होता है। इसके बाद सूबो मे और फिर सारे हिन्दोस्तान के लिये इस का सब से बड़ा दफ्तर प्रयाग मे रक्खा गया है। इस पार्टी का कोई भी व्यक्ति विदेशी वस्त्र इस्तेमाल नहीं कर सकता। पार्टी के हर सदस्य को हाथ से चर्खे पर सूत कातना लाज़मी है। जो व्यक्ति इसका सदस्य होना चाहता है उसे चार आने पैसे देने पड़ते हैं और साथ ही अहिंसा और सत्य का व्रत लेना पड़ता है। प्रतिवर्ष इसका सालाना जलसा होता है जिसमें लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं। इस पार्टी के अन्दर छोटी मोटी और भी जमातें हैं, लेकिन वे सब एक ही उद्देश्य रखती हैं और अपने कामों से कांग्रेस को पूरा पूरा सहयोग देती हैं। जिस प्रकार जर्मनी मे नाज़ी पार्टी का सदस्य बनना एक गौरव समझा जाता है उसी तरह हमारे देश मे कांग्रेस का सदस्य काफी इज्जत की नज़र से देखा जाता है। इसका उद्देश्य मुल्क मे 'पंचायती राज्य' कायम करना है। यह पार्टी सभी प्रकार के हथियार की लड़ाई से घृणा करती है। इसका सब से बड़ा हथियार प्रेम और सत्य है, जिसके बल पर यह अपने एक एक देश वासियो को आकर्षित करती है। इस पार्टी की रहन सहन (Discipline) इतनी सख्त है कि कोई भी व्यक्ति इसके नियम को भंग नहीं कर सकता। इतनी बड़ी और सुसंगठित राजनैतिक पार्टी दुनिया के किसी भी प्रजातन्त्र राज्य मे नहीं है।

अध्याय १३

राष्ट्रीयता

(Nationalism)

राष्ट्रीयता की परिभाषा—राष्ट्रीयता की उत्पत्ति—राष्ट्रीयता से लाभ—राष्ट्रीयता से हानि—राष्ट्रीयता के अंग—मनुष्य का स्वभाव—धर्म—जाति—भौगोलिक परिस्थिति—भाषा—राजनैतिक एकता—इतिहास—निश्चित देश—सम्मिलित स्वार्थ—क्या राष्ट्रीयता धर्म है—राष्ट्रीयता की कसौटी—राष्ट्रीयता का विनाश—क्या भारतवर्ष एक राष्ट्र है—राष्ट्रीयता का भविष्य।

राष्ट्रीयता की परिभाषा

नागरिक शास्त्र के अन्तर्गत राष्ट्र अथवा राष्ट्रीयता का समावेश कदापि नहीं होता। किन्तु समाज शास्त्र के नाते हम इसे एक दम अलग भी नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता प्रत्येक नागरिक का एक धर्म है। इस दृष्टि से हमें इसका ज्ञान आवश्यक है। "राष्ट्रीयता" शब्द इतना व्यापक है कि इसकी परिभाषा करना कोई सरल खेल नहीं है। प्रजातन्त्रवाद का पुजारी लार्ड ब्राइस यह स्वीकार करता है कि वह इसकी परिभाषा नहीं कर सकता। वह लिखता है, "हम इसे देख कर केवल पहचान सकते हैं।" हेज़ (Hayes) जिसने कि राष्ट्रीयता के ऊपर पोथा का पोथा लिख डाला है साफ साफ कहता है कि, "राष्ट्र शब्द अत्यन्त जटिल है।" वह यह भी लिखता है कि राष्ट्रीयता शब्द का जन्म उन्नीसवीं सदी मे हुआ है। स्थूल पदार्थों की परिभाषा सरल होती है क्योंकि उनका कोई न कोई रूप रंग होता है। लेकिन जिसकी शकल का ही पता नहीं है उसका वर्णन सरलता पूर्वक नही किया जा सकता। कुछ राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इनमे से कोई भी पूर्ण नहीं है। मि. ए टैनबर (A. Taynber) लिखते हैं "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो बहुत से लोगो को एक ही राजनैतिक संगठन मे रहने के लिये बाध्य करती है।" डाक्टर हालैंड रोज़ लिखते हैं, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना

है" प्रोफेसर ए. ई. जिमरिन का कहना है कि, "राष्ट्रीयता न केवल आध्यात्मिक वस्तु है, बल्कि यह एक शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न भी है।" अभी हाल के एक फ्रांसीसी विद्वान् का यह कथन है कि, राष्ट्रीयता एक सामाजिक शक्ति है।" आई जंग नामक एक अँग्रेज़ लिखता है, "राष्ट्रीयता उन विचारों का एक जंगल है जिनसे राजनीति और लेखन कला की वृद्धि होती है।" इसी तरह अनेक परिभाषायें राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मिलती हैं। इनमें कुछ तो ऐसी हैं जिनका कोई अर्थ ही समझ में नहीं आता। दो एक परिभाषायें इस तरह की जरूर हैं जिनसे राष्ट्रीयता का कुछ कुछ आभास होता है। प्रोफेसर जिमरिन ने एक जगह लिखा है, "राष्ट्रीयता का सम्बन्ध एक निश्चित देश के साथ होता है और इसका आकार वहाँ की जनता के घनिष्ठ जीवन से जाना जा सकता है।"

इस प्रकार की परिभाषाओं का कहीं अन्त नहीं हो सकता। अब हमें यह देखना है कि वास्तव में राष्ट्रीयता कौन सी वस्तु है। आम तौर से लोग यह समझते हैं कि राष्ट्र और देश में कोई अन्तर नहीं है। जो जिस देश मे निवास करता है वह उसी राष्ट्र का व्यक्ति कहा जाता है। जो अमेरिका मे रहता है वह अमेरिकन राष्ट्र का है, जो फ्रांस में रहता है वह फ्रेंच राष्ट्र का। लेकिन आगे चल कर हम देखेंगे कि राष्ट्रीयता और देश से कोई अटूट सम्बन्ध नहीं है। संसार में कुछ ऐसे भी व्यक्ति देखने में आते हैं जो किसी भी देश से कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं रखते और दुनिया में फैले हुये हैं, फिर भी वे एक राष्ट्र के कहे जाते हैं। वास्तव में राष्ट्रीयता एक भावना है जो एक देश को दूसरे से अलग करती है। इससे कुछ लाभ भी हैं और कुछ हानियाँ भी, जिनका वर्णन इसी अध्याय मे उचित स्थान पर किया जायगा। कुछ ऐसे भी देश हैं जो राष्ट्र कहलाने के योग्य नही हैं। राष्ट्रीयता किसी एक आदमी के वश की चीज नहीं है जो किसी देश में पैदा कर दे। यह आम जनता का एक सम्मिलित गुण है। बीसवीं सदी मे हर देश का यह नियम होगया है कि वह चाहे जैसे हो अपने को राष्ट्र बनावे। जो देश इसमें पीछे हैं और किसी कारण वश राष्ट्र बनने में असमर्थ हैं वे आज या तो ग़ुलाम हैं या अपने पड़ोसी राष्ट्रों की आँखों की किरकिरी बने हुए हैं।

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति यूरप मे उन्नीसवीं सदी में हुई है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद दुनिया में आज़ादी की एक लहर सी चल पड़ी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के विचारों में अन्तर पड़ने लगा। फिर औद्योगिक क्रान्ति हुई। इससे यूरप मे मशीनों का जन्म हुआ। हाथ के कारोबार की महत्ता कम होने लगी और उसका स्थान मशीनों ने ले लिया। पहले हर देश अपने आप को वहीं तक मज़बूत समझता था जहाँ तक उसके अन्दर शारीरिक शक्ति थी। जो देश जितना ही अधिक आबाद था वह उतना ही दृढ़ समझा जाता था। लेकिन मशीनो ने इसे बदल दिया। जिसके पास जितनी अधिक मशीने थी और जो जितना ही अधिक माल तैयार करके विदेशो मे भेजता था वह उतना ही शक्तिशाली समझा जाता था। प्रत्येक देश को यह इच्छा हुई कि वह अपने देश के माल से दुनिया के बाज़ारों को अधिक से अधिक पाट दे। यह मुकाबिला इतना ज़ोर पकड़ता गया कि एक देश अपने पड़ोसी तक को अपना दुश्मन समझने लगा। इसी होड़ का नाम राष्ट्रीयता है। बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता इसी आपस के गला तोड़ मुकाबिले का परिणाम है। पर दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीयता वह पागलपन है जो अपने मुल्क के लिये सब कुछ करा सकता है। जापान आज चीन में इसीलिये लड़ रहा है कि एशिया मे वह सर्व प्रधान राष्ट्र बन जाय। राष्ट्रीयता यहीं पर रुक नहीं गई। जब शक्ति का मुकाबिला बढ़ने लगा तो बड़े बड़े देशो को यह चिन्ता हुई कि कहीं अमुक देश का बाज़ार औरो के हाथ मे न चला जाय। इसलिये उन्हें एक साम्राज्य बनाने की इच्छा हुई। इसी प्रकार शक्ति का भूत बढ़ता गया। इसके साथ ही साथ बड़े बड़े साम्राज्यो की उत्पत्ति हुई। आज जो विश्व व्यापी युद्ध छिड़ा हुआ है उसकी जड़ मे साम्राज्य की पिपासा के अतिरिक्त और कुछ नही है। साम्राज्य भी इसीलिये चाहिये कि अधिक से अधिक बाज़ार उनके हाथो मे रह सकें। इसलिये राष्ट्रीयता की उत्पत्ति के साथ ही साथ वैमनस्य की भी उत्पत्ति हुई जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज यूरप मे दिखलाई पड़ रहा है। यूरप आज

राष्ट्रीयता की उत्पत्ति

बारूद की खान बन गया है जिसमें थोड़ी भी चिनगारी लगते ही मालूम नहीं क्या हो जायगा। वर्त्तमान काल में राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया है। दूसरे मे वे सारी बुराइयाँ मौजूद हैं जो पहले मे हैं। सिद्धान्त में राष्ट्रीयता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता अच्छी चीजें हैं लेकिन इनका वर्तमान रूप ठीक नहीं है। प्रत्येक देश के अन्दर स्वार्थ और शक्ति की भावना इस क़दर जागृत है कि लोग सच्ची राष्ट्रीयता को भूल से गये हैं।

राष्ट्रीयता से लाभ

राष्ट्रीयता कोई बुरी चीज़ नहीं है। इससे स्वदेश प्रेम का भाव ज़ाहिर होता है। जब कोई व्यक्ति अपने आप को किसी राष्ट्र का अंग मानता है तो उसके अन्दर एक बहुत बड़ी शक्ति मालूम पड़ती है जो व्यक्तिगत बल से कहीं अधिक होती है। इससे व्यक्ति के दिल मे एक प्रकार का गौरव उत्पन्न होता है। किसी उन्नति शील देश का निवासी अपने आप को बड़ा समझता है। उसे अपने देश पर नाज़ होता है। राष्ट्रीयता एक प्रकार की एकता है। केवल राजनैतिक एकता से ही यह उत्पन्न नहीं होती बल्कि कई क्षेत्रों में एकता की आवश्यकता पड़ती है। धर्म, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, व्यवसाय, विचार इन सबकी एकता की आवश्यकता पड़ती है। जो देश अपने को राष्ट्र कहने का दावा रखते हैं उन्हें बहुत ही संगठित और सभ्य होने की आवश्यकता पड़ती है। अन्य कई बातों के एक होते हुये भी हम दो देशों को एक मंच पर नहीं ला सकते, लेकिन राष्ट्रीयता एक ऐसी चीज़ है जो न केवल दो व्यक्तियो को बल्कि दो राष्ट्रों को भी एक मे मिला सकती है। राष्ट्रीयता से देश की संस्कृति की रक्षा होती है। किसी देश का अस्तित्व राष्ट्रीयता से ही कायम रह सकता है। किसी देश का सच्चा इतिहास उसकी राष्ट्रीयता की कहानी है। सामाजिक संगठन मे जो लाभ जाति से हैं वही संसार के देशों मे राष्ट्रीयता से भी हैं। मैं यह मानता हूँ कि वर्तमान राष्ट्रीयता अफीम है, लेकिन इसका असली सिद्धान्त किसी भी देश के लिये बुरा नहीं है। यदि आज संसार के विभिन्न देश अपनी अपनी राष्ट्रीयता खो बैठे तो न कोई संस्कृति जीवित रह सकती है और न सभ्यता ही। एक राष्ट्र के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति अपने को भाई भाई समझते

हैं और किसी दूसरे राष्ट्र के मुकाबिले में सब एक स्वर से तैयार रहते हैं। जिस देश मे राष्ट्रीयता की लहर उठती है वहाँ के निवासियों मे एक नया जीवन दिखलाई पड़ता है। जिन्हें अपने राष्ट्र को ऊँचा बनाने का थोड़ा भी अभिमान है वे जी जान से अपने अन्दर की कमजोरियो को मिटाने की कोशिश करते हैं। जैसे धर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है उसी तरह राष्ट्रीयता भी बीसवीं सदी का धर्म है। इससे किसी देश की सभी आन्तरिक बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। राष्ट्रीयता की भावना ने ही आज बड़े बड़े साम्राज्यों का जन्म दिया है। राष्ट्रीयता का ही परिणाम है जो मुट्ठी भर इङ्गलैंड के निवासी पचास करोड़ आदमियों पर आज शासन कर रहे हैं। राष्ट्रीयता का ही प्रताप है जिसने जापान को एशिया में सर्व प्रधान बना दिया है। राष्ट्रीयता की कमी से ही आज भारतवर्ष गुलाम है। राष्ट्रीयता के ही नाम पर देश की अच्छी से अच्छी कीर्तियाँ विश्व के सामने आती हैं।

राष्ट्रीयता से हानि

राष्ट्रीयता से कुछ ऐसी हानियाँ है जो स्वाभाविक हैं। उन्हें कोई मिटा नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे को इसलिये भी भिन्न समझता है कि वह किसी और राष्ट्र का निवासी है। जिस देश में राष्ट्रीयता की भावना अधिक बढ़ जाती है वह न केवल अपनी उन्नति ही चाहता है बल्कि अन्य राष्ट्रों को कुचलना भी उसका एक उद्देश्य हो जाता है। आज कल जितने भी बड़े बड़े राष्ट्र हैं वे अपनी आमदनी का सबसे ज्यादा हिस्सा हथियार बनाने में खर्च करते हैं। इसलिये नहीं कि उससे संसार की रक्षा होगी, बल्कि इसलिये कि दूसरे राष्ट्र उससे आगे न बढ़ सकें। बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ जो उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में हुई हैं, उन सबकी जड़ में राष्ट्रीयता की भावना थी। राष्ट्रीयता के अन्दर अपनी ही उन्नति की भावना नही रहती है बल्कि और राष्ट्रों को दबाने का भी भाव छिपा रहता है। इसी के आवेश में आकर एक देश दूसरे की अच्छी से अच्छी बातों को भी बुरा ठहराता है। अपने राष्ट्र के विस्तार के लिये न्याय तक को उठा कर ताख पर रख दिया जाता है; सन्धियों की कोई परवाह नहीं की जाती और लड़ाई के नये नये बहाने खोज निकाले जाते हैं। वर्तमान राष्ट्रीयता तलवार की

शक्ति पर क़ायम है। कोई व्यक्ति अपने देश की सेवा और त्याग की परवाह नहीं करता, बल्कि उसकी फौजी ताक़त पर गर्व करता है। आज यूरप के छोटे और बड़े देशों में जो कश-म-कश चल रही है उसका कारण एक यह भी है कि एक की राष्ट्रीयता नष्ट हो जाय। राष्ट्रीयता आज लड़ाई का एक बहाना बन गई है। संसार मे सभी व्यक्ति भाई भाई हैं और ऊपरी फरक़ केवल प्राकृतिक अन्तर के कारण है। इस प्रकार का विश्वबन्धुत्व तब तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक राष्ट्रीयता का सर्वनाश न होगा। राष्ट्रीयता सगठन की एक संकुचित भावना है। जिस प्रकार किसी गाँव मे केवल एक घर की उन्नति से गाँव भर की उन्नति नहीं हो सकती उसी प्रकार संसार की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक हर देश ऊँचा न उठ जाय। केवल थोड़े से राष्ट्र औरो को दबा कर विश्व का कल्याण नहीं कर सकते।

राष्ट्रीयता के अग

राष्ट्रीयता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो एक आदमी द्वारा उत्पन्न की जाती है। यह केवल एक प्रकार की भावना है जो सदियो मे बनती है। कुछ ऐसी शर्तें हैं जिनके बिना राष्ट्रीयता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उन्हीं शर्तों को राष्ट्रीयता का अंग कहते हैं। जैसे राज्य के अंग होते है उसी प्रकार राष्ट्रीयता के भी। इनमे से एक की भी अनुपस्थिति में सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं हो सकता। इन अंगो के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी बाते हैं जो राष्ट्रीयता की उन्नति मे सहायक होती हैं। जब एक बार किसी देश मे दृढ़ राष्ट्रीयता स्थापित हो जाती है तो उसका ह्रास जल्दी नहीं होता। अच्छा होगा कि इन अंगों का अलग अलग कुछ विस्तार से वर्णन किया जाय। तभी हमे राष्ट्रीयता का ठीक ठीक अर्थ समझ मे आ सकता है। ये अग निम्नलिखित हैं:—मनुष्य का स्वभाव, धर्म, जाति, भौगोलिक परिस्थिति, भाषा, रसम-रवाज, राजनैतिक एकता, एक निश्चित देश, ऐतिहासिक एकता इत्यादि।

मनुष्य का स्वभाव

मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है। वह अकेले रहना पसन्द नहीं करता। उसका यह स्वभाव होता है कि वह अधिक से अधिक आदमियों से परिचय प्राप्त करे। वह अपने ही सरीखे औरों

को भी बनाने की चेष्ठा करता है। वेष भूषा, रहन सहन, खान पान, इन सब मे वह औरो की नकल करता है, साथ ही ख़ुद भी दूसरों पर प्रभाव डालता है। विचारों में उसे एकता की प्रबल इच्छा होती है। वह उसी को अपना मित्र बनाता है जो उसके विचारो के अनुकूल होता है। राष्ट्रीयता इन्हीं गुणों का बृहत् रूप है। मनुष्य के स्वभाव का ही यह फल है जो सभी क्षेत्रो मे काफी अश तक एकता दिखलाई पड़ती हैं। अपने पूर्वजो की बहुत सी बातें मनुष्य ग्रहण करता है। रसम रवाज चाहे कितने हीं पुराने क्यों न हो जायँ वे मनुष्य के स्वाभाविक अंग बन जाते हैं। इसी से एक छोटा सा गिरोह बनता है और जब यह गिरोह देश व्यापी हो जाता है तो उसी से राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। एक देश का निवासी अपने आप को विदेशियों से भिन्न रखना चाहता है। वह अपने देशवासी को अपना भाई समझता है। अपने देश की सभी वस्तुओ मे वह अपनापन समझता है। राष्ट्रीयता मे अपनापन की भावना ओत प्रोत है। इसके अतिरिक्त उसका यह भी स्वभाव होता है कि वह दूसरो से थोड़ी बहुत सहायता ले और स्वयं औरों की सहायता करे। यह सहायता केवल आर्थिक ही नहीं होती बल्कि किसी भी प्रकार की सहायता हो सकती है। मनुष्य का यह स्वभाव राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायक होता है।

धर्म

राष्ट्रीयता के निर्माण मे धर्म सहायक भी होता है और बाधक भी। सहायक तो इस तरह होता है कि एक ही विश्वास के बहुत से मनुष्य होते हैं। उनमें धर्म के आधार पर एकता होती है। इसी से उन्हें एक साथ मिलने जुलने का अवसर मिलता है। सबमे भाई का सा बर्ताव होता है। भारतीय इतिहास का पन्ना पन्ना इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रीयता मे धर्म ही सबसे अधिक सहायक होता है। जब हिन्दुस्तान पर मुसलमानों के हमले हुये तो हिन्दुओ ने अपने धर्म की रक्षा के लिये उनका डटकर मुकाबिला किया। धर्म की रक्षा ने राष्ट्र की रक्षा का स्वरूप धारण कर लिया। यहूदी क़ौम आज भी इस बात का सबूत है कि धर्म का राष्ट्रीया में कितना गहरा हाथ होता है। उसके पास न तो कोई देश है और न उसकी दुनिया में कोई वक़त है। आज जर्मनी से वे दूध की मक्खी

की तरह निकाले जा रहे हैं। कोई ऐसा मुल्क नहीं जहाँ उन्हें रहने तक की इजाज़त हो। इससे उस कौम को आज तक नष्ट भ्रष्ट हो जाना चाहिये था। वे जिस देश में रहते, उसी के निवासी बन जाते। लेकिन धर्म की छाप यहूदियों पर इतनी ज़बर्दस्त है कि उनकी राष्ट्रीयता अभी तक ज़िन्दी है। किसी भी देश में रहता हुआ यहूदी अपने तरीके पर रहता है और अपने धर्म पर चलता है। इटली में रहने वाला यहूदी जर्मनी के रहने वाले यहूदी को अपना भाई समझता है।

लेकिन धर्म राष्ट्रीयता में बाधक भी होता है। मध्य कालीन यूरप में सैकड़ों वर्षों तक राजा और पोप में युद्ध चलता रहा। एक ही देश मे दो धर्म के अनुयायी एक दूसरे को अपना शत्रु समझते हैं। इङ्गलैंड के इतिहास मे कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट का युद्ध धर्म के ही नाम पर चलता रहा। इससे इङ्गलैंड की राष्ट्रीयता मे काफी रुकावट पड़ी थी। वह तभी एक सुसंगठित राष्ट्र बन सका जब धार्मिक झगड़े दूर होगये। हिन्दुस्तान भी आज अपने को राष्ट्र कहलाने का पूरा पूरा हक़दार नहीं है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख आदि अपने को अलग समझते हैं। वे हिन्दुस्तान को अपना घर वहीं तक मानते हैं जहाँ तक उनके धर्म की रक्षा होती है। यह सभी जानते हैं कि धार्मिक भेदभाव के कारण हमारा देश राष्ट्रीयता मे सबसे पीछे है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनमे मज़हब के सिवाय और कोई फरक नहीं है। पैलेस-टाइन में जो आज अरबों और यहूदियों में युद्ध चल रहा है उसका एक मात्र कारण धर्म है। कुछ और भी वजूहात हैं लेकिन धर्म उन सबमे ज़बर्दस्त है। हर मुल्क में विदेशी क़ौमें काफी तादाद में रह रही हैं। लेकिन वहाँ के मूल वासिन्दों से उन्हे छोटा समझा जाता है। विदेशियो को वे अधिकार प्राप्त नहीं होते जो नागरिकों को। इनकी जड़ में धर्म भी एक कारण होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ धर्म भाई चारे की वृद्धि करके राष्ट्रीयता मे सहायक होता है वहाँ उससे बाधा भी काफी पड़ती है।

जाति और धर्म से गहरा सम्बन्ध है। एक जाति के लोग आपस में कई प्रकार का संगठन बनाये रहते हैं। उनके रसम रवाज़ एक से होते हैं। सामाजिक

जाति

व्यवस्था भी उनकी एक सी होती है। जिस देश में एक ही जाति के लोग रहते हैं वहाँ राष्ट्रीयता अधिक होती है। वे अपनी जाति के नाते एक दूसरे को भाई भाई समझते हैं। जब तक हिन्दुस्तान में आर्य कौम निवास करती थी और दूसरी जातियाँ नही आई थीं तब तक यह देश एक ही राष्ट्र था। लेकिन मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि के आने पर यहाँ विभिन्न जातियाँ होगईं। नतीजा यह हुआ कि इसकी राष्ट्रीयता नष्ट होगई। जब तक जाति का सवाल गौण रहता है तब तक राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ती। मुसलमानी ज़माने मे हिन्दुस्तान एक सुसंगठित राष्ट्र था। दोनो ही अपने आपको एक ही देश का निवासी समझते थे। मुसलमानों ने हिन्दुस्तान को ही अपना घर मान लिया था। लेकिन जब जाति का सवाल बढ़ गया और उनमें साम्प्रदायिकता के भाव आने लगे तो भारत की राष्ट्रीयता जाती रही। यदि बहुत सी जातियाँ किसी देश में निवास करें और देशभक्ति के सामने और प्रश्नों को तरह देते रहें तो राष्ट्रीयता में बाधा नहीं पड़ सकती। लेकिन हमारे देश मे यह बात उल्टी जान पड़ती है। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि दुनिया में कितने हीं ऐसे देश हैं जिनमे कई जातियाँ निवास करती हैं फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं हुई है। स्विटज़रलैंड में तीन जातियाँ रहती हैं। स्वयं ब्रिटेन में दो जातियों के लोग निवास करते हैं। फिर भी इन देशो की राष्ट्रीयता बनी हुई है।

भौगोलिक परिस्थिति

राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रकृति भी सहायता देती है। नदी, पहाड़, जंगल, रेगिस्तान, समुद्र इनसे राष्ट्रीयता में सहायता भी मिलती है और बाधा भी पड़ती है। यदि एक ही जाति के लोग अथवा एक ही राजनैतिक सूत्र में बंधे हुए कितनी हीं जातियों के लोग दूर दूर फैले हुए हो तो नदी और समुद्रो के आवागमन से वे एक ही समझे जाते हैं। इसके विपरीत यदि बहुत सी जातियाँ चारों ओर से किसी पहाड़ अथवा घने जंगल से घिरी हुई हो तो उन्हे विवश होकर एक सुसंगठित राष्ट्र बनाना पड़ता है। भारतवर्ष को ही ले लीजिये। उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय पर्वत है। तीन ओर अथाह समुद्र हैं। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता

के बहुत ही अनुकूल है। यह देश लोहे की सन्दूक़ की तरह सुरक्षित है। हिन्दुस्तान के बीच में बिन्ध्याचल पर्वत है। इसी के कारण उत्तरी और दक्षिणी हिन्दुस्तान के दो टुकड़े हो जाते हैं। हिन्दू काल में इन दोनों हिस्सों का दो इतिहास माना जाता है। आर्यावर्त केवल उत्तरी भारतवर्ष को कहते हैं। इसके निवासी अधिक सभ्य और पवित्र माने जाते थे। दक्षिणी भारतवर्ष असभ्यों का घर माना जाता था। लेकिन मौजूदा ज़माने में इस प्रकार का भेदभाव क़तई ठीक नहीं माना जाता। दक्षिणी हिन्दुस्तान आज भी संस्कृत विद्वानों की भूमि मानी जाती है। वह प्राकृतिक सौन्दर्य का एक गढ़ है। इन दोनो उदाहरणों से यह ज़ाहिर है कि प्राकृतिक बाधायें भी राष्ट्रीयता मे रुकावट होती हैं।

यूरप में स्पेन और पुर्तगाल पास ही पास बसे हुये हैं। उनकी भाषा भी करीब करीब एक ही है। लगभग ६० वर्ष तक दोनों एक ही शासन के अन्तर्गत रहे। दोनों देशों के निवासियों का धर्म भी एक है। फिर भी इनकी राष्ट्रीयता अलग अलग है। इसका मुख्य कारण भौगोलिक परिस्थिति है। प्राकृतिक रुकावट के कारण उनकी राष्ट्रीयता एक नही हो पाती। यह एक कहावत सी हो गई है कि स्पेन और पुर्तगाल अपनी अपनी पीठ फेरे हुये हैं। ठीक यही दशा नार्वे और स्वीडन की है। फिनलैंड और रूस की भी यही दशा है। झीलों और जंगलों का जाल उन्हें अलग किये हुये है। इससे यह साफ ज़ाहिर है कि भौगोलिक परिस्थिति राष्ट्रीयता में काफी बाधक होती है। इसकी वजह यह है कि जब कोई देश किसी प्राकृतिक दीवार से बॅट जाता है तो वहाँ के निवासियों में आपस में सहवास कम हो जाता है। इससे उनकी संस्कृति, रहन सहन तथा इतिहास भिन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनकी राष्ट्रीयता भी एक नहीं रह सकती। जिस भूमि में हम निवास करते हैं, जहाँ का अन्न खाते हैं और वायु तथा जल पीते हैं उसका प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। उसी के कारण हमारा जीवन बनता है।

भाषा और जाति साथ साथ चलते हैं। 'आर्य' शब्द से आर्य भाषा और आर्य जाति दोनो का ज्ञान होता है। जब हम किसी को यह कहते हैं कि यह फारसी

भाषा

है तो इसके कई अर्थ हो सकते हैं। एक तो यह कि यह फारस का रहने वाला है। दूसरा यह कि इसकी ज़बान फारसी है, अरबी और हिन्दी नहीं। भाषा से जातियों का विभेद होता है। एक जाति के लोग आम तौर से एक ही भाषा बोलते हैं। अमेरिका और इंगलैंड के निवासी दोनों ही अंग्रेज़ हैं। दो देशों में रहते हुये भी उनकी भाषा एक है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि एक भाषा के कारण राष्ट्रीयता भी एक ही होगी। अमेरिका और इङ्गलैंड इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। दोनो देशों में एक ही जाति निवास करती है। उनकी भाषा भी एक है। फिरभी दोनों दो राष्ट्र हैं। दोनों की सरकार भिन्न भिन्न हैं। राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीयता के लिये भाषा की एकता पर सबसे अधिक ज़ोर दिया है। उनका कहना है कि जिस देश की भाषा एक नहीं है वह राष्ट्र नहीं बन सकता। प्रान्तीय भाषायें भले ही अलग अलग हो लेकिन उसकी कोई न कोई राष्ट्र भाषा ज़रूर होनी चाहिये। एक भाषा से विचारों में आदान प्रदान होता है। किसी देश के सभी निवासी एक दूसरे को तब तक नहीं समझ सकते जब तक उनकी भाषा एक न हो। हिन्दोस्तान इसका जीता जागता उदाहरण है। हमारे देश में अनेक भाषाये बोली जाती हैं। एक बंगाली हिन्दी नहीं बोल सकता। संयुक्तप्रान्त का निवासी यदि मदरास में चला जाय तो उसकी एक भी बात कोई नहीं समझ सकता। अंग्रेज़ी ही एक ऐसी भाषा है जिसके बल पर हम हिन्दोस्तान का चक्कर लगा सकते हैं। लेकिन यह हमारी कमज़ोरी का सबसे बड़ा नमूना है। हम विदेशी भाषा को राष्ट्र भाषा नहीं बना सकते। इसके द्वारा न तो हम अपने देश को शिक्षित कर सकते हैं और न अपनी संस्कृति की रक्षा ही कर सकते हैं। हमारे देश की ८० प्रतिशत जनता अंग्रेज़ी नहीं सीख सकती। इसीलिये इस देश को एक राष्ट्र बनाने के लिये भाषा की एकता अत्यन्त आवश्यक है।

यदि हम ग़ौर करें तो पता चलेगा कि राष्ट्रीयता भाषा पर काफी निर्भर करती है। हर देश की अपनी अपनी भाषा है। वहाँ के लोग अपनी मातृ भाषा पर बड़ा गर्व करते हैं। एक देश का निवासी कोई विदेशी भाषा तब तक नहीं सीखेगा जब तक वह अपनी मातृभाषा मे काफी माहिर न हो जाय। उसे यह भय

रहता है कि मातृभाषा के नष्ट होते ही उसकी राष्ट्रीयता भी नष्ट हो जायेगी। भाषा ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति पर अपना संस्कार डाल सकते हैं। अपने अन्तःकरण की भावना मातृभाषा मे ही स्पष्ट की जा सकती है। देश में साहित्य की उन्नति मातृभाषा से ही हो सकती है। जर्मन विद्वान फिक्टे (Fichte) लिखता है, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक वस्तु है और इसका सीधा सम्बन्ध भाषा से है।" यदि भारत की राष्ट्रीयता थोड़ी बहुत क़ायम है तो इसकी वजह यह है कि सभी प्रान्तीय भाषाओं मे संस्कृत की पुट है।

राजनैतिक एकता

राजनैतिक एकता राष्ट्रीयता के लिये सबसे आवश्यक अंग है। इसके बिना सभी साधन व्यर्थ हैं। इसकी अनुपस्थिति मे बनी बनाई राष्ट्रीयता भी जीवित नहीं रह सकती। एक राष्ट्र के लिये यह आवश्यक है कि उसकी एक ही सरकार हो। यदि एक ही देश मे दो सरकार क़ायम हो जायँ तो दोनो की राष्ट्रीयता एक नहीं रह सकती। जब तक कोई मुल्क बिखरा हुआ रहता है और सभी प्रान्त वा रियासतें किसी केन्द्रीय सत्ता को नहीं मानती तब तक उस देश मे राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हो सकता। एक कहावत है कि "एक राष्ट्रीयता एक ही राज्य के अन्दर रह सकती है।" राजनैतिक एकता से देश के सभी व्यक्ति एक ही न्याय के सूत्र मे बँध जाते हैं। उनका हानि-लाभ सम्पूर्ण देश की हानि और लाभ से जुट जाता है। देश की रक्षा और उन्नति का भार सब पर एक समान पड़ता है। उनके झगड़े एक ही न्यायालय मे एक क़ानून द्वारा फैसल होते हैं। उनके अधिकार और कर्तव्य एक समान हुआ करते हैं। एक ही सरकार सबको एक दृष्टि से देखती है। राजनैतिक एकता से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक शान्ति रहती है। यदि किसी देश के आधे हिस्से मे शान्ति हो और बाकी हिस्से लूट मार के घर हो तो वह देश एक राष्ट्र बनने का दावा नही कर सकता। हिन्दोस्तान की राष्ट्रीयता अकबर से लेकर औरंगजेब के मरने तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। लेकिन औरंगजेब की मृत्यु के बाद राजनैतिक एकता नष्ट हो गई। सूबो के नव्वाब मनमानी

करने लगे। और काफी अरसे तक यह देश लड़ाई झगड़े का घर हो गया था। जब शान्ति स्थापित हुई और केन्द्रीय शासन दृढ़ होगया तो फिर राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुये। आज जो हमारे देश में राष्ट्रीयता की लहर बह रही है वह इसी राजनैतिक एकता का परिणाम है। जिस देश के निवासी मिल जुल कर अपना काम नहीं कर सकते, और किसी एक को अपना राजा स्वीकार नहीं कर सकते, वे किसी भी देश को एक राष्ट्र में परिणत नहीं कर सकते। एक शासन पद्धति से विचारों मे एकता उत्पन्न होती है।

जब बहुत से लोग एकत्र होते हैं तो स्वाभाविक है कि उनके विचारों मे फरक़ हो। यह स्वाभाविक बात है कि हर व्यक्ति अपना विचार रखता है। उसकी यह भी ख्वाहिश होती है कि वह औरो को भी अपने ही विचारों में ढाले। ऐसी दशा मे बैर विरोध होने की शंका काफी रहती है। जहाँ कहीं सभा समाज हुआ और बहुत से लोग अपनी अपनी राय देने के लिये एकत्र हुये तो उनके विचारो मे फरक पड़ेगा। सभी लोग अपनी राय को ऊँचा समझते हैं। अपना कुत्ता औरो के शेर से प्यारा होता है। पार्टी बन्दी में अच्छी से अच्छी बातो को ठुकरा कर लोग अपनी ही बातों को ऊँचा बनाना चाहते हैं। यह भेद भाव कभी कभी ज़बरदस्त रूप धारण कर लेता है और न केवल एकता में बल्कि शान्ति में भी बाधा पड़ने की आशंका हो जाती है। ऐसी दशा में सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह इन गन्दी बातो को दबा दे ताकि व्यर्थ के मनो मालिन्य बढ़ने न पाये। सरकार को व्यक्ति के लाभ की उतनी चिन्ता नहीं होती जितनी समूचे देश की उन्नति की। सरकारी व्यवस्था जहाँ ढीली हुई कि लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये राज्य की परवाह नहीं करते। यह सरकार की ही सत्ता है जो छोटी छोटी बातो को दबा कर अमन वो अमान के अतिरिक्त लोगों का ध्यान बड़ी बड़ी बातों की ओर लगाती है। इसी के प्रताप से लोग अपने आप को सुरक्षित समझते हैं। तभी उनका ध्यान एकता के बड़े बड़े पहलुओ की ओर जाता है। राष्ट्रीयता इन्हीं एकताओ के लिये यौगिक शब्द है।

इतिहास

इतिहास को लोग मरे हुये आदमियों की कहानी बतलाते हैं। कुछ लोग इसे घटनाओ का चक्कर कहते हैं। लेकिन इतिहास की यह व्याख्या न केवल ग़लत है बल्कि हानिकारक भी है। जो देश अपना इतिहास नहीं रखता वह असभ्य और जंगली है। यही एक ऐसा विषय है जो हमारे भूतकाल का सच्चा चित्र खींच कर हमारे सामने रखता है। इसी के सहारे हम वर्तमान ज़माने का महत्व समझते हैं। हमारा भविष्य भी हमारे पिछले इतिहास पर ही बना करता है। इतिहास की जड़ इतनी मज़बूत होती है और इसका सम्बन्ध अपने देश वासियों से इतना घनिष्ठ होता है कि न तो इसे कोई हिला सकता है और न तोड़ सकता है। प्रत्येक राष्ट्र का एक इतिहास होता है जिसमे उसके पूर्वजो की उज्वल कीर्ति स्वर्णाक्षरों में अंकित रहती है। इतिहास किसी जाति विशेष की एकता का सही सही कारनामा है। हज़ारों आदमी भिन्न भिन्न देशों से आकर यदि किसी मैदान में बस जायँ तो वे एक राष्ट्र नहीं बना सकते। न तो उनकी रहन सहन एक हो सकती है और न वे अपने आप को भाई भाई समझ सकते हैं। उनका इतिहास अलग अलग होने से वे एक दूसरे से भिन्न समझते हैं। इतिहास कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बरस दो बरस मे बन जाता है। इसके लिये सदियो की आवश्यकता होती है। जब हज़ारों वर्ष तक किसी देश के निवासी एक साथ रह लेते हैं तब उनका एक इतिहास बनता है और फिर उनमे अनेक एकतायें पैदा होती हैं। अधिक काल तक एक साथ निवास करने से भाई चारे का बर्ताव हो जाता है जिससे उनकी उन्नति अवनति एक दूसरे पर मुनहसर हो जाती है। किसी देश का इतिहास यह साफ साफ ज़ाहिर करता है कि उसमे आरम्भ से अब तक कितने महापुरुष पैदा हुये और किस सीमा तक उन्होने देश को आगे बढ़ाया। इतिहास यह भी बतलाता है कि देश पर कितनी विपत्तियाँ आईं और उनका क्या प्रतिकार किया गया। इस प्रकार हर देश का इतिहास सेवा और त्याग से ओत प्रोत रहता है। जिस देश के इतिहास में इसकी कमी है वह एक ऊँचा राष्ट्र कहलाने का हकदार नहीं है। इन कारनामों से न केवल भूत काल की एकता का ज्ञान होता है बल्कि वर्तमान परिस्थिति

भी साफ साफ समझ मे आ जाती है। वह देश अपनी खोई हुई ताकत को पुनः प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठता है। उसे फिर वहीं पहुँचने की अभिलाषा होती है जहाँ उसका देश अपने स्वर्ण युग में पहुँचा रहता है। यही अभिलाषा राष्ट्रीयता कहलाती है। भूतकाल का दिग्दर्शन हम वर्तमान मे कैसे करें यह सबक हमे इतिहास से ही मालूम होता है। राष्ट्रीयता इसी का परिणाम है।

राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित स्थान की भी आवश्यकता है। राष्ट्रीयता किसी देश का नहीं बल्कि वहाँ के निश्चित देश निवासियो का गुण है। इसलिये यह आवश्यक है कि कुछ लोग अधिक काल तक एक ही स्थान पर निवास करे। जंगली जातियाँ इधर से उधर घूमती रहती हैं। उनका न तो कोई घर होता है और न अपना देश ही। परिणाम यह होता है कि वे काफी तादाद में रहते हुये भी एक राष्ट्र नहीं बना सकते। अधिक काल तक एक जगह रहने से उनका एक इतिहास हो जाता है। रसम-रवाज, खान-पान, वेष-भूषा इन सबमें एकता उत्पन्न हो जाती है। एक की भलाई बुराई सब के साथ जुट जाती है। सबका कोई न कोई सम्बन्ध हो जाता है। वहाँ का प्राकृतिक वायुमंडल सबको एक ढाँचे मे ढाल देता है। सबके ऊपर एक सा सस्कार पड़ता है। इससे उनकी संस्कृति भी एक हो जाती है। इन सब एकताओ से राष्ट्रीयता की उत्पत्ति होती है। कभी कभी तो एकता का भाव इस हद तक पहुँच जाता है कि देश की हस्ती भले ही मिट जाय लेकिन वहाँ के निवासियो की राष्ट्रीयता बनी रहती है। उनकी राजनैतिक एकता टुकड़े टुकड़े हो जाय, वहाँ के निवासी विदेशो मे उठाकर फेक दिये जायँ, उन्हें लोग हकीर और नाचीज़ समझने लगें, फिर भी उनकी राष्ट्रीयता नष्ट नहीं की जा सकती। यहूदी क़ौम इसका एक उदाहरण है। न तो इस कौम के पास अपना देश है और न इनका कोई राजनैतिक सगठन है फिर भी इसकी राष्ट्रीयता ज़िन्दी है। इनके ऊपर काफी तकलीफे आई और यदि वे चाहते तो अपने को किसी दूसरी राष्ट्रीयता में बदल लिये होते लेकिन पिछला संस्कार इस क़दर मज़बूती से इन्हें पकड़े हुये है कि इनकी एकता अब तक नष्ट नहीं हुई। इस उदाहरण से तो यही नतीजा

निकलता है कि राष्ट्रीयता के लिये एक निश्चित देश का होना कोई आवश्यक नही है। लेकिन यहूदियो का यह उदाहरण केवल अपवाद है। इसे हम कोई नियम नहीं मान सकते। एक निश्चित देश के बिना जैसे राज्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी तरह राष्ट्रीयता भी इसके बिना पैदा नही हो सकती। एक निश्चित स्थान पर बहुत से लोगो मे पहले सामाजिक संगठन उत्पन्न होता है। फिर उनमे राजनैतिक एकता होती है और तब उसमे राष्ट्रीयता का जन्म होता है।

सम्मिलित स्वार्थ भी राष्ट्रीयता की उत्पत्ती मे और विशेष कर इसे आगे बढ़ाने मे काफी सहायक होता है।

सम्मिलित स्वार्थ

किसी देश के अधिकतर लोग आपस में आर्थिक लाभ की दृष्टि से मिले जुले रहते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त उनके और भी स्वार्थ हो सकते है। ये लाभ उन्हे इतने अमूल्य और आवश्यक मालूम पड़ते हैं कि वे इन्हें बनाये रखने के लिये देश की बड़ी से बड़ी विरोधी शक्ति का मुका-बिला करने को तैयार रहते हैं। इसी सम्मिलित स्वार्थ के लिये देश के सारे व्यक्ति अपने आप को एक समझते है। इसी के लिये वे सरकार की आज्ञा का पालन करते हैं और हर प्रकार से शान्ति बनाये रखने मे उसकी सहायता करते है। साधारण लोग अपने आपको एक सूत्र में केवल इसी लिये बाँधे रहते है कि उन्हे एक दूसरे से लाभ पहुँचता है। इसमे कोई शक नहीं कि राष्ट्रीयता के अन्दर सम्मिलित स्वार्थ का एक बहुत बड़ा अंश होता है। देशभक्ति मे अपनी भी भलाई छिपी है। जब समूचे देश का कल्याण होगा तो उसी मे हर व्यक्ति का भी कल्याण छिपा है। समूचे देश की उन्नति के मानी हैं कि हर व्यक्ति उसमे उन्नतिशील है। देश की मर्यादा का श्रेय वहाँ के एक एक व्यक्ति पर निर्भर रहता है। हर व्यक्ति यह जानता है कि यदि राष्ट्र की शान्ति मे बाधा पड़ेगी तो उसका भी घर सुरक्षित नहीं रह सकता। सन् १७०७ ई० मे इङ्गलैण्ड और स्काटलैंड दोनो एक राष्ट्र बन गये। उनकी सरकार एक होगई और वहाँ के निवासियो ने अपनी पिछली हरकतो को भुला दिया। इसका एक मात्र कारण यह था कि दोनों देशो का इसमे सम्मिलित स्वार्थ था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ मे

यूरप के तमाम राष्ट्रों की यह ख्वाहिश थी कि जापान उनकी राष्ट्रीयता को अपना ले। वे ऐसा क्यों चाहते थे? इसी लिये कि उनका सम्मिलित स्वार्थ था। यूरप के विभिन्न देशो की राष्ट्रीयता आज खतरे मे है। सम्मिलित स्वार्थ पर धक्का पहुँचने का काफी अन्देशा है। इसी की रक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। शान्ति सभा (The League of Nations) इस सम्मिलित स्वार्थ की रक्षा का सतत प्रयत्न करती रहती हैं।

क्या राष्ट्रीयता धर्म है?

धर्म और राष्ट्रीयता दोनों दो चीज़े हैं। एक का दूसरे से कोई खास सम्बन्ध नहीं है। उन्नीसवीं सदी के पहले लोग राष्ट्रीयता पर उतना ज़ोर नहीं देते थे जितना धर्म पर। धर्म के लिये वे सब कुछ न्यौछावर करने पर तैयार रहते थे। धर्म की ही रक्षा के लिये वे विदेशियो के आक्रमण का मुक़ाबिला करते थे। धर्म के प्रचार के लिये वे और देशो पर हमले भी करते थे। मध्ययुग मे योरप मे धर्म के लिये कई सौ वर्षों तक घमासान युद्ध होते रहे। यूरप के धर्म युद्ध (Crusade) संसार के इतिहास मे प्रसिद्ध है। शायद ही कोई देश ऐसा था जिसमे धर्म के लिये युद्ध न हुआ हो। ख़ुद इंगलैंड इसका शिकार हुये बिना न रह सका। मेरी ट्यूडर के समय मे तो ४०० आदमी ज़िन्दे इसी लिये जला दिये गये थे कि वे एक ख़ास मज़हब को मानने के लिये तैयार न थे। लोगो को अपने धर्म की इतनी चिन्ता रहती थी कि वे देश की अन्य बातो से उसे बड़ा समझते थे। धर्म के अलावे राजनीति कोई चीज़ न थी। राष्ट्रीयता का तो कोई नाम भी नही जानता था। शिक्षा के प्रचार से और विज्ञान की उन्नति से लोगो का विचार बदला। वे धर्म के असली स्वरूप को पहचानने लगे। उन्हे यह ज्ञात हुआ कि जब तक धर्म का चक्कर उनका पीछा न छोड़ेगा तब तक उनका देश उन्नति नही कर सकता। इस लिये उन्नीसवीं सदी में धर्म एक गौण वस्तु रह गया। लोग इसे व्यक्तिगत विश्वास की चीज़ समझने लगे। धर्म का स्थान राष्ट्रीयता ने ले लिया। हर देश को एक मज़बूत राष्ट्र बनने की इच्छा हुई। बीसवीं सदी के आरम्भ तक लगभग सभी देश राष्ट्र बन गये और धर्म का दौरदौरा एक दम लोप हो गया। पहले लोगों का यह ख़याल था कि धर्म की एकता

से ही देश उन्नति कर सकता है। लेकिन बाद में उन्हें मालूम हुआ कि राष्ट्रीयता धर्म से अच्छी चीज़ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक ही चीजें हैं। धर्म एक विश्वास की चीज़ है, लेकिन राष्ट्रीयता एक भावना है। धर्म में ऊपरी आचार विचार की आवश्यकता होती है, किन्तु राष्ट्रीयता इन सबसे वंचित है। इतनी एकता ज़रूर है कि विभिन्न धर्मावलम्बी एक ही राष्ट्र के अन्तर्गत रह सकते हैं। उन्नीसवीं सदी के पहले जहाँ धर्म के नाम पर एकता उत्पन्न की जाती थी वहाँ अब राष्ट्रीयता को स्थान दिया गया है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि राष्ट्रीयता ही बीसवीं सदी का धर्म है। हमारे देश में धर्म के लिये हिन्दू और मुसलमान कभी कभी आपस मे लड़ जाते हैं। इसकी वजह यही है कि वे राष्ट्रीयता को नहीं समझते। दोनों जमातों के बुद्धिमान लोग इसे दिल से बुरा समझते हैं।

राष्ट्रीयता की कसौटी

यह सीधा सा सवाल है कि हम राष्ट्रीयता को कैसे पहचानें। कौन सी ऐसी सनाख़ है जिससे हम यह कह सकें कि अमुक देश मे राष्ट्रीयता है और अमुक में नहीं है। ऊपर जिन अंगों का वर्णन किया गया है वे किसी भी राष्ट्र के लिये आवश्यक हैं। लेकिन यह भी देखा गया है कि उनकी अनुपस्थिति मे भी राष्ट्रीयता कायम रह सकती है। एकता राष्ट्रीयता की कसौटी है (Solidarity is the essence of nationality)। जिस देश के लोगों की एक राष्ट्रभाषा है, जिनका एक इतिहास है, और जो एक ही राजनैतिक सूत्र में बँधे हुये हैं वे अपने देश को राष्ट्र कह सकते हैं। जहाँ पग पग पर एकता दिखलाई पड़े वहीं राष्ट्रीयता का निवास होता है। विषमता और राष्ट्रीयता इन दोनो में शत्रुता है। जिस देश में अधिक से अधिक एकता की भावना है और जहाँ के लोग देश के लिये सब कुछ करने पर तैयार रहते हैं वहीं राष्ट्रीयता जीवित रह सकती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ किसी प्रकार की विषमता रहती ही नहीं। विषमता रहती ज़रूर है लेकिन लोगों का ध्यान उनकी ओर न जाकर एकता की ही ओर लगा रहता है। स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता की दूसरी कसौटी है। ग़ुलाम देश राष्ट्र कभी भी नहीं बन सकता। जब तक देश का प्रत्येक निवासी अपने अन्दर

पूरी आजादी महसूस नही करता तब तक राष्ट्रीयता नहीं आ सकती। जिस देश के निवासियों में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वे अपना शासन स्वयं कर सके, वे राष्ट्रीयता ऐसी बड़ी चीज़ को हासिल नही कर सकते। किसी देश की राष्ट्रीयता की परीक्षा वैसे तो अकसर होती रहती है लेकिन सबसे बड़ी परीक्षा उस वक्त होती है जब उस पर कोई बाहरी हमला होता है। जब देश का बच्चा बच्चा उसका मुकाबिला करने पर तैयार रहता है तो वहाँ की राष्ट्रीयता सराहनीय समझी जाती है। राष्ट्रीयता की तीसरी कसौटी किसी देश के निवासियों का त्याग और उनके अन्दर सेवा की भावना है। जिस देश में अधिक से अधिक सेवक और त्यागी उत्पन्न होते हैं वहाँ की राष्ट्रीयता भी दृढ़ होती है। राष्ट्रीयता और देशभक्ति दोनो एक ही अर्थ रखते हैं। देशभक्ति राष्ट्रीयता का वाह्य स्वरूप है। यह बात असम्भव है कि किसी देश मे राष्ट्रीयता हो किन्तु वहाँ के लोगो मे देश के प्रति प्रेम न हो।

राष्ट्रीयता का विनाश

जब कि राष्ट्रीयता एक भावना है तो इसका अन्त भी कभी न कभी हो सकता है। मनुष्य के विचार बदलते रहते हैं। इसी के साथ साथ उसकी स्थापित संस्थाये भी बदलती रहती हैं। थोड़े बहुत परिवर्तन से राष्ट्रीयता ढीली पड़ सकती है, लेकिन इसका सर्वनाश नही हो सकता। इसके नाश का मूल कारण आपस का अविश्वास होता है। जब किसी देश के लोगो मे आपस मे अवि-श्वास उत्पन्न हो जाता है तो उनके अन्दर स्वार्थ की मात्रा बढ़ जाती है। आपस में लड़ाई झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। लोग एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगते हैं। छोटी छोटी बातो मे फरक दिखलाई पड़ने लगता है। प्रान्तीयता के भाव इतने जोर पकड़ लेते हैं कि केन्द्रीय शासन कमज़ोर हो जाता है। लोगो के दृष्टिकोण संकुचित हो जाते हैं। उन्हें अपने ही काम से काम रहता है। उस देश मे सेवको और त्यागियों का नाम भी नही रह जाता है। किसी भी सामाजिक झगड़ो अथवा राजनैतिक उथल-पुथल के कारण उनके टुकड़े टुकड़े हो जाने की सम्भावना रहती है। देश में कोई जीवन नहीं रह जाता। सार्वजनिक कामो की ओर लोगो का ध्यान नहीं जाता। उनके अन्दर एक प्रकार की काहिली पैदा हो

जाती है, जिसके कारण उनके चेहरे पर उदासी सी छा जाती है। उन्हें अपनी ही संस्कृति आकर्षित नहीं करती। वे विदेशी रहन-सहन के शिकार हो जाते हैं। उनके अन्दर आत्म-विश्वास की कमी हो जाती है। राजनैतिक संगठन रहते हुये भी वहाँ सामाजिक अराजकता छा जाती है। लोग न्याय अन्याय की परवाह न कर अपना हीं स्वार्थ साधन करना चाहते हैं। सभी प्रकार के अधिकारो का दुरुपयोग होने लगता है और लोग अपने कर्तव्यों को भूल जाते है। जहाँ इस प्रकार की अव्यवस्था पैदा हो जाती है वहाँ राष्ट्रीयता जीवित नहीं रह सकती। बड़ा से बड़ा राष्ट्र भी पतन के गड्ढे मे गिर जाता है। आपस की फूट राष्ट्रीयता को समूल नष्ट कर देती है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि राजनैतिक शक्ति की कमजोरी के कारण भी देश की राष्ट्रीयता नष्ट हो जाती है। शासन की बागडोर ढीली होते ही, सभी सामाजिक बन्धन छिन्न भिन्न होने लगते हैं। लोगो को अपनी रक्षा की ही धुन सवार हो जाती है। बड़ी बड़ी बातों की ओर उनका ध्यान जा ही नहीं पाता।

क्या भारतवर्ष एक राष्ट्र है ?

भारतवर्ष की आधुनिक परिस्थिति से यह साफ जाहिर है कि यह देश एक राष्ट्र नहीं है। यह राष्ट्र कहलाने के क़ाबिल जरूर है लेकिन यहाँ राष्ट्रीयता का अभाव है। इसके कई वजूहात हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह देश ग़ुलाम है। जबकि दुनिया का छोटा से छोटा मुल्क आज आज़ाद है; वह अपनी स्वतन्त्रत राजसत्ता रखता है; वहाँ हिन्दोस्तान की ४० करोड़ जनता ग़ुलामी की जंजीर मे जकड़ी हुई है। यहाँ के निवासियों मे उस शक्ति का अभाव है जिससे वे विदेशी राज्य को दूर कर स्वतन्त्र राज्य कर सके। विदेशी राज्य से भी भयंकर बात विदेशीपन है जो हिन्दोस्तानियो पर चढ़ता जा रहा है। हमारे देश में काफी तादाद ऐसे लोगों की है जो सभी प्रकार से विदेशी हैं। उन्हे यहीं की रहन सहन से घृणा है। उनका अधिकतर समय या तो विदेशों मे कटता है या अपने देश की टीका टिप्पणी मे। अपने ही देश के सारे रसम रवाज उन्हें बुरे लगते हैं।

यही कारण है कि वे हिन्दोस्तान मे रहते हुये भी अपने को

हिन्दोस्तानी कहने में हिचकते हैं। अपने ही देशवासियों के साथ मिलने जुलने मे उन्हें हिकारत महसूस होती है। जो देश इस प्रकार के ऊँच नीच भावों से भरा होगा वहाँ राष्ट्रीयता एक स्वप्न है। हिन्दोस्तान में कई जातियाँ और सम्प्रदाय रह रही हैं। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई ये सभी अपने को एक दूसरे से अलग समझते हैं। ख़ुद हिन्दुओ में कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हे हिन्दू ही अछूत समझते हैं। ये जातियाँ अपनी अपनी रक्षा और अधिकारों के लिये आपस मे लड़ती रहती है। उन्हें यह ध्यान नहीं है कि जब तक सारे देश की उन्नति न होगी तब तक उनकी भी उन्नति नहीं हो सकती। जब तक इन जातियो के अन्दर अपने आप को भारतीय होने का गर्व न होगा तब तक आपस का मन मुटाव दूर नहीं हो सकता। यह बड़ी गन्दी बात है कि एक क़ौम दूसरे को छोटा समझे और उसे दबाने की कोशिश करे। हर मामला जाती नहीं होना चाहिये। ज्यादातर बातें समूचे देश की भलाई के लिये होती हैं। ऐसे अवसरो पर हर एक का फर्ज़ है कि वह अपने को एक देश का बासिन्दा समझ कर मुल्क की उन्नति करे। हिन्दोस्तान एक सोने की चिड़िया है। लेकिन यह बात तभी ठीक हो सकती है जब हर क़ौम का बच्चा बच्चा अपने को हिन्दोस्तानी कहे। बड़े शर्म की बात है कि हमें इतना भी ढंग आज तक नही आया कि मिल जुल कर कैसे आपस मे रहना चाहिये। साम्प्रदायिक झगड़े मुल्क की राष्ट्रीयता को जहन्नुम में डाल देंगे। यदि हमे हिन्दोस्तान को राष्ट्र बनाना है तो सबको अपना भाई समझना चाहिये और ऊँच नीच का भाव दूर कर देना चाहिये।

हिन्दोस्तान मे अनेक भाषायें हैं, लेकिन अंग्रेज़ी को छोड़ कर कोई ऐसी भाषा नहीं है जिसे हम अपनी मातृभाषा कह सके। राष्ट्रीयता में यह एक सबसे बड़ी कमी है कि हम एक राष्ट्र भाषा भी नहीं बना सकते। अपनी भाषा से ही हम अपने विचारो को व्यक्त कर सकते हैं। इसी से हमारे संस्कृति की रक्षा भी हो सकती है। जब तक हिन्दोस्तान में एक राष्ट्र भाषा नहीं होगी तब तक प्रान्तीयता का भाव दूर नहीं हो सकता। आज कल इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है कि हिन्दी या हिन्दोस्तानी को राष्ट्र भाषा बनाया जाय। इसमें अभी कुछ समय लगेगा। लेकिन काम बड़े ज़ोरों से

हो रहा है और आशा है चन्द वर्षों मे इस देश की एक अपनी राष्ट्रभाषा हो जायगी। एक सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह देश अपनी कोई राष्ट्रीय वेष भूषा तक नहीं रखता। हमारा खाना पीना तक विदेशी पन से ख़ाली नहीं है। पोशाक मे न तो हम अंग्रेज रह गये हैं और न हिन्दोस्तानी। कभी हमारी पोशाक फारसी होती है, कभी अंग्रेज़ी और कभी अमेरिकन। इस नक़ल को भी हमे दूर करना होगा। मै यह मानता हूँ कि खाने पीने और पहनने मे लोगो को पूरी स्वतन्त्रता रहनी चाहिये, फिर भी उन्हें एक ऐसी पोशाक ज़रूर अपनानी चाहिये जिसे ज्यादा से ज्यादा लोग हर समय पहन सके। यूरप के लोगो मे पोशाक की राष्ट्रीयता कूट कूट कर भरी हुई है। इतने गरम देश मे वे गर्मी मे भी मोजा पहनते हैं। वे जल कर भी सामाजिक नियमो की अवहेलना नहीं करते। हम भारतीयो मे इसकी कमी है। हमारा ध्यान पहले दूसरों की नक़ल पर जाता है, फिर अपनी ओर। काँग्रेस ने इस पर काफी जोर दिया है और खद्दर को राष्ट्रीय वस्त्र माना है। उसने अपने एक प्रस्ताव में यह साफ साफ एलान कर दिया है कि जो हिन्दोस्तानी अपने को भारतीय राष्ट्र का सदस्य समझता है उसका यह फर्ज़ है कि वह खद्दर की ही पोशाक पहने। इसमे कोई सन्देह नहीं कि खद्दर से हमारी राष्ट्रीयता बढ़ रही है।

हिन्दोस्तान मे पेशे भी नीच और ऊँच समझे जाते हैं। जो मजदूर है और मज़दूरी करके अपना गुज़र करता है वह एक आफिस मे काम करने वाले बाबू से छोटा समझा जाता है। जो बाज़ार मे जूते की दूकान करता है उसका दर्जा मिठाई बेचने वाले से छोटा गिना जाता है। भंगी, जो समाज मे सबसे बड़ा सेवक होने का दावा रखता है, भारतीयो के लिये अछूत है। उसे छूना भी लोग पाप समझते है। इसी तरह और भी बहुत से पेशे है जिन्हें हम लोग नीच कह कर पुकारते है। लेकिन अगर ग़ौर से देखा जाय तो पता चलेगा कि इन पेशो के बग़ैर हमारा काम एक दिन भी नहीं चल सकता। अगर इन्ही को हम छोटा समझते है तो यह हमारी बेवकूफी है। यूरप के देशो मे पेशे के कारण कोई व्यक्ति समाज मे छोटा या बड़ा नही गिना जाता। सभी आज़ादी के साथ एक दूसरे से मिलते जुलते है। और बात भी ऐसी ही होनी

चाहिये। जो काम हमारे लिये जरूरी हैं उन्हीं के करने वालों से हम प्रेम के बदले घृणा करें तो यह नादानी नहीं तो और क्या है ? इसीलिये संसार का सबसे बड़ा महापुरुष महात्मा गाँधी स्वयं अपना शौच साफ करते हैं। वे यह दिखला देना चाहते हैं कि जब तक हिन्दोस्तानियों में हर एक को अपना भाई कहने का अभिमान न होगा तब तक इस मुल्क का कल्याण नहीं हो सकता। इसी तरह की और भी सामाजिक कमज़ोरियाँ देश की उन्नति को रोके हुये हैं। इधर कुछ वर्षों से राष्ट्रीयता की लहर इस देश मे बड़े ज़ोरों से बह रही है। सामाजिक कुरीतियों को दूर किया जा रहा है और एकता तथा समानता के भाव लाये जा रहे हैं। इस दिशा में काफी उन्नति हो रही है। हिन्दोस्तान की राष्ट्रीयता मे आवागमन के साधन भी रुकावट डालते हैं। अब भी हमारे देश में ऐसे गाँव हैं जहाँ न तो कोई सड़क गई है और न स्टेशन ही पास है। इससे वहाँ के लोग नये विच.रों के सम्पर्क मे नहीं आने पाते। अच्छे अच्छे सुधारक वहाँ पहुँच ही नहीं पाते हैं। अब धीरे धीरे यह कमी भी दूर होती जा रही है। ये सभी काम अभी हो रहे हैं और कुछ वर्षों मे हिन्दोस्तान एक बहुत ही सुसंगठित राष्ट्र बनने जा रहा है। कृषि-प्रधान देश होने से इस देश की राष्ट्रीयता यूरप से भिन्न होगी। साथ ही यहाँ की सभ्यता और संस्कृति भी औरो से भिन्न है। इसलिये हमारी राष्ट्रीयता कई मानी में औरों से अलग होगी। महात्मा गाँधी ने इस राष्ट्रीयता का आधार अहिंसा और सत्य बतलाया है। यदि लोगो ने इसे समझा और इन्हीं दोनो पर भारतीय राष्ट्र की दीवार खड़ी कर दी गई तो इसमे कोई शक नहीं कि यह एक आदर्श राष्ट्र होगा। दुनिया के और राष्ट्र इसी की नकल करेंगे।

राष्ट्रीयता का भविष्य

ऊपर कहा गया है कि वर्तमान युग में राष्ट्रीयता ही एक धर्म होगया है। अतएव जो अत्याचार धर्म के नाम पर किये जाते थे वे सब राष्ट्रीयता के हवाले कर दिये गये हैं। हर देश के अन्दर यह हवा बह रही है कि वही दुनिया में सबसे बढ़कर हो। उसी के पास सबसे बड़ी फौज हो, सबसे ज्यादे जंगी जहाज़ हो, और भयंकर से भयंकर हथियार हों। संसार के सभी बड़े बड़े

राष्ट्र इसी ओर प्रयत्न कर रहे हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि इनका भविष्य क्या होगा ? जब आसमान-लाल होता है और हवा बन्द हो जाती है तो यह अन्दाज़ लगाया जाता है कि आंधी आयेगी। और यह अनुमान बहुत कुछ ठीक निकलता है। इसी तरह दुनिया की हरकत को देखते हुये हम यह अन्दाज़ कर सकते हैं कि इन राष्ट्रो का भविष्य कैसा है। इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि मौजूदा राष्ट्रीयता एक ख़तरनाक चीज़ है। हर राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ा रहा है। लड़ाई बाल बाल टलती जा रही है। किसी भी दिन विश्वव्यापी युद्ध छिड़ सकता है। इसके इक्के दुक्के निशाना अभी से दिखलाई पड़ रहे है। इसी लड़ाई के साथ साथ इस राष्ट्रीयता का भी वारा न्यारा हो जायगा। वह कभी भी इस रूप में ज़िन्दी नहीं रह सकती। उसने अपने देश वासियों को शराब से भी पागल बना दिया है। सभ्यता के नाम पर ही वह ज़िन्दी है, वरन् कभी का उसका अन्त हो गया होता। मौजूदा राष्ट्रीयता अर्थ लोलुपता की खानि है। वह किसी भी प्रकार से शक्ति का संचय करना चाहती है। और वह शक्ति कोई आध्यात्मिक वा मानसिक नहीं है, बल्कि पैशाचिक है। उसका दारोमदार तलवार और तोप पर है। फिर हम यह क्यो न कहें कि आधुनिक युग की राष्ट्रीयता राक्षस से भी बदतर है। यदि हम अपने देश मे इसीलिये एकता चाहते है कि औरों को दबाया जाय; अगर हमारी शक्ति संचय का मक़सद दूसरों को ग़ुलाम बनाना है; अगर हमारी मनसा अच्छी से अच्छी सभ्यता को दबा कर अपनी ही पैशाचिक प्रवृत्ति का प्रचार करना है; तो मै दावे के साथ यह कह सकता हूँ कि मौजूदा राष्ट्रीयता का विनाश होगा और इसकी जगह कोई दूसरी चीज़ लानी होगी। बहुत मुमकिन है, इसी राष्ट्रीयता का रूप बदल कर इसे प्रेम और शान्ति का जामा पहना दिया जाय।

राष्ट्रीयता की मौजूदा प्रगति को देखते हुये बड़े बड़े राजनीतिज्ञों का भी यह कहना है कि इसके बदले कोई दूसरी चीज़ लानी चाहिये। इसीलिये बीसवी सदी में अन्तर्राष्ट्रीयता का सूत्रपात हुआ है। इसका मक़सद यह है कि लोगो मे विश्व-बन्धुत्व का भाव बढ़े। वे अपने देश की उन्नति वहीं तक चाहे जहाँ तक दूसरे

देश की उन्नति में बाधा न पड़े। सम्पूर्ण समाज एक इकाई है इसलिये दुनिया को टुकड़े टुकड़े करके और फिर उनके आपस में टकराने से काम नहीं चल सकता। जैसे किसी बड़े से बड़े राष्ट्र के अन्दर प्रान्तीयता की भावना हानिकर होती है उसी तरह मौजूदा राष्ट्रीयता विश्व की शान्ति में बाधा पहुँचा रही है। इसलिये राष्ट्रीयता का भविष्य अन्धकारमय है। यही अन्तर्राष्ट्रीयता अन्त में अपना प्रभाव डालेगी। शान्ति सभा (The League of Nations) की स्थापना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये की गई है। संसार के कुछ राष्ट्र अभी राष्ट्रीयता के ही नशे में चूर हैं और उन्हें शान्ति सभा की बात मान्य नहीं है, लेकिन अन्त में वे पश्चाताप करेंगे और इसी सभा द्वारा अपनी भलाई चाहेंगे। जब तक हर देश अपनी अपनी खँजड़ी बजाता रहेगा और वह अपने ही सरीखे दूसरे देशों की उन्नति पसन्द नहीं करेगा तब तक न तो संसार में शान्ति रह सकती है और न कोई सभ्यता ही जीवित रह सकती है। इसलिये हमें स्वदेशी और विदेशी का भाव धीरे धीरे मिटाना चाहिये। हर इन्सान, चाहे वह दुनिया के उत्तर में रहता है या दक्खिन में, भाई भाई है। सब का दुख और तकलीफ बराबर है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मौजूदा राष्ट्रीयता इन गुणों से सर्वथा वंचित है। इसीलिये यह स्थायी नहीं रह सकती। ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ यह बात ठीक मालूम हो रही है कि मनुष्य मात्र को अपना भाई समझना चाहिये। प्रजातन्त्रवाद की वृद्धि इसमें और भी सहायता पहुँचा रही है।

अध्याय १४

राज्य के अन्तिम उद्देश्य

राज्य का अन्त—दो मार्ग—एक भ्रम—

(क) व्यक्तिवाद :—तात्पर्य—व्यक्तिवाद और १६ वीं सदी—वेन्थम—मिल—स्पेन्सर—अदम स्मिथ—व्यक्तिवाद का आधार—व्यक्तिवाद की कमज़ोरियाँ—व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्रवाद—वर्तमान रुख़ ।

(ख) समाजवाद :—विषय प्रवेश—परिभाषा—समाजवाद का इतिहास—वैज्ञानिक समाजवाद—इतिहास का आर्थिक पहलू—वर्गवाद—शारीरिक परिश्रम का मूल्य—समाजवाद के गुण और दोष—हिन्दोस्तान और समाजवाद ।

राज्य का अन्त

अब तक राज्य की आवश्यकता और इसके संगठन का वर्णन किया गया है । अब हमें यह भी देखना चाहिये कि राज्य का अन्तिम उद्देश्य क्या है । क्यों हम राज्य के नियमों का पालन करते हैं ? जैसे मनुष्य के हर काम का कोई न कोई उद्देश्य होता है उसी तरह राज्य भी विना किसी निश्चित उद्देश्य के नहीं टिक सकता । हर संगठन, हर जमात और हर व्यक्ति अपना कोई न कोई लक्ष सामने रख कर आगे कदम बढ़ाता है । यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाय कि उसका अन्तिम उद्देश्य क्या है तो वह यही कहेगा कि 'सुख' । 'सुख' विना पूर्ण स्वतन्त्रता के नहीं मिल सकता । इसलिये व्यक्ति का सतत परिश्रम इसी लिये जारी रहता है कि वह पूरी आज़ादी के साथ जीवन व्यतीत कर सके । न तो उसके जीवन मार्ग में कोई रुकावट पड़े और न किसी वस्तु की उसे कमी हो । ठीक यही उद्देश्य राज्य का भी होता है । कारण यह है कि राज्य व्यक्ति से कोई अलग वस्तु नहीं है । व्यक्ति के मस्तिष्क का बाह्यरूप ही राज्य कहलाता है । राज्य व्यक्ति की ही रचना है । इसलिये कोई भी मनुष्य ऐसी चीज़ का कभी भी निर्माण नहीं कर सकता जिसका

उद्देश्य उसके उद्देश्य से भिन्न हो। ऐसा करना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है। अतएव यह निश्चित है कि मनुष्य और राज्य दोनों का उद्देश्य एक है और वह है पूर्ण स्वतन्त्रता। अब प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण स्वतन्त्रता के बाद राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायगी। इसका उत्तर साफ यह है कि फिर राज्य का रहना और न रहना दोनों बराबर होगा। लेकिन एक बात यह भी याद रखनी चाहिये कि वह पूर्ण स्वतन्त्रता कभी आयेगी या नहीं यह कोई भी नही कह सकता। समाज का कोई भी नियम दृढ़ नहीं है। किस समय यह समाज कौन सा रुख बदलेगा यह कोई भी नहीं जानता। आज ही कोई छोटी सी घटना ऐसी हो सकती है जो हमारे लिये बिलकुल नाचीज़ है, लेकिन आज से ५० वर्ष बाद उसी का प्रभाव समाज पर इतना गहरा पड़ सकता है कि उससे दुनिया की काया पलट हो सकती है। जिस समय १२ मील फी घंटा चलने वाले एक छोटे से इंजन की ईजाद हुई होगी उस समय यह किसी को खयाल भी नहीं रहा होगा कि आगे चलकर यही इंजन विश्व के इतिहास मे क्रान्ति पैदा करेगा। लेकिन हम साफ देखते हैं कि मशीनों के समय से इतिहास का एक नया जमाना शुरू होता है। कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि पूर्ण स्वतन्त्रता मनुष्य के लिये एक मृगतृष्णा है। वह कभी उसे हासिल होने वाली चीज़ नही है। परन्तु कुछ लोग इसकी आशा करते हैं।

दो मार्ग

यह बात सर्व-सम्मति से निश्चित है कि पूर्ण स्वतन्त्रता राज्य का अन्तिम उद्देश्य है। अर्थात् जिस दिन प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करने लगेगा उस समय राज्य की अन्तिम इच्छा पूरी हो जायगी। यह समय कब आयेगा इसे कोई नहीं जानता। इतना जरूर है कि मनुष्य उसी दिशा मे बढ़ता चला जारहा है। किसी भी लक्ष पर पहुँचने के लिये कई मार्ग हो सकते हैं। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता तक पहुँचाने मे नहीं मालूम कितने रास्ते निकाले गये और भविष्य मे कितने ही नये रास्ते निकाले जायँगे। मानव शास्त्र का जितनी गहराई के साथ अध्ययन किया जा रहा है उतने ही नये नये रास्ते निकलते जारहे हैं। अब तक जितने भी मार्ग निकाले गये हैं उन सब में दो मार्ग प्रसिद्ध है। या हम यह भी कह

सकते हैं कि सभी मार्ग लगभग इन्हीं दोनों रास्तों से मिलते जुलते हैं। इन्हीं दोनों मार्गों को दो सिद्धान्त कहा गया है। मार्ग और सिद्धान्त में यहाँ अन्तर इसलिये नहीं है कि हम एक ही बात को दो प्रकार से पूछ सकते हैं। एक तो यह कि व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये किन किन रास्तों से जाना होगा ? इसके उत्तर में हम यह कह सकते हैं कि एक मार्ग व्यक्तिवादियों का (Individualistic) है और दूसरा मार्ग समाजवादियों का (Socialistic)। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता के मुख्य सिद्धान्त कौन कौन हैं ? इसका भी उत्तर यही होगा कि व्यक्तिवाद और समाजवाद (Individualism and Socialism)। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम इन दोनों मार्गों वा सिद्धान्तों को भली भाँति समझें। इसी लिये एक एक सिद्धान्त का वर्णन अलग अलग किया जायगा।

एक भ्रम

कुछ लोग यह समझते हैं कि व्यक्तिवाद (Individualism) और समाजवाद (Socialism) एक दूसरे के विरोधी सिद्धान्त हैं। एक समाज को पूरब की ओर ले जाता है और दूसरा पच्छिम को। एक दाहिने खींचता है और दूसरा बायें। इसीलिये कोई कोई उसे दाहिना और बायाँ पक्ष भी कह कर सूचित करते हैं। इतना ही नहीं, अकसर इन्हे एक दूसरे का विरोधी समझ कर गरमा गरम बहस छिड़ जाया करती है। लेकिन यह एक निरा भ्रम है। दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। दोनो का उद्देश्य एक है। दोनों व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहते हैं। दोनों का लक्ष व्यक्ति को अधिक से अधिक सुखी और प्रसन्न रखना है। मैं तो यहाँ तक कहने का दावा रखता हूँ कि ये दोनों मिलकर एक पूर्ण सिद्धान्त बनाते हैं। एक के बिना दूसरा नग्न है। अपने अपने क्षेत्र में दोनो पूर्ण हैं। इसलिये समाजवाद और व्यक्तिवाद में विरोध का कोई प्रश्न उठता ही नहीं। इन दोनों सिद्धान्तों में अन्तर है, लेकिन उद्देश्य का नहीं। अन्त दोनों का एक है। फरक़ केवल रास्ते का है। जैसे किसी हिन्दोस्तान के रहने वाले को लंदन जाना है तो वह कलकत्ते से जहाज़ से जा सकता है और करांची तक रेल से जाकर फिर उधर से जहाज़ द्वारा भी जा सकता है। किसी भी

तरह से दोनों को लंदन पहुचना है। ठीक इसी तरह दोनों सिद्धान्तों को व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी करना है। अन्तर इतना ही है कि व्यक्तिवाद किसी और तरह से इस स्वतन्त्रता को दिलाना चाहता है और समाजवाद किसी दूसरे तरीक़े से। कौन इसमें अच्छा है और कौन बुरा यह भी कहना कठिन है। कारण यह है कि दोनों के अच्छे बुरे होने की पहचान कुछ शर्तों के साथ हो सकती है। इसके अतिरिक्त दोनों समाज की दो अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। यह हो सकता है कि किसी देश मे समाजवाद सफल चीज़ हो। वहाँ का समाज उसके अनुकूल हो। वहाँ की परिस्थिति भी उसके लिये उपयुक्त हो। और यह भी सम्भव है कि वह फेल कर जाये। उसके स्थान पर व्यक्तिवाद अधिक उपयुक्त हो सके। इसलिये अच्छे और बुरे का भी प्रश्न ठीक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले दोनो सिद्धान्तो को अलग अलग समझ ले। फिर दोनों के अनुकूल-वातावरण को जाने। इसके बाद हम दोनो की कमज़ोरियों का भी ज्ञान प्राप्त करे। तभी हम यह निश्चित कर सकते हैं कि कौन सा सिद्धान्त अधिक सुलझा हुआ है, यानी कौन सा मार्ग अधिक सुलभ है।

(क)

व्यक्तिवाद

(Individualism)

तात्पर्य

जैसा कि शब्द से स्पष्ट है, व्यक्तिवाद इस बात का समर्थन करता है कि राज्य के सारे संगठनो का आधार व्यक्ति है। व्यक्ति पर ही यह सारा संसार टिका हुआ है। जैसे व्यक्ति मे व्यक्तित्व सर्व प्रधान होता है उसी तरह राज्य मे व्यक्ति प्रधान है। उसी की भलाई और उन्नति के लिये यह सब कुछ सामाजिक अथवा राजनैतिक विधान बनाया गया है। व्यक्ति एक केन्द्र है और बाकी सभी चीजे उसके चारो ओर घूम रही हैं। व्यक्ति से अलग किसी वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। उसी से सबको शक्ति पहुँचती है। वही सबका जन्मदाता है। उसी की करामात से विश्व मे परिवर्त्तन होते हैं। इस सिद्धान्त से यह भी पता चलता है कि सरकार का एक मात्र कर्त्तव्य व्यक्ति

की रक्षा और उन्नति करना है। यह बात ग़लत है कि राज्य और समाज की तो उन्नति हो परन्तु व्यक्ति जहाँ है वहीं पड़ा रहे। यह बात असम्भव है। किसी भी चीज़ की उन्नति अवनति व्यक्ति के हाथ की चीज है। चीज़ों को वही बनाता और बिगाड़ता है। उसी की बुद्धि का यह फल है जो आज मनुष्य बन्दर से देवता बनने जारहा है। झोपड़ियों को महलों में उसी ने तबदील किया है। उसी की अनोखी बुद्धि ने पाताल से लोहे को निकाल कर मशीनो का रूप दिया है। व्यक्ति से अलग संसार कोई चीज़ नहीं है। जैसे प्राण रहित शरीर मिट्टी है, उसी तरह व्यक्ति से अलग समाज एक निराकार भ्रम है। इसीलिये इस सिद्धान्त के अन्दर इस बात का वर्णन किया जायगा कि व्यक्ति और सरकार में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। सरकार को कहाँ तक व्यक्ति के कामों में हाथ डालना चाहिये। किस हद तक व्यक्ति क़ानूनों का दास है और फौज, पुलीस आदि का संगठन क्योंकर जायज़ ठहराया जाता है। मोटे तौर से हम कह सकते हैं कि व्यक्तिवाद के अन्दर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का वर्णन किया जाता है। इसी 'वाद' के अन्तर्गत स्वतन्त्रता को दर्शन शास्त्र का रूप दिया जाता है। इसी की कसौटी पर हम किसी राज्य का अध्ययन करके बतला सकते हैं कि इसमे नागरिक को किस हद तक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। व्यक्तिवाद राजनीति का वह सिद्धान्त है जो राज्य की असलियत को व्यक्ति मे देखता है।

व्यक्तिवाद और १६वीं सदी

व्यक्तिवाद की भावना बहुत ही पुरानी है। जबसे मनुष्य ने समाज बनाना आरम्भ किया उस समय से लेकर अब तक वह व्यक्ति की सत्ता को नहीं भूल सका। इकरार सिद्धान्त के मानने वालों ने व्यक्ति के आधार पर ही अपना सारा सिद्धान्त खड़ा किया है। हाब्स, लाक और रूसो तीनों ही व्यक्तिवादी थे। हाब्स का व्यक्तिवाद निकम्मा और शक्तिहीन है। वह सारी शक्ति राजसत्ता में ही निर्धारित कर देता है। प्रजा को बोलने तक का अधिकार नहीं देता। राजा को यह अधिकार है कि वह प्रजा को जो चाहे करे और जितना चाहे उससे टैक्स वसूल करे, लेकिन प्रजा राजा के ऊपर इस बात का दबाव हरगिज़ नहीं डाल सकती कि वह

अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। इसलिये हाब्स व्यक्ति को तो स्वीकार करता है लेकिन उसके अधिकार को एक दम छीन कर उसे शक्तिहीन बना देता है। हम उसे व्यक्तिवाद का कट्टर विरोधी कह सकते हैं, क्योकि उसके राज्य मे न तो व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त है और न अन्त में उसका अस्तित्व ही क़ायम रह जाता है। वह व्यक्तिवादी इसी अर्थ मे है कि प्रत्येक व्यक्ति की सलाह से राज्य की स्थापना कराता है। लाक का व्यक्तिवाद हाब्स से अच्छा है। उसके अनुसार व्यक्ति को किसी हद तक स्वतन्त्रता प्राप्त है। रूसो, जो कि व्यक्ति को ही सब कुछ मानता है, हाब्स का दूसरा भाई है। कहने को तो वह व्यक्ति को सभी प्रकार की स्वतन्त्रता देता है, लेकिन अपने इकरार सिद्धान्त मे उन्हे इस कदर बाँध देता है कि उनका अलग अलग कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। प्रसंगवश मैंने इन दार्शनिको का संक्षिप्त वर्णन यहाँ कर दिया है, वरन् राज्य की उत्पत्ति नामक अध्याय मे इनका वर्णन हो चुका है।

भावना और आन्दोलन दोनो मे सदियो का अन्तर हो सकता है। सम्भव है कोई भावना आज समाज मे हो और उसे कोई जानता न हो। थोड़े से लोग विचार कर रहे हो। परन्तु १००, ५० वर्ष के बाद वही भावना संगठित रूप धारण कर सकती है। फिर उसी को हम आन्दोलन करार देंगे। आज जितने भी आन्दोलन चल रहे हैं, चाहे वे धार्मिक हो, राजनैतिक हो या सामाजिक हो, इन सबकी बुनियाद मालूम नहीं कितने सौ वर्ष पहिले रही होगी। हमे यहाँ किसी आन्दोलन का इतिहास नहीं लिखना है। केवल हम इतना बता देना चाहते हैं कि व्यक्तिवाद की भावना काफी पुरानी है, लेकिन इसका आन्दोलन १९वीं सदी में आरम्भ हुआ। किसी भी सिद्धान्त की तिथि उसकी भावना से नहीं जोड़ी जाती है। सिद्धान्त का जन्म उस समय से माना जाता है जब उस पर कोई वैज्ञानिक ढग से अपना विचार प्रकट करे। फिर यह भी सम्भव है कुछ लोग उस पर अमल भी करे और उसी को लेकर कोई आन्दोलन चल पड़े। व्यक्तिवाद की भावना हज़ारो वर्ष से इक्के दुक्के दिमाग़ मे अपना काम कर रही थी। उन्नीसवीं सदी मे बेन्थम, मिल और स्पेन्सर (Bentham, Mill and Spencer) ने इस पर वैज्ञानिक ढंग से विचार किया। तब से

येह् भावना सिद्धान्त के रूप मे परिणत है । काफी लोग इस पर अमल करते हैं। इस छोटे से लेख में इन सबका वर्णन करना असम्भव है । लेकिन व्यक्तिवाद को समझने के लिये इनका संक्षिप्त वर्णन नितान्त आवश्यक है ।

बेन्थम
Bentham

वेन्थम का कहना है कि सरकार जो कुछ करती है उसकी अच्छाई और बुराई की ठीक ठीक पहचान यही है कि उससे हर व्यक्ति को लाभ पहुँचता है या नहीं। यदि राज्य में अधिक से अधिक व्यक्ति सुखी, स्वतन्त्र और सन्तुष्ट हैं तो वहाँ की सरकार अच्छी है, यदि नहीं तो उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह साफ कहता है कि हर एक राज्य और संगठन का यही उद्देश्य है कि व्यक्ति को उससे सुख पहुँचे। जो राज्य इसे पूरा नहीं कर सकते उन्हें जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। बेन्थम को हम सच्चे व्यक्तिवादियों की कोटि में नहीं गिन सकते। उसका सिद्धान्त व्यक्तिवाद का समर्थन और खंडन दोनो करता है। राज्य के अधिक से अधिक व्यक्तियों के सुख की चिन्ता तो वह करता है, लेकिन सब के सुख की उसे परवाह नहीं है। राज्य की पहचान बहुसंख्यक सुख से ही नहीं करनी चाहिये। यदि एक भी व्यक्ति दुखी है तब भी हम राज्य को दोषी ठहरा सकते हैं। बेन्थम इसकी परवाह नही करता। वह अधिक से अधिक लोगों को ज्यादा से ज्यादा सुख (Greatest happiness of the greatest number) देना तो चाहता है लेकिन बाकी लोगो का कोई ज़िक्र भी नहीं करता। सच्चा व्यक्तिवादी वही है जो एक एक व्यक्ति के सुख का विधान बनाये। बेन्थम इस बात को मानता है कि समाज व्यक्तियो का समूह है, व्यक्ति मे अलग वह कोई चीज़ नही है।

मिल J. S.
Mill

वास्तव मे व्यक्तिवाद का आरम्भ मिल से ही होता है। उसकी "स्वतन्त्रता" (Liberty) नामक पुस्तक मनुष्य के इतिहास मे एक नये युग का आरम्भ करती है। वह लिखता है "मनुष्य अपने मन शरीर तथा अपनी सभी चीज़ों पर पूरा पूरा अधिकार रखता है" (Over himself, over his own body and mind,

the individual is sovereign.) लेकिन इसके साथ ही साथ मिल यह भी लिखता है कि किसी हद तक व्यक्ति की आज़ादी में सरकार दखल दे सकती है। व्यक्तिवाद के अनुसार सरकार के मुख्य ६ कर्तव्य हैं:—

१—बाहरी हमले से देश की रक्षा करना।

२—यदि व्यक्तियों मे लड़ाई झगड़े हों तो उसे शान्त करना।

३—चोरी और डाको से व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करना।

४—इस बात की देख रेख रखना कि व्यक्ति आपस मे इकरार को कायम रक्खे।

५—दुर्बलो की रक्षा करना।

६—व्यक्ति को ऐसी विपत्तियो से बचाना जिनका रोकना सम्भव है अर्थात् हैज़ा, प्लेग इत्यादि।

मिल का कहना है कि हर एक व्यक्ति को अपनी रक्षा का पूरा पूरा अधिकार है। इसी के निमित्त उसने समाज की रचना की है। इसी की रक्षा के लिये वह सामाजिक तथा राजनैतिक बन्धनो का दास है। इतना उसे जरूर ध्यान रखना चाहिये कि दूसरो के अधिकार की अवहेलना न हो। कोई भी व्यक्ति इस बात के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता कि वह अमुक काम को करे। इसके लिये यह कहना काफी न होगा कि वह काम उसकी भलाई के लिये है। दूसरो के तर्क मे वह बाँधा नहीं जा सकता। उससे प्रार्थना कर के और समझा बुझाकर किसी काम को करने के लिये कहा जा सकता है। लेकिन किसी भी शक्ति को यह अधिकार हरगिज नहीं मिलना चाहिये कि वह ऊँट की नकेल की तरह व्यक्ति को ज़बरदस्ती किसी मार्ग पर खींचे। इससे अच्छे से अच्छे मार्ग व्यक्ति के लिये दुख के कारण बन सकते हैं। सुखी मार्ग वही है जिसका स्वतन्त्रता पूर्वक अनुसरण किया जा सके। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिलने व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। पहले प्रकार के काम वे हैं जिनका सम्बन्ध केवल व्यक्ति से होता है। दूसरों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार के कार्यों के लिये हर व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र है। दूसरो को इनमे दखल देने का अधिकार नहीं है। इन्हें हम व्यक्तिगत कार्य कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के कार्य वे हैं जो उस व्यक्ति के अलावे औरो से भी सम्बन्ध

रखते हैं। उनका प्रभाव न केवल उस व्यक्ति पर पड़ता है बल्कि औरों पर भी। ऐसे कार्यों के लिये व्यक्ति को पूरी आज़ादी नहीं मिल सकती। उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह अपने स्वार्थ के लिये औरों के अधिकार में बाधक न हो। इन कार्यों को सामाजिक कार्य कह सकते हैं। मिल लिखता है, "स्वतंत्रता वही है जिस पर चल कर हम अपनी इच्छानुसार अपनी भलाई करते हुये औरों के अधिकार में बाधा न डाल सकें, अथवा उनके अधिकारों पर हावी न हो जायँ। प्रत्येक आदमी अपने शरीर, मन और आत्मा का संरक्षक है। इन्सान आज़ादी के साथ टेढ़े मेढ़े मार्ग पर चल कर भी ज़्यादे प्रसन्न रह सकता है बनिस्बत इसके कि कोई उसे ख़ास रास्ते पर चलने के लिये बाध्य करे, चाहे वह सीधा ही क्यों न हो"—*

विचारों की स्वतंत्रता के लिये मिल इस बात की ताईद करता है कि हर इन्सान अपनी राय कायम करने में आज़ाद है। इतना ही नहीं, वह यह भी लिखता है कि वह आज़ादी के साथ अपनी राय को ज़ाहिर भी कर सकता है। एक बाधा वह अवश्य मानता है कि व्यक्ति कहीं अपने आपको ख़तरे में न डाल दे। फिर भी वह इस बात पर ज़ोर देता है कि विचारने और काम करने में जब तक व्यक्ति को आज़ादी न होगी तब तक न तो वह किसी नवीन चीज़ की खोज कर सकता है और न अपने व्यक्तित्व का विकास ही कर सकता है। मिल के व्यक्तिवादी होने में किसी को शक नहीं है पर उसे भी हम आदर्श व्यक्तिवादी नहीं कह

---

* The only freedom which deserves the name is that of pursuing our own good in our own way, so long as we do not attempt to deprive others of theirs, or impede their efforts to obtain it. Each is the proper guardian of his own health, whether bodily or mental and spiritual. Mankind are greater gainers by suffering each other to live as seems good to themselves, than by compelling each to live as seems good to the rest.

सकते। मिल स्वयं यह स्वीकार करता है कि उसके नियम सभी व्यक्तियों पर लागू नहीं होते। लड़के और असभ्य स्वतंत्रता की कोटि से बाहर हैं। मिल की आज़ादी केवल उन्हीं के लिये है जिनकी दिमागी ताकत काफी ऊँची हो चुकी है अर्थात् जो बालिग़ हैं। लेकिन मिल इस बात का ज़िक्र नही करता है कि किस आयु मे बच्चे बालिग़ हो सकते हैं। वह लिखता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता मे सरकार इसलिये बाधा नहीं डाल सकती कि शायद किसी काम को बहुत से व्यक्ति सरकारी अफसरों से कहीं अच्छी तरह कर सकते हैं। मान लिया सरकारी अफसर अन्य व्यक्तियों से उसे अच्छा भी कर ले तब भी उसे अपनी इच्छानुसार करके कोई भी व्यक्ति मानसिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है। साथ ही वह अपनी बुद्धि का अन्दाज़ा भी कर सकता है। नैतिक दृष्टि से भी यह बात उचित जान पड़ती है कि जिन कामो को व्यक्ति कर सकता है उनमें सरकार को हाथ नहीं डालना चाहिये। इसीलिये मिल का कहना है कि सरकार एक आवश्यक बुराई है (State is a necessary evil)। इसकी आवश्यकता केवल उन्हीं कामो के लिये है जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है।

स्पेन्सर (Herbert Spencer)

मिल के बाद दूसरा व्यक्तिवादी स्पेन्सर है। वह लिखता है कि प्रकृति का यह नियम है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस, अर्थात् संसार मे उन्हीं व्यक्तियों को रहने का अधिकार है जो वीर और शक्तिशाली हैं। हमारे हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है "वीर भोग्या वसुन्धरा"। कमज़ोरो के लिये तथा दुखी और अपाहिजों के लिये संसार मे कोई भी स्थान नहीं है। सभी जीवो में यह बात पाई जाती है कि बलवान कमज़ोरों को खा जाता है। बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। पेड़ से गिर जाने वाला बन्दर बन्दरो के समूह से निकाल बाहर किया जाता है। मनुष्य एक सामाजिक जीव है। इस लिये उसके ऊपर भी यह प्राकृतिक नियम लागू होता है। वह इस नियम का उलंघन कदापि नहीं कर सकता। समाज दुर्बलों के लिये नहीं है। स्पेन्सर इस बात से साफ इनकार करता है कि सरकार का व्यक्ति के प्रति किसी भी प्रकार का कर्तव्य है। चन्द बातों को छोड़ कर,

मसलन सेना, पुलीस और इन्साफ़, सरकार व्यक्ति के मामले में क़तई दख़ल नहीं दे सकती। स्पेन्सर व्यक्तिवाद की उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ दया, धर्म और सहायता की कोई भी गुञ्जा-इश नहीं है। वह साफ़ लिखता है कि किसी भी सरकार को दान देने, ग़रीबों की रक्षा करने, धर्म शालायें आदि बनवानें तथा इसी तरह का और भी काम करने का क़तई अधिकार नहीं है। यदि कोई सरकार ऐसा करती है ते। वह न केवल व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा डालती है बल्कि प्राकृतिक नियम का उलंघन भी करती है।

स्पेन्सर के इस कथन से हम कतई सहमत नहीं हैं। मैं मानता हूँ कि उसका व्यक्ति पूरा स्वतन्त्र है। उसे पूरी आज़ादी है कि वह जिसे चाहे लूट ले, जिसे चाहे मार डाले। यदि समाज में आज ही इतनी आज़ादी का एलान कर दिया जाय तो मज़बूत से मज़बूत सरकार क़ायम नहीं रह सकती। समाज का सङ्गठन केवल शारीरिक शक्ति के भरोसे कायम नहीं है। हमें आश्चर्य है कि दर्शन शास्त्र का इतना बड़ा विद्वान होते हुये भी स्पेन्सर उन कारणों को भूल जाता है। दूसरी कमी जो हमें स्पेन्सर के व्यक्तिवाद में दिखाई पड़ती है वह उसकी मानसिक क्रूरता है। कोई भी व्यक्ति जो अपने को इन्सान कहलाने का दावा करता है इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता कि दान देना बुरी चीज़ है, बीमार दुखियो की सहा-यता करना गुनाह है। स्पेन्सनर को यह बात मालूम नहीं है कि मनुष्य सामाजिक जीव होते हुये भी, और जीवों से कहीं बढ़ कर है। इसलिये प्रकृति का वह जङ्गली नियम सामाजिक व्यवस्था में कतई चालू नही हो सकता। जो कुछ भी हो हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्पेन्सर एक पक्का व्यक्तिवादी है। उसने साफ शब्दों में व्यक्ति की पूरी आज़ादी का एलान किया है और सरकार को उठा कर एक छोटे से दायरे में रख दिया है।

ऊपर मैंने यह कहा है कि बेन्मथ, मिल और स्पेन्सर इन तीनों ने वैज्ञानिक ढंग से व्यक्तिवाद पर विचार किया है। थोड़े से शब्दों मे मैंने हर एक का विचार पाठक गण के सामने रख दिया है। हमारा यह अनुमान है कि इन विद्वानो ने व्यक्तिवाद पर जो प्रकाश डाला है वह इसे समझने के लिये काफी है। फिर भी

अदम स्मिथ
Adam Smith

एक और प्रसिद्ध व्यक्तिवादी का विचार उद्धृत करना कोई अनुचित न होगा। वह है अदम स्मिथ (Adam Smith)। उसके विचारों का प्रभाव बड़े से बड़े विद्वानो पर पड़ा है। स्मिथ लिखता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ को अच्छी तरह समझता है। उसकी बुद्धि इतनी तीव्र होती है कि वह अपने लाभ और हानि को समझ सके। इसलिये व्यक्ति को पूरी आज़ादी मिलनी चाहिये कि वह अपने लाभ के लिये जो चाहे करे। इसका परिणाम न केवल उस व्यक्ति के लिये अच्छा होगा वल्कि समाज-हित की दृष्टि से भी वह अच्छा होगा। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ की चिन्ता करे और ईमानदारी के साथ अपने स्वतन्त्र विचारो से बनाये हुये मार्ग पर चले तो संसार में सब को लाभ पहुँच सकता है। आर्थिक-क्षेत्र मे यह नियम और भी अच्छी तरह लागू होता है। यदि सब लोग विना किसी रुकावट के तिजारत करे तो जिनकी बुद्धि अच्छी होगी वे अधिक से अधिक धन पैदा कर सकेंगे। साथ ही किसी को यह भी कहने का मौका न मिलेगा कि दूसरा उससे बाज़ी क्यों मार ले जाता है। कारण यह है कि इस आज़ादी के संग्राम मे हर एक आदमी अपनी बुद्धि का प्रयोग करेगा। इससे न केवल उसी को सुख पहुँचेगा, वल्कि उसके परिश्रम से दुनिया को भी लाभ होगा। इसी लिये स्मिथ लिखता है कि तिजारत के ऊपर किसी भी तरह का टैक्स लगाना व्यक्ति की आजादी को छीनना है। हर एक आदमी जितना धन चाहे किसी भी व्यवसाय में लगाये और जितना हो सके उससे फायदा उठावे। मज़दूरों को भी पूरी आज़ादी हो कि जहाँ अधिक से अधिक मज़दूरी मिले वहाँ काम करे। जिस राज्य मे इतनी आज़ादी के साथ मुकाबिला होगा वहाँ अधिक से अधिक चीज़ें पैदा की जायँगी और कम से कम भाव पर बेची जायँगी। और मुल्कों से व्यापार की वृद्धि होगी। जब सरकार चीज़ों की क़ीमत तय करती है, मज़दूरी की दर निश्चित करती है, और तिजारत के ऊपर तरह तरह के टैक्स लगाती है, तो न केवल तिजारत को रोकती है, वल्कि व्यक्ति की आज़ादी को भी छीनती है।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि स्मिथ का यह सिद्धान्त निहायत साफ़ और सुलझा हुआ है। यही कारण है कि १८ वीं शताब्दी के

आखीर में दुनिया के लगभग सभी देशों ने इसे स्वीकार किया था। लेकिन अधिकतर इसी परिणाम पर पहुँचे कि इसमें वही कमज़ोरी है जो स्पेन्सर के सिद्धान्त में पाई जाती है। जैसे एक मज़बूत आदमी किसी कमज़ोर को दबा कर उससे फायदा उठा सकता है उसी तरह बड़ी बड़ी तिजारतें छोटी तिजारतों को बरबाद कर सकती हैं। अगर स्मिथ का यह सिद्धान्त आज हिन्दुस्तान पर लागू कर दिया जाय तो इस देश के लगभग चौदह करोड़ मनुष्य भूखों मर जायँगे। यह देश जापान, जर्मनी, इङ्गलैंड, फ्रांस, अमेरिका आदि देशो का क़तई मुकाबिला नहीं कर सकता। इस देश की तिजारत इतनी पिछड़ी हुई है कि अभी इसके रक्षा की काफी आवश्यकता है। एक कहावत है, हुकूमत तिजारत के पीछे पीछे चलती है" (Trade follows the flag)। इस दौड़ान में उन्हीं देशों को फायदा होगा जो आज तिजारत में बढ़े हुये हैं। वे अपने माल से दुनिया के बाज़ारो को पाट देंगे। परिणाम यह होगा कि पिछड़े हुये देशवासी या तो भूखो मर जायेंगे या उनके ग़ुलाम बन कर रहेंगे। यही नहीं, बल्कि चन्द मुल्क बड़े बड़े साम्राज्य क़ायम करके दुनिया की दौलत पर गुलछर्रे उड़ायेंगे। इसलिये स्मिथ का यह सिद्धान्त हमें मान्य नहीं है।

व्यक्तिवाद का आधार

यह तो सभी जानते हैं कि व्यक्तिवाद का आधार व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिन दार्शनिकों का ऊपर वर्णन किया गया है उन्हीं के विचार इस सिद्धान्त के आधार भी कहे जा सकते हैं। अर्थात् व्यक्तिवाद के मुख्य दो आधार कहे जा सकते हैं। भौतिक और मानसिक। भौतिक आधार का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूरी आज़ादी है कि वह संसार मे जो चाहे करे। परन्तु अपनी शक्ति और अपने हित के साथ औरों का भी वह ध्यान रक्खे। इसी से सांसारिक व्यवस्था क़ायम रह सकती है। राज्य इससे परे नही है। मानसिक आधार से हमारा तात्पर्य व्यक्ति के मस्तिष्क से है। विचार स्वतंत्र है। कोई भी व्यक्ति जो चाहे सोच सकता है। लेकिन अच्छा होगा कि वह बुरी बातों का चिन्तन न करे। मनुष्य के सभी बाहरी काम मानसिक चिन्तन पर ही निर्भर करते हैं। वह जैसा सोचेगा वैसा करेगा। इसलिये

भौतिक और मानसिक आधार को हम एकदम अलग नहीं कर सकते। ये दोनो मिलकर व्यक्तिवाद के पाये को ठोस बनाये हुये हैं। यदि समाज मे सभी व्यक्ति एक मार्ग पर विचार करे तो इतनी विषमता दिखलाई न देगी जितनी आज दिखाई दे रही है। इसलिये यदि व्यक्ति सोचने और कार्य करने मे स्वतंत्र है तो उसे और किसी स्वतंत्रता की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये मैंने इन दोनो को व्यक्तिवाद का आधार ठहराया है। कुछ विद्वानो ने भौतिक आधार को आर्थिक और वैज्ञानिक दो भागो मे बाँट रक्खा है। ऐसा करना कोई गलती नही है लेकिन हमे इसकी कोई आवश्यकता दिखलाई नहीं पड़ती।

व्यक्तिवाद की कमज़ोरियाँ

हर एक सिद्धान्त में थोड़ी बहुत कमज़ोरियाँ होती हैं। व्यक्तिवाद मे भी कुछ ऐसी कमज़ोरियाँ हैं जिनका वर्णन करना आवश्यक है। एक तो यह कि इस सिद्धान्त मे बाते बहुत बढ़ा चढ़ा कर कही गई हैं। कहीं कहीं पर तो कुछ ऐसी बाते कही गई हैं जो सत्य से कोसो दूर है। स्पेन्सर का यह कहना कि दान और धर्म को एकदम हटा दिया जाय कोई अर्थ नही रखता। जब मनुष्य समाज मे रहता है तो उसका यह धर्म है कि औरो की भी वह ख़बर लेता रहे। एक मात्र अपने स्वार्थ की पूर्ति मे लगा हुआ व्यक्ति पशु से ऊँचा नहीं कहा जा सकता। इसके अलावे इस सिद्धान्त मे राज्य और सरकार मे कोई भेद ही नहीं रक्खा गया है। लगभग सभी व्यक्तिवादी एक स्वर से राज्य को बुरा ठहराते हैं। मिल इसे एक आवश्यक बुराई कहता है। लेकिन उन्हे यह भी मालूम होना चाहिये कि राज्य स्वयं कोई बुरी चीज़ नहीं है। सरकार अच्छी और बुरी हो सकती है। वह भी इसलिये नही कि दो चार सरकारी अफ़सर बुरे हैं। दो चार की कमज़ोरियो के कारण समूचे सरकार को दोषी ठहराना उचित नहीं है। इतने कड़े शब्दो मे सरकार की एकदम अवहेलना भी ठीक नहीं है। व्यक्तिवादियो का यह ख़याल कि व्यक्ति सरकार से अच्छा सोच सकता है और अपनी भलाई कर सकता है, कोरा भ्रम है। व्यक्ति हर हालत मे अपने स्वार्थ को पहले देखता है। इसके बाद वह औरो की भलाई बुराई पर विचार करता है। उसके अन्दर यह स्वाभाविक कमज़ोरी है कि वह कभी

भी अपने आप को दोषी नहीं मानता। अपनी ग़लतियों को वह अन्तिम घड़ी तक छिपाता है और उसके लिये प्रायश्चित्त नहीं करता। इसलिये वह अपना जज नहीं बन सकता। इसके विपरीत सरकार किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं करती है। उसका निजी कोई स्वार्थ नहीं होता। वह जिस प्रकार व्यक्ति को दंड देती है उसी तरह अपने अफसरों को भी दंड देने को तैयार रहती है। उसका दारमदार न्याय पर रहता है। वह सबको एक नज़र से देखती है। इसके अलावे यह कहना कि सभी व्यक्ति बराबर सोच सकते हैं, उनकी बुद्धि समान होती है और सबको एक समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, बिलकुल ग़लत है। सब लोग समान बुद्धि वाले नहीं होते हैं। एक ही अधिकार का कोई सदुपयोग करता है और दूसरा उसका दुरुपयोग करता है। फिर दोनों को समान स्वतन्त्रा कैसे दी जा सकती है। एक आदमी अपने समय का उपयोग पढ़ने लिखने मे करता है, दूसरा उसी समय को मार झगड़े तथा चोरी आदि दुष्कर्म मे लगा सकता है। गणित के प्रश्न की तरह मनुष्य के स्वभाव का हिसाब लगाना ठीक नहीं है।

व्यक्तिवादियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी सरकार की अवहेलना करना है। मै यह मानता हूँ कि व्यक्तिवाद के सिद्धान्त ने उन्नीसवीं सदी में व्यक्ति को काफी लाभ पहुँचाया और अनेक छोटे छोटे गन्दे कानूनों को निकाल बाहर किया लेकिन सरकार की महत्ता को एकदम संकुचित भी नही किया जा सकता। व्यक्ति कितना हूँ पूर्ण समाज बना ले फिर भी आपस के भेद भाव लोप नहीं हो सकते। सरकार का यह कर्तव्य है कि वह उनकी देख भाल करती रहे। बीसवीं सदी मे अनेक संस्थायें और नये नये संगठन बनते जा रहे हैं। उनका आपस मे टकराना स्वाभाविक है। ऐसी दशा मे हम सरकार की उपयोगिता को नहीं भूल सकते। वही इनकी देख भाल और इनके अधिकारों का बटवारा कर सकती है। वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। संसार के सभी राज्य आपस का सम्बन्ध बढ़ा रहे हैं। आवागमन की सुविधा के कारण लोगो का आना जाना बढ़ गया है। विदेशों में लोग काफी जाने लगे हैं। अज्ञानता या गर्व के कारण लोग विदेशो में क़ानूनों का उलंघन कर सकते हैं। ऐसे प्रश्न को सरकार ही सुलझा सकती

है। इसके अलावे सरकार और व्यक्ति का कोई मुकाबिला हो ही नहीं सकता। जो शक्ति सरकार को प्राप्त है वह व्यक्ति को नहीं। बहुत से ऐसे काम हैं जिन्हे व्यक्ति नहीं कर सकता। लेकिन सरकार उसे करती है। राजनैतिक व्यवस्था जब तक ठीक न हो तब तक व्यक्ति एक भी संगठन नहीं बना सकता। व्यक्ति की उन्नति के लिये शान्तिमय वातावरण सरकार ही तैयार करती है। फिर यह बात समझ में नही आती कि व्यक्तिवादी सरकार को क्यों इतनी छोटी नज़र से देखते हैं।

व्यक्तिवाद जो राज्य और व्यक्ति में इतना भेद भाव करता है वह भी अस्वाभाविक है। एक ओर राज्य और दूसरी ओर व्यक्ति को रख कर सामाजिक व्यवस्था की बातें करना हवाई किले बनाना है। व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता। इसलिये उसे पूरी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। वहाँ तक तो वह स्वतन्त्र ज़रूर है जहाँ तक उसकी उन्नति हो, लेकिन इसके आगे वह नहीं बढ़ सकता। सरकार उसे रोकती है। लेकिन साथ ही साथ उसके अच्छे विचार भी बुरे काम करने की इजाज़त नहीं देते। मनुष्य परिस्थिति का दास है। वह अपनी कमज़ोरियों का भी गुलाम है। बजाय इसके कि उसके सद्विचार उसे बार बार कोसते हैं, वह बुरे मार्ग पर चला ही जाता है। इस अवसर पर सरकार उसकी सहायता करती है। वह उसे दंड देकर आगे के लिये आगाह कर देती है कि ऐसा नहीं करना चाहिये। यहाँ पर सरकार ने वही काम किया जो व्यक्ति के सद्विचार करना चाहते थे। लेकिन अपनी कमज़ोरियों के कारण वे नहीं कर सके। इसलिये सद्विचार और सरकार दोनो एक हुये। इसमे कोई शक नहीं कि सरकार सम्पूर्ण सद्विचारो का एक सम्मिलित रूप है, और व्यक्ति को सरकार का विरोधी समझना एक झूठी कल्पना है। सरकार व्यक्ति के लिये वही करती है जिसकी उसे आवश्यकता होती है। यह बात तर्क के विरुद्ध है कि सरकार व्यक्ति की स्वतंत्रता मे बाधा डालती है। केवल दो चार घटनाओं से कोई वसूल बना लेना उचित नहीं है। यदि व्यक्ति को समाज में रहना है तो उसे औरो को बँचा कर चलना होगा। वह किसी के अधिकारों को कुचल नहीं सकता। इसलिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी व्यक्तिवादियों का यह तर्क गलत है कि व्यक्ति और सरकार

में विरोध है। सरकार व्यक्ति के मस्तिष्क से निकली हुई एक सुन्दर वस्तु है। वह चन्द ऐसे कानूनों को पास कर सकती है जो व्यक्ति के लिये हानिकारक हो, लेकिन इन कानूनों को कोई भी अच्छा नहीं कह सकता। इस प्रकार के कानून व्यक्ति की उन्नति मे बाधक हो सकते हैं। अतएव उसका यह मानसिक धर्म है कि वह इनकी खिलाफ़त करके इन्हें हटाये। राज्य के अमानुषिक अत्याचार का विरोध करना नागरिक का एक कर्तव्य ठहराया गया है।

व्यक्तिवाद और प्रजातन्त्रवाद

प्रजातन्त्रवाद में व्यक्ति के अधिकार का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। जनता स्वयं अपना शासन करने लगे और यही इसका उद्देश्य है। केन्द्रीय शासन केवल इस बात की देख रेख करता रहे कि प्रान्तों मे शासन की व्यवस्था ठीक ठीक चल रही है। सबको स्थानीय स्वराज प्राप्त हो। किसी की इच्छा के विरुद्ध न कोई क़ानून पास किया जाय और न कोई टैक्स लगाया जाय। राज्य के सभी मसले जनता की देख रेख मे हल किये जायें। असली प्रजातन्त्रवाद वही है जहाँ व्यक्ति को यह मालूम न हो कि कोई दूसरा उनका शासन कर रहा है। इससे यह बात स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र के अन्दर व्यक्तिवाद न केवल जीवित रह सकता है बल्कि काफी उन्नति भी कर सकता है। लेकिन इसमे एक कठिनाई है। पुराने ज़माने मे यूनान और रोम के प्रजातन्त्रवाद का युग अब जाता रहा। उस समय छोटे छोटे राज्य थे। इसलिये हर नागरिक की राय से ही काम किया जाता था। एक एक व्यक्ति राज्य का स्थूल अंग था। यह व्यवस्था आज कल नहीं चल सकती। राज्य की सीमा इतनी बढ़ गई है कि सबसे राय लेकर काम करना असम्भव है। एक ही क़ानून पर वर्षों लग जायेंगे, फिर भी एक एक की राय नहीं ली जा सकती। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये प्रतिनिधि शासन की व्यवस्था की गई है। हर नागरिक को अधिकार है कि वह अपना वोट जिसे चाहे दे। इस प्रकार चुने हुये प्रतिनिधि शासन करे। इस प्रतिनिधित्व के अन्दर व्यक्तिवाद का सच्चा सिद्धान्त चालू नहीं हो सकता। व्यक्ति की राय वही होती जा रही है जो पार्टी की राय होती है। इसीलिये

कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद की उन्नति के साथ व्यक्तिवाद का लोप होता जाता है। वैसे तो व्यक्तिवाद तब तक ज़िन्दा रहेगा जब तक व्यक्ति का स्तित्व कायम रहेगा, लेकिन उसका रूप बदलता रहेगा। व्यक्ति के अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता मे कमी की जा सकती है, लेकिन कड़े से कड़े शासन के अन्तर्गत उन्हें एक दम कुचला नहीं जा सकता।

आज दुनिया की नज़र व्यक्तिवाद की ओर नहीं है। इस युग मे तीन वादों का बोलबाला है। अभी यह कहा नहीं जा सकता कि इन तीनों में किसकी विजय होगी। हमारा तात्पर्य प्रजातन्त्रवाद, समाजवाद और तानाशाही (Dictatorship) से है। इन तीनो का मुक़ाबिला बड़े ज़ोरों के साथ हो रहा है। एक वाद दूसरे को कुचल डालना चाहता है। अब प्रश्न यह है कि इन तीनो के अन्दर व्यक्तिवाद की कहाँ तक गुंजाइश है। प्रजातन्त्रवाद का ज़िक्र ऊपर किया गया है। उससे भी यही नतीजा निकलता है कि व्यक्ति धीरे धीरे पार्टियों के अन्दर बँधता जा रहा है। उसकी निजी राय की तब तक कोई क़ीमत नही है जब तक वह किसी पार्टी की राय न हो। व्यक्ति को विवश होकर किसी न किसी पार्टी का सदस्य बनना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि आधुनिक प्रजातन्त्रवाद व्यक्तिवाद के अनुकूल नहीं है।

वर्तमान रुख़

वर्तमान युग समाजवाद का युग है। जहाँ देखिये वहीं इसकी चर्चा का बाज़ार गरम है। कोई ऐसा देश नही जहाँ समाजवादी आन्दोलन जारी न हो। वैसे तो समाजवाद का विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के 'ख' भाग मे किया जायगा, लेकिन यहाँ यह जिक्र करना कोई अनुचित न होगा कि उसके अन्दर व्यक्ति के लिये कितना स्थान है। इसमे कोई शक नहीं कि समाजवादी भी व्यक्ति के ही सुख के लिये सब कुछ कर रहे हैं। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। समाजवाद के अन्दर व्यक्ति सरकार के हाथ की कठपुतली है। वही उसके लिये सब कुछ कर सकती है। किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा व्यक्तिगत उद्योग समाजवाद के अन्दर गुनाह ठहराया गया है। व्यक्ति मशीन का एक पुर्ज़ा है जो सरकार के चलाने से ही चल सकता है। सरकार ही छोटे से

लेकर बड़े तक के कामों को स्वयं करती है। व्यक्ति की आवश्यकता सरकार ही समझ सकती है और वही उसकी पूर्ति भी कर सकती है। इससे यह बात स्पष्ट है कि समाजवाद के अन्दर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कोई स्थान नहीं है। लोगों की यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि उनकी सरकार मज़बूत हो और वही सभी प्रकार के सामाजिक विधान बनाये। व्यक्ति अपना न्याय स्वयं नहीं कर सकता। इसलिये सरकार उसके हर काम की निगरानी रक्खे। समाजवादी यह कहते हैं कि हर इन्सान ईमानदार और होशियार नहीं होता। इसलिये दूसरे लोग उससे बेजा फायदा उठा सकते हैं। व्यक्तिवाद इस विषमता पर ध्यान नहीं देता। यदि सभी व्यक्ति समान होते तो अपने हीं सरीखे औरों को भी देखते। उस दशा में व्यक्तिवाद चल सकता है। लेकिन मनुष्य को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने पर यह पता चला है कि स्वभाव से ही वह स्वार्थी होता है। अपने लाभ के सामने वह औरो की हानि की चिन्ता नहीं करता। यही कारण है कि समाजवादी व्यक्तिवाद को ख़तर-नाक समझते हैं।

जर्मनी की लड़ाई के बाद संसार में एक नये वाद का जन्म हुआ है। वह है तानाशाही। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रवाद की असफलता का मुख्य कारण संसार व्यापी आर्थिक कठिनाई है। लड़ाई के बाद दुनिया मे एक विकट ग़रीबी फैलने लगी। प्रजातन्त्र-वाद इसे दूर नहीं कर सका। इसी ग़रीबी को दूर करने के लिये तानाशाही का जन्म हुआ। जर्मनी, इटली आदि देशों में इसी तानाशाही का ज़ोर है। इन देशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये कहाँ तक स्थान है इसका पता वहाँ की शासन पद्धति से लगाया जा सकता है। तानाशाह वहाँ सर्वे सर्वा गिना जाता है। तानाशाही के अन्दर किसी भी व्यक्ति की सुनाई नहीं होती। जो तानाशाह की पार्टी के सदस्य होते हैं वे ही इज्ज़त की नज़र से देखे जाते हैं। बाक़ी लोग सर नहीं उठा सकते। तरह तरह के टैक्सों से उन्हें दबाया जाता है। अपनी पार्टी के अन्दर भी कोई आदमी तानाशाह का विरोध नही कर सकता। उसे हाँ मे हाँ मिलाने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नही रहता। देश की उन्नति के सामने व्यक्ति की चिन्ता नहीं की जाती। तानाशाह की मर्ज़ी के मुताबिक किसी

भी देश से लड़ाई छेड़ी जा सकती है, चाहे व्यक्ति उसका विरोध भले ही करे। इस तानाशाही ने विभिन्न रूप धारण कर लिया है। लेकिन मार्ग सबका एक है। सभी हिंसा के पक्षपाती हैं। तलवार का ज़ोर उनके लिये आवश्यक है। अपने विपक्षी को समूल नष्ट कर देना तानाशाही का एक गुण माना जाता है। तानाशाहों के लिये राष्ट्रीयता इतनी प्रिय है, कि उसके लिये वे सब कुछ कर सकते हैं। फांसी देना, तलवार के घाट उतार देना, देश निकाला दे देना, तानाशाही के अन्दर आम बात है। सरकार की किसी भी बात का विरोध वहाँ सहन नहीं किया जाता। व्यक्ति को यह सख्त आज्ञा है कि सरकारी सभी फरमानो को वह खुशी खुशी मान ले। सबको आज़ादी के साथ अपनी राय ज़ाहिर करने की इजाज़त नहीं है। प्रेस को वहाँ स्वतन्त्रता नही दी जाती। तानाशाही के अन्दर नागरिकता का वह व्यापक रूप नहीं है जो प्रजातन्त्रवाद के अन्दर दिखलाई पड़ता है। वहाँ पर नागरिकता एक विशेष वर्ग से सम्बन्ध रखती है। इससे यह साफ ज़ाहिर है कि तानाशाही के अन्दर व्यक्ति को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। उसे किसी भी प्रकार की आज़ादी नहीं है। इन तीनो वादों से हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि आधुनिक युग व्यक्तिवाद का पक्षपाती नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता धीरे धीरे छिनती चली जा रही है। यदि यह आन्दोलन बढ़ता चला गया तो इसको रोकने के लिये पुनः व्यक्तिवाद का जोर हो सकता है। यह सामाजिक नियम है कि जब कोई वाद अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है तो उसका विरोधी वाद भी तुरन्त चल पड़ता है।

(ख)

समाजवाद

(Socialism)

विषय प्रवेश — समाजवाद एक ऐसा विषय है जिसमे प्रवेश करने के लिये कई रास्ते हैं। अनेक विद्वानों ने इस पर इतने प्रकार से विचार किया है कि सबका ज़िक्र करना मानों एक पुस्तक लिखना है। इस वाद के विषय में अभी तक लोगों को यह पता नहीं है कि इसकी ठीक ठीक परिभाषा

क्या है और इसकी कौन सी शाखा अच्छी है। कुछ विद्वानो का मत है कि समाजवाद की ५७ क़िस्में हैं। सन् १८९२ ई० मे ली फिगारो (Le Figaro) नामक एक फ्रांसीसी अखबार में समाजवाद की ६०० परिभाषायें प्रकाशित हुई थीं। इस शब्द का प्रयोग इतने अर्थों में किया गया है कि सबका यहाँ जिक्र भी नहीं किया जा सकता। सर विलियम हरकार्ट (Sir William Harcourt) लिखता है, "हम सभी समाजवादी हैं क्योंकि हम लोग समाज में ही रहते हैं" (We are all socialists because we live in society) कालेज के विद्यार्थी से लेकर बड़े बड़े विद्वानो तक हर एक अपने आपको समाजवाद का पंडित समझता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि जितने समाजवादी है उतने ही प्रकार के समाजवाद हैं। समाजवाद की उपमा एक हैट से दी गई है जिसे कोई भी पहन सकता है। एक फ्रांसीसी विद्वान लिखता है, "समाजवाद एक ऐसा मजहब है जिसकी अनेक शाखायें और उपशाखायें हैं।" जर्मनी में इसकी जो गति है वह फ्रांस में नहीं। इंगलैंड का समाजवाद रूस से एक दम भिन्न है। यह कहना अनुचित न होगा कि हर देश का समाजवाद भिन्न भिन्न है। लार्ड वेमेस (Lord Wemyss) ने समाजवादियो को ३ वर्गो में विभाजित किया है।

१—राह चलते समाजवादी (Socialists of the Street)।

२—विद्यार्थी समाजवादी (Socialists of the School)।

३—कौंसिलों के समाजवादी (Socialists of the Senate)।

समाजवाद की व्याख्या करते हुये वह लिखता है :—

" What is communist ? one who has yearnings
For equal division of unequal earnings :
An idler or bungler or both, he is willing
To fork out his penny and pocket your shilling"

परिभाषा

समाजवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो समाज की सत्ता को व्यक्ति के ऊपर जमाना चाहता है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य मे सब कुछ सरकार करे और

व्यक्तिगत उद्योग बन्द कर दिये जायँ। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा रहेगी तब तक लोग अपने अपने लाभ की चिन्ता करते रहेंगे। नतीजा यह होगा कि समाज मे कोई धनी होगा और कोई ग़रीब। इसी अन्तर को दूर करने वाले सिद्धान्त को समाजवाद कहते है। समाजवाद का उद्देश्य धनी ग़रीब के अन्तर को मिटाने के साथ साथ समाज की एक ऐसी व्यवस्था बनाना है जिससे पूर्ण समानता की उत्पत्ति हो। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पत्ति ही सभी विपमताओं की जड़ है। उन्नति, अवनति सभ्यता, असभ्यता सब कुछ इसी सम्पत्ति की करतूत है। जिसके पास समाज मे धन है उसी के लड़के शिक्षित हो सकते हैं, उसी का ध्यान कला और संगीत की ओर जा सकता है, उसी की बात औरों को माननी पड़ती है और वही सब प्रकार से सभ्य गिना जाता है। जिस समय सम्पत्ति के क्षेत्र मे समानता हो जायगी उस समय सभी विषमतायें अपने आप दूर हो जायेंगी, समाज मे पूर्ण शान्ति रहेगी, और एक नई सभ्यता का आरम्भ होगा जो पिछली सभी सभ्यताओ से ऊँची और सही होगी। समाजवाद की परिभाषा करते हुये जान स्पार्गो (John Spargo) लिखता है, "समाजवाद की परिभापा करना कठिन है। मौजूदा समाज की टीका टिप्पणी का नाम समाजवाद है। सामाजिक उत्थान के एक सिद्धान्त को समाजवाद कहते हैं।" एच० जी० वेल्स का कहना है कि, "आर्थिक क्षेत्र मे एकता उत्पन्न करने वाले सिद्धान्त को समाजवाद कहते हैं।" वह यह भी लिखते हैं कि प्रजातन्त्रवाद का युग समाजवाद कहलाता है। बर्नार्डशा (Bernard Shaw) अपनी एक पुस्तक (Fabian Essays in Socialism) में लिखते है, "मनुष्य की यह हार्दिक इच्छा है कि दुनिया की दौलत का बटवारा प्रत्येक मनुष्य में उसके परिश्रम के अनुसार किया जाय। इसी इच्छा को समाजवाद कहते हैं।" वे प्रजातन्त्रवाद की उन्नति को समाजवाद की उन्नति कहते हैं। एफ० एस० मारविन (F S. Marvin in his Century of Hope) लिखता है, "ग़रीबो की आह और न्याय की आवश्यकता इन दोनो से प्रेरित होकर समाजवाद की उत्पत्ति हुई है।" यह बात निर्विवाद है कि समाजवाद आर्थिक विधान का सबसे बड़ा सिद्धान्त है।

आगे चलकर जब इस पर और प्रकाश डाला जायगा तो यह बात स्पष्ट हो जायगी।

समाजवाद का इतिहास

समाजवाद की भावना काफी पुरानी है। अफलातून के ग्रन्थो मे इस बाद की भावना मौजूद है। एक समालोचक ने तो यहाँ तक कहा है कि उसका रिपबलिक (Republic) नामक ग्रन्थ समाजवाद पर ही लिखा गया है। मध्यकाल में आगस्टाइन ने अपनी 'देव नगरी' (City of God) में इस बात का जिक्र किया है कि असमानता से बढ़कर कोई दूसरी बुराई नहीं है। अफलातून से लेनिन तक मालूम नहीं कितने प्रकार के समाजवाद का जिक्र मिलता है। मनुष्य एक विचारक प्राणी है। वह समाज की सभी आवश्यकताओं पर विचार करता रहता है। जिस समय समाज के सामने कोई गहरी समस्या आ खड़ी होती है उस समय वह सोच कर इसका कोई न कोई इलाज निकालता है। लगभग सभी वाद इन्हीं आवश्यकताओ के पूरक हैं। अतएव समाजवाद का इतिहास तभी ठीक ठीक समझ मे आ सकता है जब इसकी आवश्यकता पर थोड़ा प्रकाश डाला जाय। १७८९ ई० मे फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद यूरप मे मशीनों की उत्पत्ति हुई। इससे व्यापार पर एक नया प्रभाव पड़ा। एक प्रकार से मशीनों के युग से मनुष्य की एक नई सभ्यता आरम्भ होती है। लगभग सभी क्षेत्रो मे एक महान क्रान्ति सी हो गई। सबका जिक्र करना यहाँ सम्भव नहीं है। केवल आर्थिक क्षेत्र को हम लेना चाहते हैं। मशीनों के कारण पूँजीवाद का जन्म हुआ। जब तक हाथ से काम होता था तब तक लोगों की आवश्यकताये कम थी और आर्थिक दृष्टि से विषमता भी लगभग नहीं के बराबर थी। शारीरिक परिश्रम का मूल्य अधिक था। मशीनों के होते ही शारीरिक परिश्रम का मूल्य कम होने लगा। कारखानो के अन्दर मजदूरों से बड़ी बेरहमी के साथ काम लिया जाने लगा। दूसरी ओर मशीनो के मालिक पूँजीवादी होते गये। सम्पत्ति धीरे धीरे थोड़े से लोगो के हाथो मे आने लगी। मजदूर वर्ग गरीब होता गया। कुछ समय बाद सारा समाज दो वर्गों मे विभाजित हो गया। धनी वर्ग और ग़रीब वर्ग।

आर्थिक विषमता के भयंकर परिणाम को देखते हुये कुछ लोगों

का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ। प्रत्येक देश में एक ऐसे संगठन की उत्पत्ति हुई जिसका एक मात्र उद्देश्य पूँजीवाद का विनाश करना था। यही आन्दोलन समाजवाद का आन्दोलन है। इस आन्दोलन का स्वरूप हर देश में अलग अलग दिखाई पड़ता है। जिस देश की जैसी सामाजिक व्यवस्था है उसी के अनुसार उस देश का समाजवाद भी है। कहीं पर इसका रूप अत्यन्त उग्र है और कहीं पर बिलकुल नम्र। इस छोटे से लेख में प्रत्येक देश के समाजवाद पर प्रकाश डालना असम्भव है। किन्तु इसे समझने के लिये इन पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। साधारण तौर से समाजवाद की नौ किस्मे हैं। पहला यूटोपियन समाजवाद है (Utopian Socialism)। इसके अन्दर वे समाजवादी आ जाते हैं जिन्होने एक ऐसे संसार का स्वप्न देखा है जहाँ पूरी स्वतन्त्रता और समानता है। दूसरा क्रिश्चियन समाजवाद (Christian Socialism) है। 'साधु-थामस' पहला विद्वान् है जिसने इस पर अपना विचार प्रकट किया है। इस समाजवाद की प्रथा मध्य युग मे ईसाई साधुओ के अन्दर प्रचलित थी। कोई भी ईसाई साधु अपनी निजी संपत्ति नहीं रखता था। सभी चीजें सम्मिलित होती थीं। उनका कहना था कि सभी सम्पत्ति ईश्वर प्रदत्त है। आज कल के समाजवादी उपर्युक्त वाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध ईसाई धर्म से है। तीसरा समाजवाद फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism) कहलाता है। इसका सिद्धान्त बिलकुल नरम है। १८८४ ई० मे इसकी नीव डाली गई थी। इस सिद्धान्त के मानने वालो का यह विश्वास है कि क्रान्ति आदि करने की आवश्यकता नही है। अंग्रेजी शासन पद्धति की तरह इस सिद्धान्त का क्रमशः विकास होगा। एनिबेसेन्ट इसी समाजवाद में विश्वास करती थीं।

चौथा समाजवाद 'सिन्डिकलइज्म' (Syndicalism) कहा जाता है। यह केवल फ्रांस मे प्रचलित है। इसके अनुसार क्रान्ति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। पाँचवाँ समाजवाद 'स्टेट समाजवाद' (State Socialism) है। इसकी जन्मभूमि इङ्गलैंड है। इसके अनुसार सभी प्रकार की तिजारत करने का अधिकार केवल राज्य को मिलना चाहिये। छठवाँ समाजवाद 'गील्ड

समाजवाद' (Guild Socialism) कहा जाता है। यह क़रीब क़रीब रूसी सोवियट से मिलता जुलता है। इसके अनुसार सभी प्रकार के व्यवसाय एक संगठित जमात द्वारा होने चाहिये। यह वाद एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहता है। सातवाँ समाजवाद 'बोलसेविज़िम' (Bolshevism) कहलाता है। १९१७ ई० मे जब रूस की बागडोर लेनिन के हाथ में आई उसी समय इस वाद का जन्म हुआ था। इसके अनुसार आज रूस में मज़दूरों का राज्य है। आठवाँ समाजवाद कम्यूनिज़म (Communism) कहा जाता है। इसके अनुसार छोटी से छोटी चीज़ पर सरकार का अधिकार होना चाहिये। कोई भी व्यक्ति अपनी निज की सम्पत्ति नहीं रख सकता। यह समाजवाद सबसे उग्र गिना जाता है। इस शब्द का प्रयोग पहले पहल १८४० ई० में पेरिस में किया गया था। नवाँ समाजवाद 'अनारकिज़म' (Anarchism) कहलाता है। यह वाद समाजवाद की अंतिम कोटि है। इसके अनुसार किसी भी प्रकार के सरकार की आवश्यकता नहीं है। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह स्वतंत्रता पूर्वक उसका उपभोग करे (From every one according to his ability, to every one according to his needs) कुछ लोग इस वाद को समाजवाद से भिन्न मानते हैं।

वैज्ञानिक समाजवाद Scientific Socialism

ऊपर जिन समाजवादों का वर्णन किया गया है उनका दर्शन शास्त्र या तो अपूर्ण है या सर्व मान्य नहीं है। वास्तव में जिस समाजवाद का हमें इस अध्याय में वर्णन करना है वह इन सबसे परे है। इसी समाजवाद का वर्णन विस्तार पूर्वक करना है। वैज्ञानिक समाजवाद की नींव पहले पहल कार्लमार्क्स ने १८४८ ई० में डाली थी। आमतौर से जब 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो इसका तात्पर्य मार्क्स के ही वैज्ञानिक समाजवाद से होता है। मार्क्स समाजवाद का पिता कहा जाता है। यह एक यहूदी था। इसका जन्म ५ मई सन् १८१८ ई० को जर्मनी मे हुआ था। इसके विचार इतने उग्र थे कि वहाँ से उसे देश निकाला दे दिया गया। कई देशों में घूमता हुआ १८४८ ई० में वह लन्दन पहुँचा। वहीं १४ मार्च सन् १८८३

ई० को उसकी मृत्यु हो गई। मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अपनी 'कैपिटल (The Capital) नामक पुस्तक मे किया है। यह ग्रंथ समाजवादियों का धर्म ग्रन्थ माना जाता है। मार्क्स पक्का क्रान्तिकारी था। वह अपने समय से सैकड़ो वर्ष पहले पैदा हुआ था। जो कुछ वह कहता था उसे स्पष्ट और खुले दिल से कहता था। मार्क्स के एक एक शब्द समाजवाद के अन्दर पत्थर की लकीरें हैं। वह लिखता है कि संसार में तीन प्रकार के मनुष्य रहते हैं। जाहिल, मूर्ख और समाजवादी। जो मार्क्स को नहीं जानता वह मूर्ख है। जो उसे जानता है किन्तु उसमे विश्वास नहीं करता वह जाहिल है। जो उसे जानता है और उसमे विश्वास करता है वह समाजवादी है।

मार्क्स का कहना है कि समाजवाद इतनी तेज़ी के साथ आ रहा है कि कोई भी इसे रोक नहीं सकता। जिस प्रकार हम सत्य को नहीं दबा सकते, उसी तरह यह वाद भी नहीं दबाया जा सकता। अपने समाजवाद के अन्दर मार्क्स तीन दृढ़ सिद्धान्तो का वर्णन करता है। इन्हीं के ऊपर समाजवाद का पूरा पूरा दारोमदार है। इन तीनो सिद्धान्तों को समझ कर ही हम मार्क्स के समाजवाद को समझ सकते हैं। ये तीनों सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

१—इतिहास का आर्थिक पहलू।
२—वर्गवाद।
३—शारीरिक परिश्रम का मूल्य।

इन तीनों सिद्धान्तों का वर्णन अलग अलग किया जायगा। इसके पहले हम मार्क्स की उन चन्द बातो का वर्णन कर देना चाहते हैं जिनको हर एक समाजवादी दिल से मानता है। यद्यपि ये वाक्य एक व्यक्ति के हैं फिर भी सारे समाजवादी इन्हें ब्रह्म वाक्य मानते हैं। मार्क्स लिखता है 'धर्म अफीम है।' मज़हब को लोगों ने ढोंग बना रक्खा है। पूँजीपति, जिन्हे खाने पीने की कोई चिन्ता नहीं है, धर्म के पक्षपाती होते हैं। बिचारे ग़रीब, जो सुबह से शाम तक काम करते रहते हैं, मजहब के एक भी वसूल को नहीं बरतते। धर्म इस बात की शिक्षा देता है कि जिसके पास जो कुछ है वह उसी में सन्तोष करे। इसका तात्पर्य

यह है कि विचारा ग़रीब मजदूर हमेशा ग़रीब बना रहे। धार्मिक संस्थाओं को भी मार्क्स ने ढोंगियों का संगठन बतलाया है। वह यह भी लिखता है कि संसार में मशीनें बेकारी की जड़ हैं। मार्क्स की यह भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य दिखाई पड़ती है। वह यह भी लिखता है कि समाजवाद की स्थापना होने के बाद संसार में पूर्ण शान्ति का युग आरम्भ होगा। लोगों मे प्रसन्नता और सन्तोष दिखाई पड़ेगा। जब तक इस वाद की स्थापना नहीं होगी तब तक व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय लाभ के लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से और एक देश दूसरे देश से लड़ते रहेंगे। वर्तमान प्रजातंत्रवाद में, जिसे जनता का राज्य कहा जाता है, और जिसके नाम पर एकता और समानता की डुग्गी पीटी जाती है, यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि लड़ाई के आसार बढ़ते जा रहे हैं। साम्राज्य पिपासा दिन पर दिन बढ़ती जाती है। इसे देखते हुये यह शंका होती है कि मुमकिन है मार्क्स के समाजवाद से ही शान्ति की स्थापना हो।

इतिहास का आर्थिक पहलू
Economic interpretation of History

एक सज्जन लिखते हैं "इतिहास मरे हुये आदमियों का जलूस है। इससे कोई लाभ नहीं है।" जो लोग इतिहास के पक्ष में है उनका यह कहना है कि इतिहास हमारे पूर्वजों की कीर्तियों का संग्रह है। इससे हम पिछले जमाने की घटनाओं से वर्तमान युग मे सुधार कर सकते हैं। एक तीसरे वर्ग के लोग इतिहास को मनुष्य की सभ्यता का कारनामा समझते हैं। मार्क्स ने इतिहास को एक नई दृष्टि से देखा है। वह लिखता है कि इतिहास गरीबो की वह कहानी है जिसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आरम्भ से अब तक जितने भी परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं इतिहासों मे उनके भिन्न भिन्न कारण बताये गये हैं। लेकिन मार्क्स का कहना है कि इन सबका कारण केवल आर्थिक है। जब तक मनुष्य के पास धन की कमी थी तब तक उसकी आवश्यकतायें कम थीं। उसके अन्दर शिक्षा, कला, व्यवसाय आदि का कहीं नाम भी न था। इस काल को जंगली जमाना कहा गया है। इतिहास इस जंगलीपन का कुछ और ही

कारण बताता है किन्तु गौर से देखने पर यह पता चलता है कि धन के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा कारण नहीं है।

आर्थिक साधन मे जब कुछ उन्नति हुई और लोगों की आवश्यकतायें बढ़ने लगीं तो इतिहास का एक नया युग आरम्भ हुआ। मनुष्य के जीवन मे अनेक परिवर्तन दिखाई देने लगे। उसके आवागमन में वृद्धि हुई और ज्ञान का भांडार बढ़ने लगा। सभी लोग सुख पूर्वक रहने लगे। कुछ समय वाद जब मशीनों का युग आया तो मनुष्य की सभ्यता में महान क्रान्ति हुई। कोई इसका कारण मानसिक बताता है, कोई वैज्ञानिक और कोई दिमागी। लेकिन मार्क्स साफ लिखता है कि नई सभ्यता का जन्म नये आर्थिक साधनों के कारण हुआ है। आज जो दुनियाँ मे ऐशो-आराम दिखाई पड़ता है उसका कारण केवल आथिक है। इतिहास मे जो काल विभाजन किये जाते हैं उनका एक मात्र कारण आर्थिक है। कोई भी इतिहास गरीब दुखियो की कहानी वर्णन नहीं करता। उसके अन्दर राजाओ का ही जिक्र किया जाता है। यह सारा संसार अथ पर ही चलायमान है। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसे धन की आवश्यकता न हो। इतिहास मे जितनी भी लड़ाइयाँ हुई हैं उनकी जड़ में आर्थिक लाभ है। धन की उत्पत्ति की जैसी व्यवस्था होती है उसी प्रकार लोगों का रहन सहन भी बनता है। धन की उत्पत्ति ही राजनैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा नैतिक वसूलो को निश्चित करती है।

वर्गवाद
Class Struggle theory

आमतौर से लोग मनुष्य को तीन श्रेणी में विभाजित करते हैं। एक धनी वर्ग दूसरा मध्यम वर्ग, और तीसरा गरीब वर्ग। मार्क्स इस विभाजन से सहमत नहीं है। वह लिखता है कि मनुष्य केवल दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग को 'पूँजीपति' (Capitalists) और दूसरे वर्ग को 'मजदूर' (Proletariat) वर्ग कहते हैं। मशीनो से पहले इन दोनों वर्गों मे कोई विशेष अन्तर न था। लेकिन मशीनों की वृद्धि के कारण यह अन्तर धीरे धीरे बढ़ने लगा। पूँजीपति बड़ी बड़ी मिलों के स्वामी बन गये। मजदूरो को विवश होकर उनमे काम करना पड़ा। इसलिये वे सभी प्रकार से धनियो के दास होते गये।

समाज में पूँजीपतियों का बोलबाला बढ़ता गया। राजनीति में उन्हीं की बात महत्व पूर्ण मानी जाने लगी। एक प्रकार से वे ही शासक बन बैठे। इसके विपरीत, मज़दूर वर्ग उनके हाथ की कठपुतली होता गया। उसकी ग़रीबी प्रतिदिन बढ़ती गई। उसकी रहन सहन दिन पर दिन अवनति करती गई। लेकिन फिर जब इन्हें होश हुआ तो ये भी अपने अधिकार की चेष्टा करने लगे। परिणाम यह हुआ कि पूंजीपति और मज़दूर इन दोनों वर्गों मे लड़ाई आरम्भ हुई। मार्क्स यह भी लिखता है कि यह युद्ध इतिहास के आरम्भिक युग से ही चल रहा है, परन्तु किसी को इसका पता न था। धर्म और अध्यात्मवाद की कशमकश मे लोगों का ध्यान धन की महत्ता की ओर जाता ही न था। आधुनिक भौतिकवाद के कारण यह लड़ाई साफ ज़ाहिर पड़ रही है। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था क़ायम रहेगी तब तक यह लड़ाई जारी रहेगी। ग़रीब वर्ग अपने हक़ के लिये लड़ता रहेगा और पूँजीपति अपने स्वार्थ की रक्षा करते रहेगे। इस युद्ध को दूर करने का एक ही उपाय है, और वह यह कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था दूर कर दी जाय। सभी सम्पत्ति सरकारी समझी जाय। इससे निजी लाभ की भावना जाती रहेगी। और न कोई धनी रहेगा और न कोई ग़रीब।

सभ्यता के युग में व्यक्तिगत सम्पत्ति सबसे बड़ा कलंक है। जितने भी झगड़े कचहरियों में जाते हैं उनमे ९० प्रतिशत् व्यक्तिगत स्वार्थ के मुकदमे रहते हैं। सामाजिक सुधारों की आवश्यकता इसी विषमता के कारण पड़ती है। समाज में बहुत से दुर्गुण इसी विषमता के परिणाम हैं। जब प्रकृति मे एकता और समानता दिखलाई पड़ती है, और बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्तुयें सबको एक समान दी गई है, तो समाज में विषमता की कोई आवश्यकता नहीं है। हवा, पानी प्राकृतिक सौन्दर्य, रोशनी, सर्दी और गर्मी इनका उपयोग हर व्यक्ति जितना चाहे कर सकता है। अतएव इन्हीं से उत्पन्न हुई सम्पत्ति पर केवल एक वर्ग का अधिकार क़ायम कर देना सर्वथा अनुचित है। इसी विषमता का परिणाम है कि ग़रीबों के अन्दर तरह तरह की बीमारियाँ और शिक्षा की कमी नज़र आती है। पूँजीवादी अपने धन का जो दुरुपयोग करते हैं उसे

कोई भी जायज़ नहीं कह सकता। धार्मिक अथवा नैतिक किसी भी दृष्टि से असमानता उचित नहीं कही जा सकती।

शारीरिक परिश्रम का मूल्य Labour theory

अर्थ शास्त्र के विद्वानो का इस विषय मे मतभेद है कि किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाय। कुछ तो यह कहते हैं कि जितना धन किसी वस्तु के बनाने में ख़र्च हो उतना ही उस वस्तु का मूल्य रक्खा जाय। कुछ लोग वस्तु की उपयोगिता के साथ इसके मूल्य को जोड़ देते है। जेम्स स्टुअर्ट मिल, अदम स्मिथ, और रिकार्डो, के कथनानुसार किसी वस्तु का मूल्य परिश्रम के अनुसार रखना चाहिये। मार्क्स इससे और आगे बढ़कर यह कहता है कि संसार मे जो भी वस्तु दिखलाई पड़ रही है उसका एक मात्र कारण शारीरिक परिश्रम है। बिना परिश्रम के छोटी से छोटी वस्तु तैयार नही की जा सकती। जितनी भी वस्तुये मनुष्य के प्रयोग मे आ रही हैं उन सब को उसने अपने परिश्रम से तैयार किया है। एक सुई से लेकर बड़े बड़े महल तक मनुष्य के परिश्रम से तैयार किये गये हैं। मशीनो के युग से पहले शारीरिक परिश्रम का मूल्य किसी कदर उचित लगाया जाता था। लेकिन मशीनो के बाद इसका मूल्य इतना कम होगया कि मजदूर वर्ग भूखों मरने लगा। मस्तिष्क का मूल्य बढ़ने लगा। आज यह बात साफ दिखाई पड़ रही है कि जो लोग दिमाग़ी काम करते हैं उन्हे अधिक पुरस्कार दिये जाते है, और जो मज़दूर कड़ी धूप और सर्दी मे नंगे बदन काम करते हैं उन्हे मुश्किल से खाने भर को दिया जाता है। लोगो ने वस्तुओं का मूल्य परिश्रम से लगाना छोड़ दिया है। उनका यह विश्वास है कि दिमाग़ से ही वस्तुये बन रही है, इसी लिये उनका मूल्य भी दिमाग़ से ही लगाना चाहिये।

इस सिद्धान्त को मार्क्स 'अनुचित मूल्य सिद्धान्त' (The Theory of Surplus Value) भी कहता है। यहाँ पर एक उदाहरण दे देना अच्छा होगा। मान लीजिये आठ आने रोज़ पर हमने एक बढ़ई रक्खा। उसने ६ दिन में एक मेज़ तैयार किया। अर्थात् हमें बढ़ई को तीन रुपये देने पड़े। हमने उसे बाज़ार में पाँच रुपये को बेंचा। मार्क्स इस दो रुपये को, जो हमने अधिक लिया, अनुचित

मूल्य कहता है। हमें उस मेज़ को तीन रुपये में ही बेंचना चाहिये था। हमने बढ़ई के परिश्रम से बेजा लाभ उठाया। इसी तरह पूँजी-पति कम पैसे देकर मज़दूरों से चीजें तैयार कराते हैं और उन्हें अधिक से अधिक लाभ पर बेचते हैं। यही कारण है कि बिचारे मज़दूरों के पास झोंपड़ी भी नहीं है, लेकिन पूजीपतियों की बड़ी बड़ी आलीशान इमारतें खड़ी हैं। मार्क्स लिखता है कि यदि परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जाय तो हर एक आदमी अपनी अपनी कमाई से लाभ उठा सकता है। वह दूसरे के परिश्रम पर जीवित नहीं रह सकता। आज भी यदि वस्तुओं का मूल्य परिश्रम के अनुसार लगाया जाय तो धनियों को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वे ग़रीबों से बेजा लाभ उठायें। परिश्रम एक वस्तु है, जिसे पूँजीपति सस्ते से सस्ते दाम में ख़रीद लेता है। बिचारे मज़-दूरों को मजबूर होकर इसे बेच देना पड़ता है।

समाजवाद के ये तीनों सिद्धान्त इसके तीन पाये हैं। मार्क्स को समझने के लिये यह आवश्यक है कि ये तीनों सिद्धान्त समझ लिये जायें, तभी वैज्ञानिक समाजवाद समझा जा सकता है। वर्तमान युग में समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय होगया है। इसका क्षेत्र क्रमशः बढ़ता जा रहा है। रूस में इस सिद्धान्त को कार्य रूप में परिणत किया जा रहा है। वहाँ इसे काफी सफलता भी मिल रही है। दुनिया की नज़र रूस की ओर लगी हुई है। कितने ही मुल्क तो उसे हर प्रकार से बदनाम करने की कोशिश करते हैं। लेकिन वह इनकी परवाह न करके अपने रास्ते पर लगा हुआ है। कुछ लोग रूसी साम्राज्यवाद को कलकत्ते की काल कोठरी से भी बदतर कहते हैं। लेकिन कुछ सज्जन, जिनमे हमारे प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन भी शामिल हैं, इसे संसार का स्वर्ग कहते हैं।

समाजवाद के गुण और दोष

इसमे कोई शक नहीं कि धन मनुष्य के जीवन में एक बहुत बड़ा हाथ रखता है। समाजवाद इस पर काफी प्रकाश डालता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह विद्वान् से विद्वान् और धार्मिक से धार्मिक क्यों न हो, इसकी उपयोगिता से मुँह नहीं मोड़ सकता। समाजवाद का यह सिद्धान्त सभी को प्रिय है कि समाज मे पूर्ण समानता होनी चाहिये। धनी और ग़रीब का अन्तर सचमुच एक

पाप है। एक ओर तो लोग भूखों मरें और दूसरी ओर हवाई जहाज़ पर चिड़ियों की उड़ान हो, इस अधःपतन की दूसरी मिसाल शायद ही कहीं मिल सके। समाजवादी धन की समानता पर सबसे अधिक ज़ोर देते हैं। वर्तमान भौतिकवाद के युग में धन की महत्ता को देखते हुये यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी समानता होनी चाहिये। मनुष्य की सारी उन्नति का दारोमदार आज धन पर ही क़ायम है। ऐसी दशा में एक वर्ग को इससे वंचित रखना सर्वथा अन्याय है। समाजवादी धर्म को ढोंग समझते हैं। हम काफी अंश में उनके साथ सहमत हैं। बीसवीं सदी में धर्म के नाम पर जो अत्याचार हो रहे हैं उन्हें देखते हुये अच्छे से अच्छे लोगों को इसके प्रति घृणा हो सकती है। मध्ययुग में योरप में धर्म के नाम पर सैकड़ों वर्ष तक लड़ाई चलती रही। इसी के कारण रानी मेरी ने ४०० आदमियो को जीवित आग में झोंक दिया। इसी के नाम पर हमारे देश मे छुआछूत की बीमारी फैली हुई है। ईश्वर और अल्लाह के नाम पर हिन्दू और मुसलमान ख़ून की दरिया बहा देते हैं। अगर सचमुच धर्म इसी का नाम है तो मैं प्रत्येक हिन्दुस्तानी से यह प्रार्थना करूँगा कि वह मज़हब छोड़कर एकदम ला-मज़हब बन जाये। समाजवादी जिस धर्म को तिलाञ्जलि देना चाहते हैं, उसके अन्दर इसी धर्म की बू है।

समाजवाद के अन्दर एक और भी बात बड़े मार्के की दिखाई पड़ती है। ग़रीबों के प्रति जितनी सहानुभूति इस वाद के अन्दर दिखाई पड़ती है उतनी शायद ही कहीं किसी वाद में हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति को हटा कर समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी पकार की समानता और एकता होगी। प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रम का पूरा उपभोग करेगा। काहिली और बेकारी इस पृथ्वी से जाती रहेगी। सभी प्रकार के मुकाबिले सर्वदा के लिये दूर हो जायेंगे। स्वार्थ, परमार्थ मे परिणत हो-जायगा। नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, धनी-ग़रीब का अन्तर जाता रहेगा। यदि सचमुच समाजवाद सच्चे दिल से इनकी स्थापना करना चाहता है तो मैं हृदय से इसका स्वागत करता हूँ।

जहाँ समाजवाद में इतने गुण हैं वहाँ इसकी कुछ बुराइयाँ भी हैं। लोगों का यह कहना है कि विषमता प्रकृति का नियम है।

पाँचो उँगलियाँ बराबर नहीं हैं। इसलिये आर्थिक समानता एक निरा स्वप्न है। जब मनुष्य में शारीरिक समानता नहीं है और उसकी बुद्धि भी कम वेश है, तो और क्षेत्रों में भी विषमता रह सकती है। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर शत्रु हैं। एक विद्वान् का कहना है, "सबसे ऊँची सभ्यता मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का ही नियम चालू किया जायगा।"*

व्यक्तिगत सम्पत्ति से मनुष्य को अधिक सुख और सन्तोष होता है। उसे यह पूरी स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपने धन का अच्छा से अच्छा उपयोग कर सके। व्यक्तिगत सम्पत्ति के विनाश से उद्योग की अभिलाषा जाती रहेगी। सभी काम मनुष्य को भार मालूम पड़ने लगेंगे। जब निजी लाभ की भावना लोगो के दिलों से जाती रहेगी तो उनकी उदासीनता भी बढ़ जायगी। लोगों का कौटुम्बिक जीवन होटल का सा बन जायगा। समाजवाद की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी क्रान्ति की भावना है। यह वाद किसी भी प्रकार से, चाहे उसमे कितनी ही खून खराबियाँ क्यों न हो, अपने मंज़िलेमकसूद पर पहुँचना चाहता है। अपने उद्देश्य के आगे वह रास्ते की कोई परवाह नहीं करता। घृणित से घृणित नीति का प्रयोग भी इसे मान्य है। यदि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये पैशाचिक शक्ति का प्रयोग करना पड़े तब भी इसे कोई हिचक नही है। सामाजिक इतिहास का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि विकसित सिद्धान्त मनुष्य के लिये अधिक लाभप्रद होते हैं। सहसा परिवर्तन समाज को चकाचौध कर देता है। क्रान्ति के द्वारा समाजवाद इस नियम का उलङ्घन करता है। धर्म को समूल नष्ट करके समाजवाद मनुष्य को एक काठ का पुतला बनाना चाहता है। धर्म की गन्दी बातें दूर करने के लिये सभी लोग अपनी सम्मति दे सकते हैं, लेकिन इसके विनाश के लिये बहुत थोड़े से लोग तैयार होगे। यदि सच्चे दिल से देखा जाय तो धर्म ने मनुष्य जाति का काफी कल्याण किया है। हिन्दुस्तान के सिर को दुनिया के सामने ऊँचा रखने का श्रेय धर्म को ही है।

---

* The highest civilization will adopt the system of separate or individual ownership.

समाजवाद की चर्चा हमारे देश में भी काफी हो रही है। कांग्रेस के अन्दर एक समाजवादी दल भी क़ायम हो गया है। इसका उद्देश्य हिन्दोस्तान मे समाजवाद की स्थापना करना है। परन्तु न तो इस देश में इनका कोई बड़ा नेता है और न इनके सामने कोई निश्चित कार्य-क्रम है। इसलिये यह दल काफी पीछे है। जो लोग इस देश में समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं वे इसका मुकाबिला रूस से करते हैं। उनका कहना है कि रूस और हिन्दोस्तान दोनों हीं कृषि प्रधान देश हैं, दोनों की जन-संख्या काफी बड़ी है। लम्बाई चौड़ाई में भी दोनों मुल्क काफी बड़े हैं। इस लिये इस देश में समाजवाद का ख़ूब प्रचार हो सकता है। एक सज्जन तो यहाँ तक लिखते हैं कि समाजवाद केवल उसी देश में प्रचलित हो सकता है जहाँ की अधिकतर जनता खेती पर अपना जीवन निर्वाह करती हो और जिनकी रहन-सहन बिलकुल साधारण हो। इसे देखते हुये हिन्दोस्तान समाजवाद के लिये बहुत ही उपयुक्त जान पड़ता है। जिस तरह रूस में पचास भाषायें हैं और लगभग आधे दर्जन धार्मिक सम्प्रदाय है उसी तरह भारत में भी अनेक मजहब और भाषायें हैं। समाजवाद की स्थापना से पहले जो दशा रूस की थी वही दशा आज हिन्दुस्तान की है। रूस मे निरंकुश शासन था। यहाँ भी प्रजातन्त्रवाद का सच्चा स्वरूप नहीं है। ग्राम पंचायतों की प्रथा दोनो देशों में थी। जैसी विकट ग़रीबी रूस में थी उसी तरह आज भारत में भी है। इतनी समानता होते हुये भी इस देश मे समाजवाद का आन्दोलन अपनी शैशव अवस्था से आगे नहीं है।

हिन्दुस्तान और समाजवाद

हिन्दोस्तान समाजवाद के लिये कदापि अनुकूल नहीं है। पं० जवाहरलाल जी अपने एक व्याख्यान में कहते हैं "हिन्दुस्तान की ग़रीबी और बेकारी की कठिन समस्या तभी सुलझ सकती है जब इस देश का संगठन समाजवाद के आधार पर किया जाय।*

---

* The tremendous problem of poverty and unemployment in India can only be solved by a vast system of planning on a socialistic basis.

लेकिन साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि पहले हिन्दोस्तान को अपनी आज़ादी की चिन्ता होनी चाहिये, इसके बाद समाजवाद की। वास्तव में इस देश में समाजवाद की स्थापना करना एक स्वप्न देखना है। हिन्दोस्तान अपना सब कुछ खो सकता है लेकिन मरते दिन तक अपने धर्म को नहीं छोड़ सकता। जो लोग समाजवाद की ऊपरी बातों पर लट्टू हैं, उन्हें धर्म के गूढ़ रहस्य रत्ती भर भी मालूम नहीं हैं। धर्म से अलग होकर हमारे देश में बड़ा से बड़ा सिद्धान्त उठाकर फेंक दिया जायगा। हमारे देश का दर्शन शास्त्र रूस के समाजवाद से कहीं ऊँचा और तर्कपूर्ण है। समाजवाद की स्थापना केवल उन्हीं देशों में हो सकती है जो मशीनों के भक्त हैं। हमारे देश मे यह आन्दोलन बड़े ज़ोरों से जारी है कि घरेलू कारोबार जिन्दे किये जायँ और मशीनों का सर्वथा वहिष्कार किया जाय। यह आन्दोलन गान्धीवाद के नाम से पुकारा जाता है। कुछ लोग हिन्दुस्तानी समाजवाद को नेहरूवाद भी कहते हैं। यदि सचमुच यह बात ठीक है तो हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि गाँधीवाद नेहरू वाद से कहीं ऊँचा है। इसे पण्डित जी स्वयं स्वीकार कर सकते हैं। यह देश प्रजातन्त्रवाद का देश है। इसकी उन्नति के समय में भी इसी प्रजातंत्रवाद की प्रथा प्रचलित थी। पंचायती राज्य था। और छोटे छोटे प्रजातन्त्र राज्य, बगीचे की फुलवारी की तरह बिखरे हुये थे। यदि यह देश पुनः अपने स्वर्णयुग को वापिस लाना चाहता है तो पंचायती राज्य क़ायम करे और प्रजातंत्रवाद की चेष्टा करे। वह समाजवाद के चक्कर मे न पड़े।

अध्याय १५

क़ानून (Law)

क़ानून का तात्पर्य—क़ानून की उत्पत्ति और और विकास—क़ानून के विभिन्न अर्थ—क़ानून के सिद्धान्त—हुक्म सिद्धान्त—दार्शनिक सिद्धान्त—ऐतिहासिक सिद्धान्त —संगठित सिद्धान्त—क़ानून के ज़रिये—रसम रवाज़—वैज्ञानिक वाद विवाद—कचहरियों के फैसले—धर्म—धारा सभाओं के क़ानून—न्यायानुकरण—न्याय संशोधन—क़ानून का पालन—भय—तर्क—काहिली—सहानुभूति—स्वभाव—क़ानून के अन्तिम उद्देश्य—दड के सिद्धान्त—लाक—रूसो—वेन्थम—ग्रीन—ओपेनहैम—स्वाभाविक क़ानून—अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून—क़ानून और स्वतन्त्रता।

क़ानून का तात्पर्य

कानून की परिभाषा लोगो ने भिन्न भिन्न की है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्रता की कुञ्जी कहते हैं और कुछ इसे एक बन्धन कहकर पुकारते हैं। रोम का प्रसिद्ध विद्वान सिसरो (Cicero) लिखता है, "हम लोग स्वतन्त्र होने के लिये कानून के बन्धन में पड़े हुए हैं"* सिसरो के इस कथन में एक बड़े मार्के की बात यह है कि क़ानून एक बन्धन भी है और स्वतन्त्रता की कुजी भी। यह तो सभी जानते हैं कि क़ानून सरकार द्वारा बनते हैं। धारा सभाये क़ानून को बनाती हैं। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि एक व्यक्ति दूसरे को किसी भी प्रकार से हानि न पहुँचाये। हर आदमी अपने अधिकार की सीमा को पहचाने। इसीलिये क़ानून को "अधिकार का दर्शन शास्त्र" भी कहते हैं। यदि आज अधिकार की लड़ाई न हो तो क़ानून की कोई आवश्यकता नही है। क़ानून हीं अधिकारो की व्याख्या करते हैं। अधिकार की परिभाषा को ही क़ानून कहते हैं। लेकिन डूगिट (Duguit) के कथनानुसार

* We are the slaves of the law in order that we may be free.

अधिकार का अस्तित्व ही नहीं है। अधिकार शब्द ही ग़लत है। वह लिखता है कि कर्त्तव्य के अतिरिक्त अधिकार कोई चीज़ नहीं है। इसलिये क़ानून अधिकारों की व्याख्या न करके कर्त्तव्यों की परिभाषा करते हैं। जो कुछ भी हो हमे यह मानना होगा कि अधिकार और कर्त्तव्य दोनों साथ साथ चलते हैं। एक के बिना दूसरे का ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतएव हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि कानून का सम्बन्ध अधिकार और कर्त्तव्य दोनों से है। जो किसी के अधिकार में दख़ल देता है वह कानून द्वारा दोषी ठहराया जाता है। अथवा जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता उसे कानून द्वारा दंड दिया जाता है। 'क़ानून' शब्द इतना आम फ़हम है कि हर आदमी इसके नाम से परिचित है। लोग अक्सर कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा कानून दाँ है। यहाँ पर कानून का तात्पर्य दाव पेच से है। जो आदमी अधिक से अधिक तिगड़म बाज़ होता है उसे लोग क़ानून दाँ कहा करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि क़ानून दाव पेच की चीज़ ज़रूर है, लेकिन यह निरा दाव पेच भी नहीं है। यह क़ानून का ही प्रभाव है जो हम समाज में संगठित रूप से रह रहे हैं। जब कभी हम अपने कर्त्तव्यों को भूल कर ग़लत रास्ते पर चले जाते हैं तो कानून ही हमे ठीक रास्ते पर लाते हैं। क़ानून उसी के लिये बन्धन हैं जो अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना चाहता। जो सदाचारी हैं और कभी भी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते उन्हें कानून अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। इसीलिये एक विद्वान ने क़ानून को "मनुष्य के मस्तिष्क से निकली हुई सबसे अमूल्य वस्तु" ठहराया है। मनुष्य का सबसे ऊँचा विचार क़ानूनों के अन्दर छिपा हुआ है। किसी देश की सभ्यता का सच्चा इतिहास क़ानून से ही जाना जा सकता है।

कुछ लोग क़ानून और स्वतन्त्रता को एक दूसरे का विरोधी शब्द कहते हैं। उनका यह कहना है कि यदि क़ानून न होते तो मनुष्य अपने आपको पूर्ण स्वतन्त्र समझता। वह जो चाहता करता और जहाँ चाहता जाता। क़ानून से वह इस कदर बाँध दिया गया है कि पग पग पर उसे बन्धन दिखलाई पड़ते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कानून जंगली स्वतन्त्रता का दुश्मन है। यदि

स्वतन्त्रता कोई ऐसी चीज़ है जिसमें हम औरों को हानि पहुँचा सकते हैं तो इसकी आवश्यकता समाज मे नहीं है। क़ानून ऐसी स्वतन्त्रता की आज्ञा नहीं देते। यदि कोई चोरी करता है तो क़ानून उसे दोषी ठहराते हैं। लेकिन यदि कोई किसी से कुछ माँग कर लेवे तो वह क़ानून द्वारा अपराधी नहीं है। इसलिये तर्क के साथ जिन कामों को हम अच्छा समझते हैं कानून उनका समर्थन करते हैं, इसके विपरीत सभी काम बुरे और दोषपूर्ण हैं। इससे हम यह कह सकते हैं कि "तर्क का ही दूसरा नाम क़ानून है।" जो आदमी आवेश में आकर किसी काम को कर बैठता है वह तर्क और क़ानून दोनो के विरुद्ध है। हमारा मस्तिष्क नियमो की महत्ता को मानता है, लेकिन परिस्थिति के वशीभूत होकर वह उनका उलंघन भी करता है। इसीलिये कानून की रक्षा के लिये सरकार को एक संगठित विभाग बनाना पड़ता है। यदि हम ग़ौर से देखें तो राज्य में सब कुछ संगठन कानून की रक्षा के लिये ही है। इसी की रक्षा से शान्ति रह सकती है और इसी से राज्य की उन्नति भी हो सकती है। सरकार का एक विभाग (Legislature) क़ानून को बनाता है; दूसरा (Executive) इसकी देखभाल करता है; और तीसरा (Judiciary) क़ानून तोड़ने वालो को दंड देता है। अर्थात् सरकार के तीनो अंग क़ानून से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। लेकिन हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सरकार का काम केवल कानून बनाना और उसकी रक्षा करना है। इसके अलावे भी सरकार के बहुत से कर्त्तव्य हैं जिनका वर्णन अध्याय ८ में किया गया है।

आरम्भ से लेकर अब तक क़ानून का सम्बन्ध सरकार से इतना घनिष्ट रहा है कि दोनो एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते। कुछ लोग तो भूल से कानून को ही सरकार समझ लेते है। क़ानून और सरकार दोनो के दर्शन शास्त्र मिले जुले हैं। राज्य की उत्पत्ति के साथ साथ कानून का भी जन्म हुआ। कानून की उत्पत्ति और विकास पर आगे चल कर विचार किया जायगा। यहाँ पर हमे इतना ध्यान रखना चाहिये कि क़ानून, राज्य और सरकार इन तीनो का जन्म एक साथ हुआ है। जिस प्रकार समाज से अलग राज्य और सरकार का कोई तात्पर्य नहीं है,

उसी तरह क़ानून भी समाज से अलग नहीं किये जा सकते। अधिकार और कर्त्तव्य एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रह सकते। इनके लिये एक से अधिक व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यदि किसी देश मे एक ही व्यक्ति रहता हो तो हम उसे राज्य नहीं कह सकते। न तो वहाँ कोई सरकार है और न क़ानून। इसलिये हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि क़ानून ही एक ऐसी चीज़ हैं जो व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। जिस समाज मे क़ानून का पालन नहीं होता वह समाज निकम्मा समझा जाता है। कानून इस बात के द्योतक हैं कि कोई समाज अपने आपको कितना अधिक सगठित कर सकता है। कानून की अच्छाई और बुराई राज्य को बना और बिगाड़ सकती है। क़ानून से ही जनता के विचार प्रकट होते हैं। इतिहास के आरम्भिक युग से अब तक मनुष्य का अध्ययन करने के लिये क़ानून अत्यन्त आवश्यक हैं। सभ्य और असभ्य जाति की ख़ास पहचान उनके क़ानूनों से की जाती है। यदि हम मनुष्य मात्र की सभ्यता का इतिहास उठाकर देखे तो पता चलेगा कि प्राचीन और नवीन क़ानूनों मे जमीन आसमान का अन्तर है। क़ानून एक शक्ति है। इसके अन्दर इतना बल है कि वह बड़ी से बड़ी हस्ती को झुका सकती है। सरकार की सारी संगठित शक्ति क़ानून को प्राप्त है। फौज और पुलीस क़ानून के हाथ और पैर हैं। इनके अलावे क़ानून को तर्क की भी शक्ति मिली हुई है। बड़ा से बड़ा व्यक्ति इस बात का साहस नहीं कर सकता कि वह क़ानूनो को तोड़ सके।

क़ानून की उत्पत्ति और विकास

जब से मनुष्य समाज मे रह रहा है तभी से उसे नियमों का पालन करना पड़ता है। जगली अवस्था से निकल कर जब छोटे छोटे संगठित समाज बनने लगे तो उन्हें क़ायम रखने के लिये थोड़े बहुत नियम बनाये गये। इनके अतिरिक्त कुछ रस्म-रिवाज भी ऐसे प्रचलित हुये जिन्हें सभी लोग मानते थे। इनका पालन व्यक्तिगत विश्वास के ऊपर निर्भर था। इन नियमों का लोग आसानी से उलंघन कर सकते थे। जिस रस्म-रवाज मे उनका विश्वास नहीं होता उन्हें वे छोड़ सकते थे। इस स्वतन्त्रता का परिणाम यह हुआ कि समाज का संगठन मज़बूत न हो सका।

यह स्वाभाविक है कि सभी व्यक्ति अपनी भलाई और उन्नति को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। नियमों को तोड़ने मे ही उन्हें आनन्द आता है। उनकी यह भी ख़ाहिश होती है कि चन्द लोग बुरे से बुरे कामों में उनका साथ दें। समाज को यह तजुर्बा हुआ कि अच्छे से अच्छे नियमों का पालन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उनके पीछे कोई शक्ति न हो। इसी शक्ति को लाने के लिये राजनैतिक व्यवस्था बनाई गई। इकरार सिद्धान्त के प्रतिपादक इससे भली भाँति सहमत हैं। राजनैतिक व्यवस्था मे सरकार की भी उत्पत्ति हुई। सरकार के साथ ही कानूनों का जन्म हुआ। शुरू से जितने भी रस्म-रवाज समाज में प्रचलित थे उन पर पूरा पूरा विचार किया गया और जो नियम सब पर लागू हो सकते थे उनका पालन करना सब के लिये ज़रूरी ठहराया गया। ये रस्म-रवाज विभिन्न देशों मे भौगोलिक परिस्थिति के कारण अलग अलग थे। आज भी यह अन्तर साफ साफ दिखलाई पड़ता है। यही वजह है कि हर देश के क़ानून भिन्न भिन्न हैं। उनके विकास के रास्ते भी एक दूसरे से अलग हैं। कानून की उत्पत्ति के बाद समाज में दो प्रकार के नियमो की वृद्धि होने लगी। एक सामाजिक और दूसरा राजनैतिक। सामाजिक नियमो के अन्तर्गत घरेलू रसम-रवाज और धार्मिक क्रियायें हैं। ये नियम भी बड़े ही अटल होते थे। लोग श्रद्धा और विश्वास के कारण जल्दी इनका उलंघन नहीं करते थे। कुछ समय बाद जब सामाजिक संगठन और मजबूत हो गये तो इन नियमों की रक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। जो कोई इन्हें तोड़ता उसे समाज से या तो बहिष्कृत कर दिया जाता, या कुछ दंड दिया जाता था। अब भी वे नियम समाज मे प्रचलित हैं, लेकिन उनके पीछे समाज की वह शक्ति नहीं है जो पहले थी। हमारे देश मे ग्राम पंचायतों के अतिरिक्त जाती पंचायतें कहीं कहीं पर आज भी हैं। यदि अपनी बिरादरी का आदमी कोई दूषित काम करता है तो उसकी जाति उसके साथ ख़ाना-पीना, उठना-बैठना बन्द कर देती है। गाँव का पानी तक उसे पीने नहीं दिया जाता। नाई, धोबी, दर्जी इनसे वह काम नहीं ले सकता। इस सख़्ती का नतीजा यह होता है कि लोग सामाजिक नियमों का उलंघन करने मे डरते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक

युग में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिये सामाजिक नियम काफी ढीले कर दिये गये हैं। लेकिन उनका सर्वथा लोप नहीं हो गया है। ये नियम आरम्भ से समाज में प्रचलित हैं, क्रमशः इनकी वृद्धि हुई है, इनका सुधार भी समय समय पर किया गया है, और आज भी सामाजिक नियम जारी हैं, लोग इनका पालन करते हैं। कुछ ऐसे भी सामाजिक और धार्मिक नियम हैं जिन्हें लोग सरकारी क़ानूनों से भी बढ़ कर समझते हैं। क़ानूनों का उलंघन भले ही हो जाय, लेकिन उन नियमों का पालन किया जाता है। इसकी वजह यह है कि इस प्रकार के सामाजिक नियम मनुष्य के स्वभाव के इतने अनुकूल होते हैं कि वह उनका उलंघन कर ही नहीं सकता। उसे कोई बाहरी भय नहीं होता, लेकिन भीतर से उसकी आत्मा इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह इनका पालन करे।

सामाजिक नियमों के साथ साथ सरकारी कानून भी बढ़ते गये। यदि समाज में सभी व्यक्ति समान बुद्धि वाले होते और अपने ही सरीखे औरों की भलाई का ध्यान रखते तो राजनैतिक व्यवस्था की कोई आवश्यकता ही न होती। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से ही स्वार्थी है। उसे अपने लाभ की पहले चिन्ता होती है। यही नहीं, वह अपने लाभ के लिये औरों की हानि भी कर सकता है। अपने इष्ट मित्रों के प्रति वह अधिक सहानुभूति रखता है। उसे जितनी चिन्ता अपने अधिकार की रहती है उतनी औरों के अधिकार की नहीं। अवसर पड़ने पर वह झूठ बोल सकता है, तथा औरों के अधिकार को छीन सकता है। सामाजिक नियम इन्हें रोकने मे सर्वथा असमर्थ सिद्ध होने लगे। इन्हीं सामाजिक नियमों की देख रेख के लिये सरकारी व्यवस्था बनाई गई। इस व्यवस्था को क्रमशः ठीक बनाने के लिये और व्यक्तिगत अधिकार को अधिक से अधिक सुरक्षित रखने के लिये कानूनों की आवश्यकता हुई। मनुष्य का असली स्वभाव ज्यों ज्यों जाहिर होता गया तथा और उसकी अच्छी तथा बुरी हरकतें मालूम होती गईं, त्यों त्यों विभिन्न प्रकार के कानून बनते गये। बढ़ते बढ़ते इनकी संख्या अनगिनत हो गई। कुछ दूर चलकर इन्हे दो भागों में बाँट दिया गया— दीवानी और फौजदारी कानून। माल से सम्बन्ध रखने वाले

क़ानून दीवानी क़ानून कहलाने लगे और लड़ाई-झगड़े से सम्बन्ध रखने वाले फौजदारी कानून कहलाये। यह विभाजन आज भी सभी देशो मे माना जाता है। क़ानून का कहीं अन्त नहीं है। मनुष्य का जीवन जितना ही संगठित होता जा रहा है उतने ही अधिक क़ानून बनते जा रहे हैं। सामाजिक जीवन के विकास के साथ साथ मानव जीवन की समस्यायें और भी जटिल होती जा रही हैं। उन्हें सुलझाने के लिये क़ानूनों का ही आश्रय लेना पड़ता है। कभी कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि धारासभाओं मे कुछ कानून अभी बने भी नहीं रहते हैं, किन्तु जजों को उनकी आवश्यकता पड़ जाती है। नये नये मुकदमें उनके सामने आते रहते हैं। इस लिये उन्हे विवश होकर अपनी बुद्धि का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार कचहरियो में भी नित्य नये नये क़ानूनों का बीजारोपण होता रहता है। धारा सभायें उन्हें ख़ुशी ख़ुशी मान लेती हैं। ऐसी कानूनों को "न्यायाधीश के क़ानून" (Judge-made Law) कहते हैं। फ़ान्स में कार्यकारिणी विभाग के अफसरों को यह अधिकार प्राप्त है कि आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं कानून बना सकते हैं। इस प्रकार के कानून "राजकीय क़ानून" (Administrative Law) कहलाते हैं। हिन्दोस्तान में भी गवर्नर और वाइसराय को यह अधिकार प्राप्त है कि आवश्यकता पड़ने पर वे नये कानून जारी कर सकते हैं, लेकिन उनका असर ६ महीने से अधिक नहीं रह सकता।

कानून की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकता के कारण हुई है। इसी के वशीभूति होकर मनुष्य को समाज में आना पड़ा है। यदि व्यक्ति की सभी आवश्यकतायें एकाकी जीवन मे पूरी हो जायँ तो उसे समाज में रहने की कोई आवश्यकता न होगी। लेकिन यह विचार ग़लत है। मानवता का विकास समाज से बाहर कदापि नहीं हो सकता। समाज मे प्रत्येक व्यक्ति इसी अभिलाषा से प्रवेश करता है कि उसकी अधिक से अधिक उन्नति होगी। इसलिये यह आवश्यक है कि समाज मे व्यक्ति के अधिकार स्पष्ट कर दिये जायँ। साथ ही उसे यह भी बतला दिया जाय कि अमुक अमुक अधिकार औरों के हैं। उसे इनकी अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिये। इन्हीं दोनों बातों को स्पष्ट करने के लिये क़ानून की आवश्यकता

पड़ी है। इससे अपने अधिकार की रक्षा के साथ साथ औरों के अधिकार का भी ज्ञान होता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उसने अमुक अपराध इसलिये किया है, कि उसे इसका ज्ञान नहीं था। क़ानून की अज्ञानता बचाव का कोई कारण नहीं है, (Ignorance of law has no excuse)। जितना ही अधिक व्यक्ति को अपने अधिकारों का ज्ञान बढ़ता गया है उतने ही अधिक क़ानून भी बढ़ते गये हैं। इसके अतिरिक्त संगठनों की ज्यों ज्यो वृद्धि हुई है त्यो त्यों नये नये क़ानून बनते गये हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युग में क़ानूनों की और भी भरमार होती जा रही है। कारण यह है कि व्यक्ति की रक्षा और उसके अधिकार का प्रश्न अपने देश से बाहर भी सुलझाना पड़ता है। अन्य राष्ट्रों में उसके अधिकार निश्चित करने पड़ते हैं। विदेशी व्यापार के नियम बनाने पड़ते हैं। शान्ति सभा (League of Nations) की स्थापना के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बढ़ते जा रहे हैं। विभिन्न देशो का सम्पर्क जितना ही बढ़ता जा रहा है उतने ही क़ानून भी बढ़ रहे हैं। शान्ति सभा इन क़ानूनों को एकत्र कर उन पर अमल भी करती है। चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अभी अधूरा और कमज़ोर है इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून भी अभी अपूर्ण हैं। उनके पीछे कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो दृढ़ता पूर्वक उनका पालन कराये। उनकी दशा इस समय वैसी ही है जैसी आरम्भ मे सामाजिक नियमो की थी। राष्ट्र की इच्छाओं पर है कि उन्हें तोड़े या माने।

क़ानून के विकास में एक और भी बात सहायक हुई है। वह है मनुष्य के मस्तिष्क की उन्नति। जैसे जैसे ज्ञान की उन्नति होती गई है उसी तरह क़ानून भी बढ़ते गये हैं। कानून से स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। यह बात ग़लत है कि संसार मे "मात्स्य न्याय" (Might is Right) होना चाहिये। मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है, लेकिन वह उसका ग़ुलाम भी नहीं रह सकता। प्रकृति पर अपना अधिकार करने की लड़ाई ही मनुष्य की सभ्यता का विकास है। विज्ञान की उन्नति ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि निरा प्राकृतिक जीवन जंगली जीवन है। पिछले इतिहास से यह बात सिद्ध हो जाती है। विज्ञान की उन्नति के साथ साथ मनुष्य की बुद्धि भी बढ़ती गई है। इससे मनुष्य को जो लाभ पहुँचा है, और पहुँच रहा है, वह

किसी से छिपा नहीं है। अब यह सिद्धान्त सर्व सम्मति से मान लिया गया है कि स्वतन्त्रता एक ऐसी चीज़ है जो व्यक्ति को स्वयं बन्धन में डाल देती है। लेकिन यह बन्धन मनुष्य की भलाई और उन्नति के साथ इतना मिला जुला रहता है कि वह उसे तोड़ने की इच्छा भी नहीं करता। उसने अपनी इच्छा से यह स्वीकार कर लिया है कि जंगली जीवन की स्वतन्त्रता एक ख़तरनाक चीज़ है। मनुष्य की वास्तविक उन्नति तब तक नही होगी जब तक उसे सामाजिक और राजनैतिक बन्धन में बाँध न दिया जाय। इसीलिये सिसरो का कहना सर्वथा ठीक है कि "हम लोग स्वतन्त्र होने के लिये क़ानून के बन्धन मे पड़े हुये है।" जब से मनुष्य की बुद्धि इस मार्ग पर विचार करने लगी तभी से सभ्यता का इतिहास आरम्भ होता है। उसी समय से मनुष्य को कानूनो के बन्धन मे रखने का आन्दोलन आरम्भ होता है, जो अब तक जारी है। इसीलिये कहा गया है कि ज्ञान की वृद्धि के साथ कानून की भी वृद्धि होती जा रही है। यद्यपि कानून बन्धन हैं, और वे पग पग पर हमे रोकते हैं, फिर भी यह रुकावट हमारी भलाई के लिये होती है। इसे हम दूसरी तरफ से देखे तो पता चलेगा कि हमारे भी मार्ग मे कोई रुकावट नहीं डाल सकता। हमारी तथा हमारे अधिकारों की रक्षा इन्हीं कानूनो द्वारा होती है। बलवानों की पाशविक शक्ति को रोकने का एक मात्र श्रेय क़ानूनो को है। ग़रीबों तथा कमज़ोरों की रक्षा कानून से ही होती है। एकता और समता का भाव बुद्धि विकास के साथ साथ ज्यो ज्यो बढ़ता जा रहा है, त्यो त्यों क़ानून भी बढ़ते जा रहे हैं।

कानून के विभिन्न अर्थ

पाउन्ड ने (R Pound) अपनी पुस्तक में (An Introduction to the philosophy of Law) क़ानून का बारह अर्थ बतलाया है। मैं पाठको से यह अनुरोध करूँगा कि क़ानून के विस्तृत ज्ञान के लिये वे पाउन्ड की किताब को अवश्य देखे। यहाँ पर सक्षेप में हम उन बारह अर्थो को दे देना चाहते हैं।

(१) क़ानून दैवी नियम हैं। ईश्वर ने उन्हे मनुष्य के कल्याण के लिये बनाया है। ख़ुदा के फरिस्तो ने समय समय पर इस भूमि पर आकर उन्हे बनाया जो अब तक चलते रहते हैं। मसीह ने

अपने शब्दों में उन्हीं क़ानूनों को बतलाया। इसके दस नियम (Ten Commandments) इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। हज़रत मूसा ने भी इसी तरह के क़ानून बनाये हैं। हिन्दुओं में जो दस अवतार माने जाते हैं वे इन्हीं क़ानूनों का इज़हार करते हैं।

(२) क़ानून पुराने रसम-रवाज़ हैं। इन्हे न केवल इन्सान बल्कि देवताओ ने भी स्वीकार किया है। इन्हीं की बदौलत मनुष्य की संसार मे रक्षा होती है। इन्हीं का सहारा लेकर वह आसानी से अपने कामो को इनजाम देता है। प्राचीन-काल मे यूनान देश मे इसी तरह के क़ानून प्रचलित थे। रसम-रवाज़ों की बड़ी इज्ज़त की जाती थी।

(३) क़ानून महानुभावों के सच्चे विचार हैं। जो नियम उन्होंने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये निर्धारित किया है, वे ही क़ानून हैं। उन्हीं पर चल कर मनुष्य की भलाई हो सकती है। कहा भी है कि "महाजनो येन गतः स पन्थाः"। प्राचीन भारतवर्ष में ऋषि मुनियो ने जो नियम बनाया था उन्हे लोग श्रद्धापूर्वक मानते थे। आचारवान पुरुषों के सभी नियम क़ानून हैं। उन्हें मान कर सभी लोग अपना कल्याण कर सकते हैं।

(४) क़ानून वह सिद्धान्त है जो वस्तुओं के गुण के अनुसार बनाया गया है। संसार की सभी वस्तुओ का अध्ययन करने के बाद उनमें कुछ ऐसे उसूल पाये गये हैं जो सब पर लागू होते हैं। मनुष्य भी उन वस्तुओं में शामिल है। उन्हीं उसूलों के आधार पर क़ानून की रचना हुई है। इसलिये मनुष्य का यह धर्म है कि वह क़ानूनों का पालन करे। क़ानून मनुष्य के विचारों के प्रतिनिधि हैं।

(५) क़ानून एक प्रकार के आध्यात्मिक नियम हैं। इन्हें प्राकृतिक नियम भी कहते हैं। जिस प्रकार प्रकृति सभी वस्तुओं को उत्पन्न करती है, उन्हें जीवित रखती है और उनका विनाश करती है उसी तरह मनुष्य के अन्तःकरण मे यह स्वाभाविक शक्ति मौजूद है कि वह अपने को क़ायम रख सके। उसी की आज्ञानुसार वह चलता रहता है। यही आज्ञा क़ानून है। जो इसके विरुद्ध चलता है वह अपना ही अहित करता है। इक़रार सिद्धान्त के मानने वालो ने इस प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) का वर्णन किया है।

(६) क़ानून एक प्रकार की शर्तें हैं जिन्हें राजनैतिक संगठन के निमित्त बनाया गया है। इसमे वे सुलहनामे वर्णन किये गये हैं जो हर व्यक्ति ने एक दूसरे के साथ किया है। अर्थात् क़ानून राजनैतिक संगठन के वे मसौदे हैं जिनके द्वारा सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित किये गये है। इनसे प्रत्येक व्यक्ति यह जानता रहता है कि औरो के साथ उसका क्या कर्तव्य है।

(७) क़ानून दैवी विचारों के प्रतिबिम्ब हैं। इन्हीं से यह सारा विश्व चलायमान हो रहा है। इन्हीं विचारो के अनुसार मनुष्य अन्य सांसारिक जड़ और चेतन पदार्थों से भिन्न माना गया है। अन्य जीवो तथा पदार्थों को ये दैवी विचार बिना किसी रू रियायत के मानने पड़ते है, लेकिन इंसान के लिये ये नियम उसकी इच्छा पर छोड़ दिये गये हैं। थामस अकुना (St. Thomas Aquinas) ने मध्यकाल मे क़ानून का यही अर्थ किया था। ये दैवी विचार मनुष्य स्वभाव के सर्वथा अनुरूप होते हैं।

(८) क़ानून राजसत्ता का एक विशेष गुण है। राजा का हुक्म क़ानून कहलाता है। इस हुक्म से यह बतलाया जाता है कि प्रजा को एक दूसरे के साथ मिलकर कैसे रहना चाहिये। आस्टिन का सिद्धान्त इस मत की पुष्टि करता है। यूनान और रोम मे इसी तरह के क़ानून प्रचलित थे। हिन्दोस्तान मे भी राजपूत राजा अपनी इच्छा के अनुसार क़ानून बनाते थे। मुसलमानी ज़माने मे भी बादशाहों के फरमान निकलते थे, जिन्हें मानना ज़रूरी होता था।

(९) क़ानून वे सिद्धान्त हैं जो मनुष्य के पिछले अनुभवो पर बनाये गये हैं। आरम्भ से अब तक मनुष्य को समाज मे अनेक अनुभव हुये हैं। बहुत सी अच्छाइयो और बुराइयो का पता चला है। मनुष्य की सामाजिक कमज़ोरियो का भी ज्ञान हुआ है। इन्ही सब अनुभवों के आधार पर मनुष्य की भलाई के लिये कुछ ऐसे सिद्धान्त बनाये गये हैं जिनके अन्दर मनुष्य का सच्चा स्वभाव दिखलाई पड़ता है। यदि वह इन नियमो का पालन करे तो उसे अपनी उन्नति का पूरा पूरा अवसर मिलेगा। इन पर चल कर वह स्वय स्वतन्त्रता हासिल करेगा और दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधक भी नहीं होगा।

(१०) क़ानून मनुष्य के कार्यों पर वैज्ञानिक ढंग से चिन्तन किया हुआ एक सिद्धान्त है। इसकी वृद्धि नैयायिकों ने आपस के वादाविवाद द्वारा की है। तर्क की कसौटी पर मनुष्य के सभी बाहरी उद्योगो को कसने के बाद कुछ ऐसे वसूल खोज निकाले गये हैं जिनसे मनुष्य मात्र की उन्नति हो सकती है। उन्हीं के द्वारा व्यक्ति और समाज की राय मे एकता क़ायम की जा सकती है। क़ानून की आवश्यकता तभी पड़ती है जब मनुष्य के विचार कार्य रूप में परिणत हो जाते हैं। कार्य से ही मनुष्य के विचार प्रकट होते हैं। इसलिये यद्यपि क़ानून बाहरी कामो के आधार पर बनाये जाते हैं, फिर भी वे मनुष्य की भीतरी इच्छाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

(११) क़ानून नियमों के उस समूह को कहते हैं, जिनके द्वारा समाज मे एक वर्ग दूसरे पर राज्य करता है। क़ानून के ही बल से धनी वर्ग ग़रीबों को चूसता रहता है। आर्थिक विषमता को जीवित रखने का एक मात्र अपराध क़ानूनो के ही सर पर मढ़ा जा सकता है। समाजवादी इतिहास को जब आर्थिक संगठन की दृष्टि से देखते हैं तो उन्हे इसी नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि क़ानून चन्द लोगों के आराम को क़ायम रखने के एक ज़रिये हैं। इन्हीं का भय दिखला कर राज्य में शासक वर्ग शासितों पर अपनी धौंस जमाता है। समाज का वर्गीकरण क़ानूनों द्वारा ही क़ायम रक्खा गया है।

(१२) क़ानून वे आर्थिक और सामाजिक नियम हैं जिनकी सहायता से मनुष्य समाज में अपना जीवन निर्वाह करता है। पिछले अनुभवों और जीवित उदाहरणों से यह बात और भी साफ हो जाती है। यदि हम आँख उठाकर देखें तो अधिकतर क़ानून धन की ही व्यवस्था से अपना सम्बन्ध रखते हैं। सम्पत्ति वितरण के क़ानून कम से कम तीन चौथाई तो ज़रूर ही होगे। कचहरियों मे ९० प्रतिशत मुकदमे रुपये पैसे और जमीन के सम्बन्ध के होते हैं। समाजशास्त्र के अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि आर्थिक आवश्यकता का समाज संगठन में सब से बड़ा हाथ है। यही वजह है कि इसे सुलझाने के लिये सब से अधिक क़ानूनो की आवश्यकता पड़ी है। व्यावसायिक वृद्धि के बाद क़ानूनों की

जो इतनी बढ़ती हुई है उसकी वजह केवल आर्थिक है। यदि सम्पत्ति मनुष्य के लिये एक गौड़ चीज़ हो जाय तो न केवल क़ानूनों की कमी हो जायगी, बल्कि सामाजिक सगठन भी काफी ढीला पड़ जायगा। व्यक्तित्व का विकास आथिक उन्नति के साथ साथ हुआ है। क़ानून इन दोनो के जीते जागते उदाहरण हैं।

क़ानून के सिद्धान्त

ऊपर पाउन्ड ने कानून के जो वारह अर्थ किये हैं उनके अन्दर क़ानून के वे सभी अर्थ आ जाते हैं जो आरम्भ से अब तक समय समय पर किये गये हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये इन सभी अर्थों को हम चार कोटि मे रख सकते हैं। अर्थात् चार सिद्धान्त के अन्तर्गत हम इन सबका वर्णन कर सकते हैं। वे सिद्धान्त निम्न-लिखित हैं:—

१—हुक्म सिद्धान्त (Command Theory of Law).
२—दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory of Law).
३—ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory of Law).
४—संगठित सिद्धान्त (Social Solidarity Theory of Law)

हुक्म सिद्धान्त

१—बोदाँ, हाब्स, बेन्थम और आस्टिन इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। वैसे तो यह सिद्धान्त काफी पुराना है। यूनान मे सूफी दार्शनिक इस बात को मानते थे कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त ठीक है। वे यह भी कहते थे कि इंसाफ बलवानों का एक विशेष अधिकार है। कानून पर बलवानों का ही शासन रहता है। बाकी लोग भय के कारण उसका पालन करते है। राजा का हुक्म हीं क़ानून होता है। इसी के आधार पर आस्टिन आदि दार्शनिको ने अपना सिद्धान्त खड़ा किया है। आस्टिन का कहना है कि संसार मे दो तरह के मनुष्य रहते हैं। एक तो वे जो बुद्धिमान होते हैं और दूसरे वे जो बहुत ही साधारण बुद्धि रखते हैं। ऐसी दशा मे कम बुद्धि वालों का यह धर्म है कि वे बुद्धिमानों के हुक्म को माने। इसी बुनियाद पर आस्टिन कहता है कि प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन करना चाहिये। उसकी

आज्ञा हीं कानून है। यदि राजा यह हुक्म देता है कि उसकी सारी प्रजा काला कपड़ा पहना करे तो यह हुक्म कानून कहलायेगा। लेकिन कानून को निरा हुक्म मानना सचाई का उलंघन करना है। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद में कानून को हुक्म कहना सरासर ग़लत है। इसे जनता की राय कहना अधिक उपयुक्त है। तानाशाही के अन्तर्गत आस्टिन का सिद्धान्त ठीक हो सकता है, लेकिन वह एक आम रूल नहीं कहा जा सकता। कानून को हुक्म कहना मानों जनता की राय को ठेस मारना है। जिस राज्य में कानून के पीछे जनता की राय नहीं होती वह चन्दरोज़ा होता है। किसी भी समय वहाँ क्रान्ति हो सकती है। यह बात तर्क के विरुद्ध है कि करोड़ो व्यक्ति की राय में सचाई न हो और एक ही व्यक्ति जो कुछ हुक्म दे वह ठीक माना जाय। यह एक अन्ध विश्वास है। यह बात साफ ज़ाहिर है कि प्रजा के प्रतिनिधि क़ानून को बनाते हैं। हर मामले में जनता का बहुमत लिया जाता है। सख्त से सख्त बादशाह इस बात की हिम्मत नहीं कर सकता कि वह मनमाना हुक्म देकर अपनी प्रजा को अपना दुश्मन बनावे।

दार्शनिक सिद्धान्त

२—इस सिद्धान्त के मानने वालों में जर्मन विद्वान कान्ट (Kant) का नाम उल्लेखनीय है। प्राचीन यूनान देश में कानून को एक प्रकार का इक़रार माना जाता था। अपनी इच्छानुसार लोगों ने राज्य से यह इक़रार किया था। सुकरात जब कैद करके जेल में डाल दिया गया तो उसके चन्द साथियो ने उसे यह सलाह दी कि वह जेल से भाग निकले। लेकिन सुकरात ने यह कह कर इनकार कर दिया कि वह कानून को नहीं तोड़ सकता। वह एक ऐसी शर्त है जिसे उसने स्वयं राज्य के साथ की है। इक़रार के अतिरिक्त कानून अपनी हीं इच्छा को प्रकट करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के तर्क पूर्ण विचारो का संग्रह क़ानून कहलाता है। फ्रांसीसी विद्वान रूसो (Rousseau) ने क़ानून को जनता की राय कहा है। वह लिखता है कि क़ानून हमारी ही इच्छा को प्रकट करते हैं और हमें बुरे मार्गों से बचा कर अच्छाई की ओर अग्रसर करते हैं। क़ानून का पालन कर हम अपनी हीं अन्तरात्मा की सच्ची आवाज़ को मानते हैं। कान्ट का भी यही कहना है कि क़ानून व्यक्ति के

सच्चे विचार हैं। इसकी उत्पत्ति हुक्म और दबाव के कारण नहीं हुई है। जो बात सर्व-सम्मति से उचित ठहराई गई है वही क़ानून माना गया है। क़ानून व्यक्ति के स्वभाव को प्रकट करते है।

कुछ विद्वानो का यह कहना है कि मनुष्य के स्वभाव और प्राकृतिक नियम मे कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य का स्वभाव प्राकृतिक नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जब हम तर्क से काम लेते हैं तो प्राकृतिक नियमों पर ही पहुँच जाते हैं। लेकिन कुछ विद्वान इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि प्राकृतिक नियम (Natural Law) और तर्क द्वारा बनाया गया नियम (Law of Reason) इन दोनों मे भेद है। रोमन दार्शनिक भी इस भेद को स्वीकार करते हैं। उन्होंने दोनो के लिये दो शब्दो का प्रयोग किया है। जो लोग दोनों को एक ही चीज़ समझते हैं उनका यह कहना है कि मनुष्य का स्वभाव प्रकृति के अनुरूप है। इसलिये वह जो कुछ विचार करेगा वह प्रकृति का ही चिन्तन कहलायेगा। यही कारण है कि उसके ऊँचे से ऊँचे तर्क प्राकृतिक नियमों के अधिक से अधिक निकट आ जाते हैं। कान्ट ने तो क़ानून को आध्यात्मिक विचार बतलाया है। इसी लिये उसे आदर्शवाद का पिता कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा मे दैवी अंश है उसी तरह क़ानून मे भी ईश्वरीय अंश मौजूद है। जो व्यक्ति क़ानून को तोड़ता है वह एक बहुत बड़ा पाप करता है। अपनी अन्तरात्मा का उलंघन करने के साथ साथ वह उस दैवी शक्ति का भी उलंघन करता है जो इस विश्व को चला रही है। इस सिद्धान्त के मानने वाले राज्य के पूरे भक्त होते हैं। हमें क्या, किसी को भी यह स्वीकार न होगा कि क़ानून को तोड़ना एक पाप है। बुरे क़ानूनो को तोड़ना प्रजा का धर्म है। बहुत से ऐसे कानून बन जाते हैं जो हमारी इच्छा को प्रकट नहीं करते, उल्टे हमे हानि पहुँचाते है। अतएव उस अमानुषिक नियम के अन्दर आध्यात्मिकता को बू कहना मनुष्य और प्रकृति दोनों की हँसी करना है।

ऐतिहासिक सिद्धान्त

२—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत सेभिनी और हेनरी मेन (Savigny and Sir Henry Maine) के नाम उल्लेखनीय हैं। किसी भी सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐतिहासिक सिद्धान्त सबसे पुष्ट माना जाता है।

इसका दूसरा नाम विकास सिद्धान्त भी है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सभी वस्तुओं का इतिहास जानना चाहता है। सहसा परिवर्तन उसके स्वभाव के विरुद्ध है। ऐतिहासिक सिद्धान्त के मानने वाले कानून को एक विकसित वस्तु मानते हैं। उनका यह कहना है कि क़ानून न तो हुक्म है और न आध्यात्मिक चिन्तन। मनुष्य अनादि काल से समाज मे निवास करता आ रहा है। तभी से छोटे मोटे सामाजिक नियम बनने लगे थे। ज्यों ज्यों समाज की उन्नति होती गई, उसी प्रकार नियम उपनियम बढ़ते गये। मनुष्य को अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनी रहन-सहन बनानी पड़ी। भौगोलिक परिस्थिति के कारण उसके आचार-विचार एक दूसरे से भिन्न होते गये। इन्हीं के अनुकूल अनेक रसम रवाज़ बनते गये। जङ्गली जीवन से लेकर वर्तमान वैज्ञानिक युग तक इन रसम रवाज़ों में अनेक परिवर्तन हुये। इनमे से कुछ तो सरकारी क़ानून मान लिये गये और शेष आज भी समाज में किसी न किसी रूप मे पाये जाते हैं। यद्यपि उनके पीछे सरकारी शक्ति नहीं है फिर भी धर्म और लोक लज्जा का भय उन्हे मजबूत बनाये हुये हैं। तात्पर्य यह है कि क़ानून कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसकी उत्पत्ति रसम रवाजो से भिन्न है। जितने भी क़ानून प्रचलित हैं उनका इतिहास देखने से पता चलता है कि एक समय ये साधारण रसम रवाज़ थे। मनुष्य स्वभाव से ही उनका पालन-पोषण करता आ रहा है। क़ानूनो का पालन इसी लिये होता है कि वे मनुष्य के स्वभाव के अंग होते हैं। रसम रवाज़ों को ही वैज्ञानिक शब्दो में रख कर क़ानून करार दिया जाता है। दोनों मे अन्तर केवल इतना हीं है कि एक के पीछे सरकारी शक्ति होती है और दूसरा जनता की इच्छा पर क़ायम रहता है।

सगठित सिद्धान्त

४—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक फ्रांस के विद्वान् डूगिट (Duguit) हैं। १९११ ई० में आपने कानून पर अपना विचार प्रकट किया। इङ्गलैंड का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ लास्की (Laski) इस सिद्धान्त से भली भाँति सहमत है। डूगिट लिखता है कि राज सत्ता कोई व्यक्तित्व नहीं रखती। इसलिये वह हुक्म देने में सर्वथा

असमर्थ है। क़ानून को हुक्म मानना सच्चाई से कोसों दूर भागना है। क़ानून समाज को सगठित करने के लिये बनाये गये हैं। ये समाज की आवश्यकताओं को प्रकट करते हैं। जैसे जैसे समाज की आवश्यकता बढ़ती गई है उसी तरह क़ानून भी बनते गये है। राज्य के अन्दर बहुत से संगठन होते हैं। सभी अपनी अपनी उन्नति के लिये अलग अलग नियम बनाते हैं। उन्हीं नियमो को कानून कहना चाहिये। राज्य केवल इतना हीं कर सकता है कि उन संगठनो को एक दूसरे से जोड़ता रहे। कानून की उत्पत्ति दो कारणों से होती है। एक तो इसलिये कि मनुष्य की बहुत सी सामाजिक आवश्यकतायें हैं। उनकी पूर्ति के लिये कानून बनाने पड़ते है। दूसरा कारण आवश्यकताओं का आदान-प्रदान है। इससे भी कानूनो की वृद्धि होती है। जितने प्रकार के सगठन होगे उतने ही प्रकार के कानून होगे। शासक उन्हीं की आवश्यकतानुसार कार्य करेगा। सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिये ही कानून बनाये जाते है। इनका उपयोग यही है कि सब लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। अधिकार और कानून से कोई सम्बन्ध नही है। अधिकार कोई चीज़ ही नही है। कर्त्तव्य का ही दूसरा नाम अधिकार है। कानून से किसी के अधिकार का आभास नही होता है, बल्कि जनता को उससे अपना कर्त्तव्य मालूम होता है। कानून राजा को उसके कर्त्तव्यों का ज्ञान कराते हैं। इसलिये वे राजा से बढ़ कर है। राज्य मे बड़ी से बड़ी शक्ति कानून के मातहत है। कानूनो मे परिवर्त्तन इसीलिये होते रहते हैं कि सामाजिक संगठन का रूप बदलता रहता है। जिस कानून से जनता को लाभ नहीं पहुँचता और उसकी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती वह कानून निरर्थक है। राज्य के अन्तर्गत छोटे बड़े सभी कार्यकर्ता जनता की सेवा के लिये भर्ती किये जाते हैं। इन्हीं कानूनो द्वारा वे सेवा कार्य कर सकते है। डूगिट के कानून के इस सिद्धान्त ने राजसत्ता का अर्थ ही बदल दिया है। अब तक लोगो का यह विचार था कि राजसत्ता का विभाजन नहीं हो सकता और वह केन्द्रीय शासन मे ही जीवित रह सकती है। लेकिन डूगिट के कथनानुसार राजसत्ता सारे राज्य में फैली हुई है। हर संगठन राजसत्ता का एक अंग है। क़ानून का यह नया सिद्धान्त प्रजातन्त्रवाद की पुष्टि करता है। वर्त्तमान

वैज्ञानिक युग के यह सर्वथा अनुकूल है। कुछ लोग डूगिट के इस विचार से सहमत नहीं है, लेकिन कोई भी राजनीतिज्ञ इसकी महत्ता से मुँह नहीं मोड़ सकता।

जब हम यह प्रश्न करते हैं कि कानून के कौन कौन से ज़रिये क़ानून के ज़रिये हैं। तो इसके तीन अर्थ हो सकते हैं:—

१—क़ानून को कौन बनाता है।

२—कानून का उद्गम स्थान क्या है। अर्थात् कहाँ से कानून जारी किये जाते है।

३—क़ानून क्यों बनते हैं?

हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कानून लिखित और अलिखित दोनों होते है। अलिखित क़ानून केवल रसम रवाज़ हुआ करते है। आजकल लगभग सभी देशों में लिखित क़ानून का ही प्रचार है। इङ्गलैंड मे कामन्स सभा का सभापति (Speaker) सभा भवन मे एक शब्द भी नहीं बोल सकता। यद्यपि यह लिखित क़ानून नही है, फिर भी इसका पालन किया जाता है। वास्तव मे कानून के ज़रिये समय समय पर बदलते रहते हैं। जैसा क़ानून होता है उसी के अनुकूल उसका ज़रिया भी होता है। फिर भी अध्ययन की दृष्टि से यह अच्छा होगा कि कुछ आम ज़रियो का ज़िक्र कर दिया जाय। कुछ राजनीतिज्ञ यह कहते हैं कि "क़ानून का मूल्य उसके ज़रिये से ही लगाया जा सकता है। यदि इसका उद्गम स्थान जनता की राय है तो इसका पालन अधिक से अधिक होगा।" इस कथन में जनता की राय का मूल्य भली भाँति स्वीकार किया गया है। यदि कानून जनता की भलाई के लिये हैं तो उनका बनाना भी उसी की मर्ज़ी पर छोड़ देना चाहिये। हालैंड (Holland) लिखता है, "रसम रवाज़, जजो के फैसले, वैज्ञानिक वादविवाद, धारा सभायें, और कानून पर नये विचार, कानून के मुख्य ज़रिये है।" लेकिन इनके अलावे और भी कुछ ज़रिये हैं। मोटे तौर पर क़ानून के सात ज़रिये हैं।

१—रसम रवाज़ कानून का सबसे पुराना और प्रसिद्ध ज़रिया है। जब सरकारी क़ानूनो का कही नाम भी न था

रसम रवाज़ उस समय रसम रवाज़ समाज मे प्रचलित थे

और लोग उन्हें आदर पूर्वक मानते थे। हर देश के प्राचीन इतिहास मे उनका ज़िक्र किया गया है। आज भी जब कि सरकारी कानूनो की कमी नहीं है, रसम-रवाज प्रचलित हैं और वे कानून से कम मज़बूत नही हैं। जब सरकारी व्यवस्था बनने लगी उस समय इन्ही के आधार पर कानूनो की रचना हुई। रोम, यूनान, इङ्गलैंड, हिन्दोस्तान—इन सभी देशो मे प्राचीन काल से रसम रवाजो का बड़ा प्रचार है। आज भी इङ्गलैंड मे कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हे 'रसम रवाजी कानून' (Customary Law) कहा जाता है। हिन्दोस्तान मे पुरानी परिपाटियो को ध्यान में रखते हुये सभी कानून बनाये गये हैं। हमारे देश मे तो यह बात उल्टी दिखलाई पड़ती है। लोग रीति रवाजो को क़ानून से बढ़ कर समझते हैं। इन रवाजों को धार्मिक रूप देकर और सख्त बना दिया गया है। मज़हब की आड़ से रवाज इतने स्थायी बन गये हैं कि क़ानून बदल जायें, लेकिन उन पर एक भी बौछार नहीं आ सकती। यहाँ पर दो प्रश्न किये जा सकते हैं:—

अ—रीति रवाज कैसे क़ानून बन जाते हैं ?

ब—रीति रवाज कब कानून बन जाते है ?

कुछ जर्मन विद्वानों का मत है कि कानून और रसम रवाज में कोई भेद है। एक से राजा की इच्छा प्रकट होती है और दूसरे से प्रजा की। चूँकि दोनो की शक्ति बराबर है इसलिये क़ानून और रसम रवाज एक ही चीज़ है। अतएव कचहरियो के फैसले द्वारा रसम रवाज कानून मे परिणत कर दिये गये। आस्टिन (Austin) ने इसका विरोध किया है। वह लिखता है कि बहुत से ऐसे रवाज हैं जो कानून नहीं बनाये गये हैं। कभी कभी तो धारा सभाये रसम रवाजों को उठा कर फेंक देती हैं। सती प्रथा, बाल विवाह ऐसी प्रथायें धारा सभाओ द्वारा निकाल कर बाहर कर दी गई। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि रसम रवाज क़ानून बन जाया करते हैं। आस्टिन यह भी कहता है कि यदि रवाज और क़ानून एक ही चीज़ है तो क़ानून का रूप देने की आवश्यकता ही क्या है। वर्तमान अँग्रेज राजनीतिज्ञो का मत है कि जब कोई रवाज सरकार द्वारा मान लिया जाता है तो वह क़ानून कहलाता है। इसकी स्वीकृति या तो धारा सभायें देती हैं अथवा सरकारी

कचहरियाँ। चाहे जैसे भी हो, रसम रवाज़ क़ानून के बनने में काफी मदद देते हैं।

वैज्ञानिक वादविवाद

२—क़ानून का दूसरा ज़रिया वैज्ञानिक वादविवाद है। कुछ विद्वान् सामाजिक व्यवस्था पर अपना विचार प्रकट करते रहते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में उन पर टीका-टिप्पणी भी होती रहती है। बड़े बड़े वक़ील बैरिस्टर कुछ न कुछ लिखते रहते हैं। उन पर समालोचनायें होती रहती हैं। इनमें कितनी हीं ऐसी सुलझी हुई बातें निकल आती हैं जिन्हें बिना किसी विरोध के कानून मान लिया जाता है। सरकार और जनता दोनों एक स्वर से उनका समर्थन करती हैं। चाणक्य ने अपने "कौटिल्य का अर्थशास्त्र" में जो विचार प्रकट किया है उसका प्रभाव भारतीय क़ानूनों पर साफ दिखलाई पड़ता है।

कचहरियों के फैसले

३—हर देश में कचहरियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे अवसर पड़ने पर कानून बना सकती हैं। बहुत से ऐसे मुक़द्दमे कचहरियों में आते रहते हैं जिन्हें फैसला करने के लिये जजों को अपनी बुद्धि का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे अवसरों पर उन्हें नये कानून बनाने पड़ते हैं। इस प्रकार क़ानूनों की वृद्धि होती रहती है। जजों को यह अधिकार होता है कि अवसर के मुताबिक क़ानूनो की शक्ति को वे कम वेश कर सके अर्थात् उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन भी कर दें। लेकिन यह परिवर्तन स्थायी नहीं होता। किसी ख़ास मौके पर उसका उपयोग कर लिया जाता है।

धर्म

४—धर्म सामाजिक व्यवस्था की रीढ़ है। समाज के जितने भी नियम बनाये जाते हैं उन पर धार्मिक तरीक़े पर विचार कर लिया जाता है। कोई ऐसा नियम समाज के किसी भी वर्ग को पसन्द नहीं होता जो उसके धर्म का विरोध करता हो। क़ानूनों के बनाने में धर्म से काफी सहायता मिलती है। मज़हब के अनुसार ही क़ानून बनते हैं। यही वजह है कि एक देश में रहते हुये भी हिन्दू और मुसलमानों के क़ानून भिन्न भिन्न हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि "क़ानून ईश्वर प्रदत्त एक वस्तु है।" हर देश में यदि प्राचीन

काल के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो मालूम होगा कि पादरी और पुजारी राजकीय मामलों मे कितना अधिक हाथ रखते थे। मध्यकालीन यूरप में जो पोप और सम्राट् का युद्ध चलता रहा उसे सभी लोग जानते हैं। हमारे देश मे भी राजदर्बारों मे जो पंडितों का बोलबाला था वह किसी से छिपा नहीं है। मनु ने अपनी "मनुस्मृति" मे जो धर्म का नियम बताया है उसी के आधार पर हिन्दू क़ानून बनाये गये हैं। इसी तरह मुसलमानों के क़ानून उनके धर्म ग्रन्थो का आश्रय लेकर बनाये गये हैं। संसार के सभी लोग यह जानते हैं कि, 'ईसाई धर्म अंग्रेज़ी क़ानून का एक हिस्सा है।" पाश्चात्य प्रदेशो मे धर्म का प्रभाव क़ानून पर थोड़ा कम भी हो, लेकिन पूर्वीय देशो मे कानूनों का बहुत बड़ा हिस्सा धर्म से ही लिया गया है। हमारा देश, जो कि "धर्मभूमि" कहलाता है मज़हब से ओतप्रोत है। यहाँ के मज़हब इतने विस्तृत और व्यापक हैं कि यदि ईमानदारी के साथ लोग उन पर अमल करें तो क़ानूनों की कोई ज़रूरत ही नहीं है।

धारा सभाओं के क़ानून

५—क़ानून को बनाने के लिये सरकार के अतिरिक्त और कोई भी संस्था नहीं है। जब तक राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब तक कानून का कहीं नाम भी न था। राज्य की उत्पत्ति के साथ ही धारा सभाओं की व्यवस्था की गई। आरम्भ में राजा और उनके कुछ सहायक कानून बनाया करते थे। जब जनता के अधिकारों की वृद्धि हुई तो क़ानून बनाने का अधिकार प्रजा को मिला। सभी प्रजातन्त्र राज्यो में प्रतिनिधित्व की प्रथा चली। जनता के प्रतिनिधियों को यह भार दिया गया कि वे सबके लिये क़ानून बनावें। उन्हीं के मिलने से धारा सभाओं की उत्पत्ति हुई। अब यह अधिकार और भी पुष्ट कर दिया गया है। धारा सभाओं के अतिरिक्त क़ानून बनाने का अधिकार किसी को भी प्राप्त नहीं है। किसी भी नियम को, चाहे वह सामाजिक हो अथवा धार्मिक, क़ानून तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक धारा सभा उसे पास न कर दे। वास्तव में क़ानून वही है जो धारा सभाओं द्वारा पास किया जाता है। बाकी सब साधारण कोटि के नियमों मे आ जाते हैं। सरकार किसी भी नियम की रक्षा तब तक करने की ज़िम्मेवारी

नहीं लेती, जब तक उसे क़ानून न मान लिया जाय। धारा सभाओं में जो नियम पास होते रहते हैं वे ही क़ानून कहलाते हैं। सरकार उन्हीं के अनुसार अपना काम करती है। उन्हीं के पालन के लिये जनता पर ज़ोर दिया जाता है। उन्हीं को तोड़ना सरकारी जुर्म माना जाता है। ये सभायें केवल क़ानून बनाने के लिये ही बनाई जाती हैं।

न्यायानुकरण

६—ऊपर कहा गया है कि कचहरियों के फ़ैसले भी क़ानून के ज़रिये हैं। बहुत से नियम वहाँ ऐसे भी बनते रहते हैं जो धारा सभाओं द्वारा पास नहीं होते है। लेकिन उन्हें भी क़ानून कहा जाता है। बड़ी कचहरियो में जो फ़ैसले होते हैं उनका अनुकरण छोटी कचहरियाँ करती रहती हैं। यद्यपि वे अनुकरण करने के लिये बाध्य नहीं हैं, फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उन्हें करना पड़ता है। इस अनुकरण के कारण भी बहुत से नये क़ानून बनते रहते हैं। अंग्रेज़ी में इस प्रकार के क़ानूनो को प्रीसीडेन्ट्स (Precedents) कहते हैं।

न्याय संशोधन

७—क़ानून तभी तक काम करते हैं जब तक उसके अनुकूल सामाजिक व्यवस्था रहती है। जो क़ानून आज से दो हज़ार वर्ष पहले बना था वही क़ानून आज लागू नहीं किया जा सकता। जिन क़ानूनो का हम पालन कर रहे हैं वे ही एक या दो शताब्दी बाद बेकार सिद्ध हो सकते हैं। कारण यह है कि मनुष्यो के विचारों में अन्तर पड़ता रहता है। उसके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। क़ानून व्यक्तियों के सम्बन्ध को निश्चित करने के लिये बनाये जाते है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि सम्बन्ध के साथ साथ क़ानून बदलते रहें। इसी लिये क़ानूनों में संशोधन होता रहता है। पुराने क़ानूनों को नया रूप देते रहना पड़ता है। कभी कभी तो इसके लिये एक अलग न्यायालय बनाना पड़ता है, जिसका काम केवल यही होता है कि पुराने क़ानूनों की उपयोगिता पर विचार करे। रोम साम्राज्य में प्रीटर (Praetor) की स्थापना इसी काम के लिये हुई थी। प्रीटर किसी व्यक्ति का नाम नहीं है, बल्कि एक पद है। इंगलैंड में चान्सलर (Chancellor) इसी लिये नियुक्त किये जाते थे कि

पुराने क़ानूनों में संशोधन करें। इस संशोधन के कारण अनेक नये कानून बन जाते हैं। धारा सभाये उन्हें स्वीकार कर लेती हैं। जनता भी उन्हे इसलिये मान लेती है कि उन्हीं की आवश्यकतानुसार ये कानून बनाये जाते है। अंग्रेज़ी में इस प्रकार के कानून को इक्यूटी (Equity) कहते हैं।

"क़ानून और स्वतन्त्रता एक दूसरे के शत्रु हैं" (Law and Liberty are Poles asunder)। यदि हम

क़ानून का पालन

इस कथन को सत्य मान लें तो यह प्रश्न उठता है कि ऐसी दशा में हम कानून का पालन क्यो करते हैं? जिन कानूनों से हमारी स्वतन्त्रता नष्ट होती है उन्हें हम क्यो मान लेते हैं? इसके विपरीत कुछ विद्वानों का कहना है कि कानून और स्वतन्त्रता मे कोई विरोध नहीं है। कानून का पालन ही स्वतन्त्रता की सीढ़ी है। इस कथन के अनुसार यह बात साफ है की हम स्वतन्त्र होने के लिये कानूनो का पालन करते हैं। लेकिन हमें इस पर वैज्ञानिक ढंग से विचार करना होगा कि लोग कानूनों का पालन क्यों करते हैं। कितने हीं मनुष्य ऐसे है जो स्वतन्त्रता के अर्थ को न जानते हुये भी कानूनो का पालन करते हैं। इसका भी हमें कारण जानना होगा। यह प्रश्न कानून तक ही सीमित नहीं है। कोई भी यह कह सकता है कि लोग एक दूसरे की आज्ञा पालन क्यो करते हैं। एक ही उत्तर में ये दोनों प्रश्न हल किये जा सकते हैं। आज्ञा पालन, जिसमे कानून भी शामिल है, एक गुण है। यदि इसकी व्यवस्था समाज मे न हो तो एक दिन भी यह संसार नहीं चल सकता। कुटुम्ब से लेकर राज्य तक में आज्ञा पालन का भाव पाया जाता है। अब हमें यह देखना है कि कानून को क्यों लोग मानते हैं।

१ कुछ लोगों का मत है कि क़ानूनों का पालन भय के कारण होता है। अर्थात् लोग डरते हैं कि यदि वे

भय

क़ानून को तोड़ेंगे तो सरकार उन्हे दंड देगी। इसमें कोई शक नहीं, कि अधिकतर लोग कानून का पालन इसी लिये करते हैं। जो मूर्ख और अज्ञानी हैं, जिन्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान नही है वे औरो को हानि पहुँचाते रहते हैं। लेकिन क़ानून के भय से उनकी बेजा हरकत काफी रुकी रहती हैं।

यद्यपि वे क़ानून को पसन्द नहीं करते और चुपके चुपके उसे तोड़ते रहते हैं, फिर भी ज़ाहिरा वे क़ानून का पालन करते हैं। इसका एक मात्र कारण भय है। यदि क़ानून का भय न हो तो सामाजिक अव्यवस्था काफी बढ़ सकती है। लेकिन इतना हम ज़रूर कहेंगे कि भय ही क़ानून के पालन का एक मात्र कारण नहीं है। जो ज्ञानी हैं और जिन्हें किसी भी चीज़ का भय नहीं है वे क़ानून को डर के कारण नहीं मानते। वे उसे किसी और ही कारण से मानते हैं। यदि हमारे देश में ठीक ठीक हिसाब लगाया जाय तो ६० प्रतिशत लोग क़ानून का पालन इसी लिये करते हैं क्योंकि उसे तोड़ने में उन्हें भय मालूम पड़ता है। यदि क़ानून के पीछे भय न होता तो पुलीस और फौज की इतनी आवश्यकता न होती।

तर्क

क़ानून के पालन का तीसरा कारण तर्क है। कुछ व्यक्ति, जिनकी संख्या कम नहीं है, तर्क पूर्वक यह विचार करते हैं कि क़ानूनों से उनकी हानि होती है अथवा लाभ। उन्हें इसी नतीजे पर पहुँचना पड़ा है कि क़ानूनों से समाज को लाभ होते हैं। इससे प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार की सीमा मालूम होती रहती है। धनी ग़रीब को दबा नहीं सकता। निर्बल भी अपनी रक्षा कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति वा कुटुम्ब अपने आपको सुरक्षित समझता है। जब इस तर्क पर क़ानून उन्हे लाभदायक मालूम पड़ते हैं तो वे ख़ुशी ख़ुशी उनका पालन करते हैं। इसलिये तर्क भी क़ानूनों के पालन में बहुत बड़ा सहायक है।

काहिली

समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सोचने विचारने की तकलीफ नहीं उठाना चाहते। उन्हे सभी बातों में हामी भरना अच्छा मालूम पड़ता है। 'नहीं' कहने की तकलीफ उन्हें पसन्द नहीं है। दूसरों की बनी बनाई चीज़ को वे चुपचाप मान लेते हैं। जो उन्हें राय देता है, वह उनसे कमज़ोर और कम बुद्धि वाला ही क्यों न हो, उसी की बात वे मान लेते हैं। अधिकतर लोग तकलीफ उठाने से डरते हैं। क़ानून बनाना और उसे तोड़ना दोनों ही मुश्किल है। दोनों में बुद्धि और साहस की आवश्यकता पड़ती है। काहिल

आदमी इनमें से कोई भी पसन्द नहीं करता। एक ही अगुआ को बहुत से लोग मानते हैं और उसके पीछे चलने को तैयार रहते हैं। बहुत से लोग यह देखते हैं कि कुछ लोग क़ानूनों का पालन करते हैं तो चुपचाप उन्हें मानने लगते हैं। ब्राइस (James Bryce) तो यहाँ तक लिखता है कि हर ६ आदमी में ५ आदमी इसी काहिली के कारण क़ानूनों का पालन करते हैं।

सहानुभूति

क़ानून पालन का दूसरा कारण सहानुभूति है। कुछ क्या, अधिकतर लोगों के अन्दर यह गुण पाया जाता है कि वे औरों के प्रति दयालु होते हैं। दूसरो से प्रेम करना उनका एक स्वाभाविक गुण होता है। अधिक से अधिक लोगों के प्रति उनकी सहानुभूति होती है। क़ानून में वे इन सब गुणों को पाते हैं। क़ानून के कारण उन्हें शान्त वातावरण मिलता है। लोग अपनी मर्यादा के अन्दर ही अपना काम करते हैं। ऐसे वातावरण में उन्हें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलने का पूरा पूरा अवसर मिलता है। उन्हें यह अभिलाषा होती है कि लोगों में अधिक से अधिक समभाव हो। क़ानूनो में समानता का भाव सबसे अधिक है। इन्हीं सब कारणों से वे क़ानून का पालन करते हैं। जैसे उनकी सहानुभूति मनुष्यों के प्रति होती है वैसी ही उनके विचारों के प्रति। क़ानून एक प्रकार के विचार हैं। सहानुभूति के अन्दर मर्यादा का भाव छिपा रहता है। हम अपने बड़ों की बातें इसलिये मानते हैं क्योंकि हम उनकी इज़्ज़त करते हैं। उनकी आज्ञा हमें सिरोधार्य होती है। साधु सन्तों की बातें हमे हृदय से भली मालूम पड़ती हैं। इसी तरह क़ानून बनाने वालों को हम अपने से बुद्धिमान और देश हितैषी समझते हैं। इसलिये इसी सहानुभूति और मर्यादा के कारण कुछ लोग क़ानूनों का पालन करते हैं।

स्वभाव

नियम मनुष्य का स्वभाव है। हर आदमी यह चाहता रहता है कि वह नियमों का पालन करे। अनियमित जीवन किसी को भी अच्छा नहीं लगता। स्वयं अनियमित जीवन व्यतीत करने वाले अपनी कमज़ोरी को मानते हैं। समाज की रचना अनादि काल से हुई है। तभी से मनुष्य नियमों का पालन करता आ रहा है। ईश्वर में

अधिकतर लोग इसीलिये विश्वास करते हैं क्योंकि उन्हें इसकी परिपाटी को निवाहना पड़ता है। आज कल की आस्तिकता आबाई पेशे के कारण ज़िन्दा है। हम समाज की बहुत सी बातों को इसलिये मानते है क्योकि हमें उनकी आदत पड़ गई है। कौटुम्बिक जीवन में ये आदते पड़ती रहती हैं। इन्हें सिखलाने के लिये कहीं स्कूल और पाठशालायें नहीं है, फिर भी सारा समाज इनका शिक्षक है। इसी आदत के कारण कुछ लोग कानूनों का पालन करते हैं। स्वभाव के अन्तर्गत कुछ और भी ऐसी बातें हैं जिन्हे हम क़ानून पालन का कारण कह सकते हैं। आज्ञा पालन का स्वभाव कुटुम्ब से आरम्भ होता है। यही भाव बढ़ते बढ़ते राज्य मे भी काम करता है। लोग क़ानून पालन के आदी हो जाते हैं। हमारे देश मे धार्मिक उपदेशो मे आज्ञा पालन का भाव कूट कूट कर भरा हुआ है।

क़ानून का अन्तिम उद्देश्य क्या है इस पर पाउन्ड के विचार मुझे सबसे वैज्ञानिक और सुलझे हुये मालूम पड़ते हैं। अच्छा होगा कि मैं उसी के शब्दों में इन उद्देश्यों को रख दूँ। पाउन्ड ने क़ानून के मुख्य चार उद्देश्य निर्धारित किये हैं। इन चारों का अलग अलग वर्णन कर देना अच्छा होगा।

क़ानून के अन्तिम उद्देश्य

१—कानून का प्रथम उद्देश्य राज्य में शान्ति स्थापित करना है। आरम्भ से अब तक क़ानून का यह सबसे बड़ा नतीजा ठहराया गया है। जब तक देश मे शान्ति न रहेगी तब तक कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता। शान्ति के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं है। इसलिये शान्ति स्थापित करना, जो कि निहायत ज़रूरी है, क़ानून का पहिला फ़र्ज़ है।

२—क़ानून का दूसरा उद्देश्य राज्य मे समता उत्पन्न करना है। सभी प्रकार की विपमताये अधिक से अधिक दूर कर दी जायँ, और किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय हो रहा है। सभी व्यक्तियों को समान अवसर मिलना चाहिये। कचहरियो में एक माप से सबका न्याय होना चाहिये। किसी भी प्रकार का पक्षपात सरकार की ओर से राज्य के लिये घातक सिद्ध होता है। ग़रीबों पर कम से कम टैक्स लगना चाहिये

और धनियों पर अधिक से अधिक। तभी आर्थिक क्षेत्र मे समता क़ायम हो सकती है। इसलिये क़ानून ऐसे बनना चाहिये जिससे विषमताओ का नाश और समता की वृद्धि हो। यदि धनी और ग़रीबो के लिये दो प्रकार के क़ानून बना दिये जायँ तो कोई भी इसे न्याय नहीं कह सकता। इसलिये न्याय के लिये समता निहायत ज़रूरी है। प्राचीन काल में यूनान तथा रोम के कुछ विद्वानो का विचार इससे उल्टा था। उनका कहना था कि मनुष्य का स्वभाव भिन्न भिन्न है। कोई अधिक बुद्धि रखता है और कोई कम। इसलिये सबको समान अवसर नही मिलना चाहिये। लेकिन १६वीं शताब्दी के बाद इस मत का खडन किया गया और यही निर्धारित किया गया कि सबको एक समान अवसर मिलना चाहिये। आज कल अधिकतर विद्वान इसी मत से सहमत है। प्रजातन्त्रवाद की नीव इसी समानता पर खड़ी की गई है।

३—व्यक्तित्व की रक्षा और उसका विकास क़ानून का तीसरा उद्देश्य माना गया है। इस व्यक्तित्व की रक्षा तभी हो सकती है जब व्यक्ति को अपने कार्यो मे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो। आन्तरिक शक्तियो की वृद्धि ही व्यक्तित्व का विकास कहलाता है। ये शक्तियाँ किसी बुरे मार्ग पर न जायँ और ठीक मार्ग पर लगी रहे—क़ानून का यही उद्देश्य है। क़ानून मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिये बनाये जाते हैं। यह तभी सम्भव है जब उसकी बेजा हरकते रोक दी जायँ। बुरे कामो के लिये उसे दंड मिलना चाहिए। क़ानून के अन्दर व्यक्तियो के सगठन का भाव अधिक से अधिक होना चाहिये। इससे व्यक्ति सेवा आदि कार्यों मे अपने को लगाता रहेगा और इसी से उसके व्यक्तित्व का विकास होगा।

४—आधुनिक युग में क़ानून का एक चौथा भी उद्देश्य माना गया है। भौतिकवाद के युग मे सभी सिद्धान्त लाभ और हानि की कसौटी पर कसे जाते है। जिस नियम से व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है वही नियम अच्छा समझा जाता है। व्यक्तित्व के विकास और अन्तःशक्तियो की उन्नति पर उतना ज़ोर नहीं दिया जाता जितना वाह्य आवश्यकताओ की पूर्ति पर। इसलिये क़ानून का उद्देश्य एक यह भी माना जाता है कि उससे व्यक्ति की

आवश्यकताये पूरी हों। अर्थात् क़ानून इस तरह के बनाये जायँ जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकतायें पूरी करता रहे।

दंड के सिद्धान्त

कुछ लोग यह समझते हैं कि क़ानून केवल दंड देने के लिये बनाये जाते हैं। इसमे कोई शक नहीं कि क़ानून के तोड़ने वाले दंड के भागी होते हैं और उन्हें दंड दिया भी जाता है, परन्तु क़ानून का उद्देश्य दंड देना नहीं है। दंड एक साधन मात्र है। वास्तव मे क़ानून किसी और ही उद्देश्य से बनाये जाते हैं, जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है। अब यह प्रश्न उठता है कि क़ानून दंड किस उद्देश्य से देते है? दंड की आवश्यकता ही क्या पड़ती है? क्यो नही लोगो को अपराध करने पर समझा बुझा कर छोड़ दिया जाता है? सरकार क्यो जेलों मे लोगो को भर कर व्यर्थ का खर्च बर्दाश्त करती है? इन प्रश्नो पर लोगो के विभिन्न मत है। इन्ही मतो को दंड का विभिन्न सिद्धान्त कहा गया है। इन सिद्धान्तो के अन्दर यह भी वर्णन किया गया है कि दंड का क्या स्वरूप होना चाहिये और किस सीमा तक दंड देना उचित है। अमानुषिक दंड का तात्पर्य क्या है? दंड के अतिरिक्त क्या कोई ऐसा साधन नहीं है जिसका उपयोग किया जा सकता है? शारीरिक दंड तथा मानसिक दंड में क्या अन्तर है? इन दडों का मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? इत्यादि बातो का वर्णन दंड सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जायगा। सभी सिद्धान्तो का वर्णन करना अपने विषय से दूर हट जाना होगा। इसलिये लाक, रूसो, बेन्थम, ग्रीन तथा ओपेनहैम (Locke, Rousseau, Bentham, T. H. Green and Oppenheimer) के विचारो को ही हम उद्धृत करना चाहते है। इन्ही के अन्दर दंड के क़रीब क़रीब सभी सिद्धान्त आ जाते हैं।

लाक

लाक के कथनानुसार दंड के मुख्य चार उद्देश्य माने गये हैं।

१—दंड उतना ही मिलना चाहिये जितना कि अपराधी सहन कर सके। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अपराध और दंड दोनो का अनुपात बराबर हो। अर्थात् जितना छोटा बड़ा अपराध हो उतना ही कम बेश दंड भी दिया जाय। कोई भी

यह नहीं कह सकता कि जेब से चार पैसे निकालने वाले को फाँसी की सज़ा मिलनी चाहिये। इसके अतिरिक्त दंड देने मे किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत भाव नहीं आना चाहिये। दंड न्याय के लिये दिया जाता है। इसका उद्देश्य समाज की भलाई करना है। इस लिये व्यक्तिगत भाव आने से सच्चे न्याय मे वट्टा पड़ेगा।

२—जब दो व्यक्तियों अथवा गिरोहों मे झगड़ा होता है तो उस व्यक्ति या गिरोह को दंड दिया जाता है जिसने हानि पहुँचाई है। इसके अन्दर एक वैज्ञानिक भाव है। यद्यपि अपराधी को दड देने से औरों को कुछ मिलता नहीं, फिर भी जिसके प्रति अपराध हुआ है उसे सन्तोष होता है। इसलिये दंड का एक उद्देश्य उस व्यक्ति को सन्तोप देना है जिसके प्रति अपराध किया गया है और उसकी कुछ हानि हुई है।

३—अपराधी को दड देने से किसी को कुछ लाभ नहीं होता है। यदि होता भी हो तो दंड की यह मनशा नहीं रहती। हाँ इतना लाभ ज़रूर होता है कि अपराध करने वाले को एक चेता-वनी हो जाती है कि आइन्दा ऐसा नहीं करना चाहिये। दंड देते समय इस बात का पूरा पूरा ध्यान होना चाहिये कि अपराधी इससे यह सबक सीख ले कि भविष्य में फिर उसे ऐसा नहीं करना चाहिये।

४—दंड के पीछे एक समाजहित का भी भाव रहता है। जब किसी को कुछ दंड दिया जाता है तो उसे तो चेतावनी मिलती ही है, साथ ही औरो को इससे नसीहत मिलती है कि उन्हें भी ऐसा नहीं करना चाहिये। अपराधी के कष्ट से दूसरे लोग लाभ उठाते हैं। वे अपराध करने से डरते है। इसका परिणाम यह होता है कि अपराध कम होते हैं और दंड की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। फाँसी देते समय दूसरे लोग काँप उठते है कि उन्हें कभी भी किसी की हत्या नहीं करनी चाहिये।

रूसो

रूसो का कहना है कि दंड का उद्देश्य मनुष्य को स्वतन्त्र करना है। जब मनुष्य बन्धन मे पड़ जाता है और उससे वह निकल नहीं सकता तब सरकार उसे दंड द्वारा आज़ाद करती है। रूसो ने इस बात को बड़े ही पेचीदे तौर पर समझाया है। वह लिखता है कि प्रत्येक

व्यक्ति के अन्दर दो प्रकार के विचार होते हैं। अच्छे और बुरे। राज्य की स्थापना सभी व्यक्तियों के अच्छे विचारों के सम्मिलन से हुई है। राजसत्ता समस्त अच्छे विचारों की एक गठरी है। और इसका उद्देश्य है बुरे विचारों को दबाना। इसका अर्थ यह है कि सरकार जो कुछ करती है वह अच्छा है। दंड भी इसीलिये दिया जाता है कि बुरे विचार दबा दिये जायँ। जब बुरे विचार नष्ट हो जायेंगे तो व्यक्ति अच्छे काम करने के लिये स्वतन्त्र हो जायेगा। इसके यह मानी हैं कि हर व्यक्ति को कानून का पालन करना चाहिये और सरकार की ओर से जो कुछ भी दंड मिले उसे निहायत सच्चाई के साथ सहन करना चाहिये।

बेन्थम

दंड की आवश्यकता जो बेन्थम ने ठहराई है वह निहायत वैज्ञानिक और सरल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि इसके अनुसार लोगों को दंड दिया जाय तो अपराधी का अधिक से अधिक सुधार हो सकता है। दंड का विधान निम्नलिखित उद्देश्य से होना चाहिये:—

१—दंड सब के लिये एक समान नहीं होना चाहिये। अर्थात् आयु तथा वर्ग के अनुसार दंड का विधान अलग अलग बनना चाहिये। स्त्री, पुरुष, बालक को एक ही समान दंड कदापि नहीं मिलना चाहिये।

२—दंड, अपराध के अनुपात से मिलना चाहिये। यदि अपराध बड़ा है तो दंड भी सख्त हो, और यदि अपराध मामूली है तो दंड भी साधारण होना चाहिये।

३—जितने प्रकार के अपराध हों उतने ही प्रकार के दंड भी होने चाहिये।

४—दंड ऐसा मिलना चाहिये जिससे अपराधी को इस बात का ज्ञान होजाय कि यह उसके दुष्परिणाम का ही फल है। फिर भविष्य में उसे ऐसा नहीं करना चाहिये।

५—अमानुषिक दंड कभी भी नहीं मिलना चाहिये। किसी भी दंड की सीमा वहीं तक ठीक मानी जा सकती हैं जहाँ तक अपराधी अपने क़सूर को महसूस करले, और दूसरे भी इससे सचेत हो जायँ।

६—दंड का विधान सूत्रवत होना चाहिये। अर्थात् कानून बनाने वालों को दंड का विधान ऐसा बनाना चाहिये कि थोड़ा ही दंड अपने सभी मक़सदों को पूरा करले।

७—दंड के पीछे सुधार की भावना नितान्त आवश्यक है। इसका एक मात्र उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है।

८—दंड ऐसा होना चाहिये जिससे अपराधी इस बात को अच्छी तरह महसूस करले कि भविष्य में उसे ऐसा अपराध कभी भी नहीं करना चाहिये।

९—अपराध करते समय अपराधी ने अपने विपक्षी को जो हानि पहुँचाई है उसी मात्रा में अपराधी कष्ट सहने का भागी है।

१०—जगली ज़माना अब जाता रहा। कोई भी दंड अब ऐसा नही दिया जा सकता जिससे अपराधी सर्वदा के लिये असमर्थ हो जाय। दंड वही होना चाहिये जिससे आम जनता सहमत हो। इसका विधान समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहना चाहिये। पुराने ज़माने मे अपराधी के हाथ पैर काट लिये जाते थे। लोग जिन्दे ही दीवारो मे चुन दिये जाते थे। उन्हे जिन्दा जला दिया जाता था। मौर्यकाल का दंड विधान भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध है। लेकिन बीसवी सदी मे उस प्रकार के दंड नहीं दिये जा सकते।

११—दंड का विधान पत्थर की लकीर नहीं बनना चाहिये। एक ही अपराध के लिये परिस्थित के अनुसार अलग अलग दंड मिलना चाहिये। दंड मे यह भी गुंजाइश होनी चाहिये कि यदि अपराधी ने दंड काल मे ही विशेष सुधार कर लिया तो उसे घटाया जा सके।

१२—दंड का स्वरूप साधारण होना चाहिये, ताकि सभी लोग इसे समझ सकें। टेढ़े और उलझे हुए दंड के विधान अपने उद्देश्य को पूरा नही कर सकते। इसकी वजह यह है कि आम जनता उसे नहीं समझ सकती।

आदर्शवाद के मानने वालो ने दंड का उद्देश्य इन सबसे भिन्न माना है। उनका कहना है कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाना है। हमारे बाहरी उद्योग धंधों का महत्व वहीं तक है

ग्रीन
T. H Green

जहाँ तक हमारे व्यक्तित्व की उन्नति होती है। ऐसी दशा में राज्य की ओर से सभी अमानुषिक बर्ताव सर्वथा वर्जित हैं। राजनैतिक संगठन में व्यक्ति ने अपने आप को इसीलिये बाँधा है कि उसे निवृत्त और मुक्त होने में आसानी हो। राज्य पर यह पूरी पूरी जिम्मेवारी है कि उसका हर काम मनुष्य को आत्मोन्नति की ओर अग्रसर करे। सरकार राज्य की ही मशीन है। सरकारी क़ानून राज्य के ही अंग हैं। दंड इन्हीं क़ानूनों द्वारा दिया जाता है। इसलिये दंड का विधान वही उद्देश्य रखता है जो राज्य का है। दंड देने का यह तात्पर्य हरगिज़ नहीं है कि अपराधी की अन्तरात्मा कुचल दी जाय अथवा उसका अंग भंग करके उसका जीवन भार बना दिया जाय। इस प्रकार के दंड तभी तक दिये जाते थे जब तक मनुष्य की प्रवृत्तियों का ठीक ठीक अध्ययन नहीं हुआ था। ग्रीन एक आदर्शवादी राजनीतिज्ञ था। उसने दंड का दो उद्देश्य निश्चित किया है।

१—दंड अपराध के अनुसार मिलना चाहिये। अर्थात् दंड एक ऐसा साधन है जो अपराधी को रास्ता दिखलाता है। इसका खास मकसद यह है कि व्यक्ति बुरे रास्ते से हटाकर अच्छे मार्ग पर लगा दिया जाय। दंड की सीमा वहीं तक जायज़ है जहाँ तक अपराधी अपनी भूल को क़बूल करले और आइन्दा ऐसा न करे।

२—दंड का दूसरा उद्देश्य सुधार है। सरकार किसी व्यक्ति को जेर करने के लिये दंड नहीं देती है। अगर इन्सान की बुरी हरकतें रोकी न जा सके तो दंड से कोई लाभ नहीं है। दंड एक प्रकार की शिक्षा है जिससे अपराधी को अपनी भूल का ज्ञान होता है। इसलिये सुधार के मख़सद से ही दंड का विधान बनना चाहिये।

ओपेनहैम

प्राचीन और नवीन दंड विधान में ज़मीन आसमान का अन्तर दिखलाई पड़ता है। पुराने समय में अंग भंग का दंड देना आम बात थी। छोटे से अपराध के लिये लोगों के हाथ पैर काट लिये जाते थे। सभ्यता की वृद्धि के साथ दंड का रूप भी बदलता गया। आजकल अमानुषिक दंड एक जुर्म और ज़्यादती माना जाता है। कालापानी, फांसी, कालकोठरी आदि सजायें एक स्वर से निन्दनीय ठहराई

जाती हैं। बहुत से देशो ने इन सजाओं का सर्वथा वहिष्कार कर दिया है। ओपेनहैम ने दंड सिद्धान्त को तीन दृष्टिकोणो से देखा है। एक स्थान पर तो वह लिखता है कि दंड देना राज्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। इसके बिना नागरिक की स्वतन्त्रता सुरक्षित नही रह सकती। दंड एक प्रकार का धार्मिक कर्त्तव्य है। इसकी आवश्यकता व्यक्तित्व के विकास के लिये पड़ती है। सुकरात के कथनानुसार दंड एक प्रकार का इकरार है, जिसे तोड़ना उचित नहीं है। दंड स्वयं अपराधी का एक अधिकार है, जिसे राज्य भी वंचित नहीं कर सकता। दंड की दूसरी आवश्यकता अपराधी के सुधार की है। जब किसी को दंड दिया जाता है तो वह भय तथा लज्जा-वश फिर अपराध करने से डरता है। दूसरे लोग भी उससे सबक सीखते हैं। इस प्रकार दंड अपराध को रोकते रहते हैं। कुछ लोग दंड को स्वयं अपराध का अन्त मानते हैं। अपराधी ने अपराध किया और उसे उसका दंड दे दिया गया। इसके आगे कुछ नही। लेकिन अधिकतर लोग दंड को एक साधनमात्र मानते हैं। दंड से अपराधी का सुधार होता है। राज्य मे शान्ति रहती है और अपराधों की संख्या कम होती है। इनके अतिरिक्त दंड का प्रभाव मनोवैज्ञानिक भी पड़ता है। दंड केवल थोड़े से अपराधियो को दिया जाता है, लेकिन इसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है।

स्वाभाविक क़ानून
Natural Law

स्वाभाविक क़ानून के विषय मे विद्वानों का बड़ा मतभेद है। कुछ तो यह कहते हैं कि स्वाभाविक कानून कोई चीज़ ही नही है। हवा चलती है, पानी बरसता है, जाड़ा गर्मी बरसात आते रहते हैं, इनके अतिरिक्त हम किसी और को स्वाभाविक क़ानून नहीं कह सकते। सूर्य नित्य पूर्व में उदय होता है और पश्चिम मे डूबता है। रात के बाद दिन और दिन के बाद रात होती है। इन्ही प्राकृतिक नियमों को लोग स्वाभाविक क़ानून समझ बैठते हैं। लेकिन इन नियमो को क़ानून कहना ठीक नहीं है। प्रकृति सर्वशक्तिमान है। उसी को कोई ईश्वर कोई ख़ुदा और कोई माया कहता है। इसके नियम अटल हैं। उन्हें कोई भी उलंघन नहीं कर सकता। भूख लगते ही लोग भोजन करते हैं। प्यास लगने पर पानी पीना आवश्यक है। इन

आवश्यकताओं को कोई रोक नहीं सकता। इनके पीछे एक ऐसी शक्ति है जो अपराधी को दंड दिये बिना नहीं रह सकती। जो सांस को रोक लेगा वह मर जायगा। जो नित्यकर्म में काहिली करेगा वह स्वास्थ्य से हाथ धोयेगा। जो धूप मे अधिक समय तक अपने शरीर को तपायेगा वह बीमार जरूर पड़ेगा। यद्यपि कोई भी व्यक्ति इन नियमो का उलंघन कर सकता है, लेकिन उसे इसका दंड अपने आप मिल जाता है।

स्वाभाविक नियम के इस अर्थ से कुछ लोग सहमत नही हैं। उनका कहना है कि ये नियम दो प्रकार के हैं। एक तो मनुष्य के मस्तिष्क में काम करता है और दूसरा वाह्य जगत मे। वाह्य जगत मे जो नियम प्रकृति की ओर से दिखलाई पड़ते हैं उन्हें प्राकृतिक नियम कहते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क मे जो नियम काम कर रहे हैं उन्हे स्वाभाविक क़ानून कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि ये स्वाभाविक क़ानून क्या है। तर्क को ही स्वाभाविक कानून कहते हैं। जब कभी मनुष्य किसी बुरे मार्ग पर चलता है तो उसकी शुद्ध बुद्धि उसे रोकती है। चोरी, व्यभिचार, बेईमानी—इन्हें करने मे सभी लोग आरम्भ में हिचकते हैं। जो शक्ति मनुष्य को इन बुराइयो से रोकती है वही स्वाभाविक क़ानून कहलाती है। उसी को कोई बुद्धि कहता है, कोई तर्क कहता है, और कोई अन्तरात्मा। एक आम कहावत है कि जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर चलता है वह अपना और समाज दोनो का भला करता है। अर्थात् स्वाभाविक नियम इतने अच्छे है कि प्रत्येक मनुष्य को इनका पालन करना चाहिये। इस सिद्धान्त के मानने में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। वह यह कि मनुष्य अपने तर्क और बुद्धि से सब कुछ करता है। फिर वे स्वाभाविक क़ानून किसी को अच्छे और किसी को बुरे मार्ग पर क्यो ले जाते हैं ? और अगर प्राकृतिक नियम दृढ़ हैं तो इन्हे कोई तोड़ता ही कैसे हैं ? रोम के विद्वानो ने प्राचीन काल मे स्वाभाविक क़ानून पर बड़ा जोर दिया है और इस पर बड़े बड़े ग्रन्थ लिख डाले हैं। उनके कथनानुसार मनुष्य के अन्दर जितने भी अच्छे गुण हैं वे सब स्वाभाविक क़ानून के अन्दर आ जाते हैं। बुरे गुण क़ानून के शत्रु हैं।

सच्ची बात तो यह है कि स्वाभाविक कानून कोई चीज़ नहीं है। स्वभाव और कानून मे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वभाव अच्छे और बुरे दोनो होते हैं, लेकिन कानून बुरे नहीं हो सकते। यदि वे बुरे हैं तो उन्हे कानून कहना हीं ग़लत है। प्राचीन तथा मध्य काल में लोग प्रकृति के उपासक थे। सामाजिक सगठन अभी दृढ़ न होने से सभी कामों मे प्रकृति की ही नक़ल करते थे। जो व्यक्ति सरल जीवन व्यतीत करता और अधिक से अधिक प्रकृति के नज़दीक था वह समाज मे आदर का पात्र गिना जाता था। अब भी यह भावना कम नहीं है। प्राकृतिक नियम हीं स्वाभाविक कानून कहे जाते थे। लेकिन वर्तमान युग मे विज्ञान की उन्नति ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के बनाये हुये कानूनो को ही कानून कह सकते हैं। प्रकृति के नियम अथवा स्वाभाविक नियम इसके अन्तर्गत नहीं आ सकते। यदि हम पुरानी परिपाटियों को स्वाभाविक क़ानून कहते हैं तो यह हमारी भूल है। 'क़ानून' शब्द कोई गोल माल की चीज़ नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह है कि समाज को चलाने के लिये सरकार की ओर से जो नियम चालू किये गये है वे क़ानून कहलाते हैं। इसके पीछे सरकार और समाज की संगठित शक्ति रहती है। कानून कहने को तो अनन्त हैं, परन्तु फिर भी उनकी संख्या गिनी जा सकती है। स्वाभाविक नियम गिने नहीं जा सकते। यह भी कहना कठिन है कि ये नियम क्या हैं। ठीक यही बात प्राकृतिक नियमों पर लागू होती है। इनमे से किसी को क़ानून कहना राजनीति शास्त्र का उपहास करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून International Law

अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून वे नियम हैं जिन्हे कुछ राष्ट्रो ने विश्व शान्ति के निमित्त बना रक्खा है। आरम्भ से ही कुछ राष्ट्र आपस मे मिले जुले चले आ रहे है। आपस के भेद भाव को मिटाने के लिये ये कुछ नियम भी बना रक्खे हैं। उनका तात्पर्य यही है कि जैसे सरकारी क़ानून से व्यक्तियो का सम्बन्ध निश्चित किया जाता है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों से देशों का सम्बन्ध निश्चित किया जाय। दो या दो से अधिक देश आपस मे कुछ ऐसे नियम बना लेते हैं जिनके द्वारा

उनका सम्बन्ध कायम रहता है। इसके अलावे कुछ ऐसे भी नियम बना दिये जाते हैं जो हर समय के लिये लागू होते हैं। लड़ाई में किन किन हथियारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये अथवा घायलो की सेवा सुश्रूषा का क्या प्रबन्ध होना चाहिये इनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बनाये गये हैं। लड़ाई में इन नियमो का पालन किया जाता है। इसी तरह तेजारत आदि के लिये भी नियम बने हुये हैं। समय समय पर इनमे उलट फेर होते रहते हैं। १९१४ की बड़ी लड़ाई से यह नसीहत मिली कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध दृढ़ न होगा तब तक लड़ाई का अन्त नहीं हो सकता। इसीलिये १९२० ई० मे शान्ति सभा (The League of Nations) का जन्म हुआ। बहुत से स्वतन्त्र राष्ट्र इसके सदस्य बने और तब से यह प्रयत्न जारी है कि लड़ाई का अन्त कैसे हो। शान्ति सभा इसी नतीजे पर पहुँची कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून दृढ़ और निश्चित न हो जायेंगे तब तक संसार में शान्ति स्थापित नही हो सकती। इस दिशा मे काफी प्रयत्न हो रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून लिखित कर लिये जायँ और इनके पीछे एक ऐसी शक्ति हो जो इनकी रक्षा भी करती रहे। लेकिन अभी इस दिशा मे पूरी सफलता नहीं मिली है।

जब कुछ देश आपस मे मिल जुल कर कोई बात निश्चित कर लेते हैं तो और भी बाकी देश उन बातों पर ग़ौर करते हैं। अगर उन्हे मानने में उनका भला होता है तो वे भी उस गिरोह मे शरीक हो जाते हैं। इसी प्रकार के सम्बन्ध से अनेक नियम बनते रहते हैं। इन्हीं को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते हैं। यद्यपि ये नियम मित्र भाव को कायम रखने के लिये बनाये जाते हैं, फिर भी इस बात पर विचार कर लिया जाता है कि शत्रुता मे भी किसी न किसी अंश में इनका पालन होना चाहिये। इससे आपस के मनमुटाव दूर होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा हर देश को अपना अधिकार मालूम हो जाता है कि विदेशी मामलो में उसे कहाँ तक हाथ डालना चाहिये। इसके अलावे उसे यह भी मालूम होता है कि किसी व्यक्ति को विदेशो में क्या क्या अधिकार प्राप्त हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये क़ानून एक प्रकार के समझौते हैं जिन्हे मानकर हर मुल्क लाभ उठा सकता है। जैसे किसी देश मे व्यक्ति को

कानून मानना पड़ता है उसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी देशों को मानने के लिये बनाये गये हैं। इनका आशय यही है कि संसार के सभी देश मिल जुल कर रहें। आपस में लड़ाई झगड़े की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि कभी भेद भाव पड़ जाय तो उसे आपस में सुलझा लिया जाय। व्यर्थ की खून खराबी से कोई फायदा नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो आशय कानून का है वही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी है। फरक केवल इतना हीं है कि एक व्यक्तियों के सम्बन्ध को निश्चित करता है, और दूसरा विभिन्न देशों के सम्बन्ध को।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था ठीक हो जाय तो संसार का इससे बड़ा भारी कल्याण होगा। आज जो लड़ाइयाँ हो रही हैं उनकी आवश्यकता जाती रहेगी और करोड़ों रुपये गोले और बन्दूकों पर खर्च न करने पड़ेंगे। लेकिन अभी तक बात उल्टी हो रही है। हर मुल्क सेना की संख्या बढ़ा रहा है। हथियार बनाने में अधिक से अधिक रुपये ख़र्च किये जा रहे हैं। एक तरफ लोग भूखों मरते है और निरक्षर रह कर जीवन काटते हैं, परन्तु दूसरी ओर गोले बारूदों पर तिल भर भी कमी नहीं की जाती है। इसकी वजह यह बतलाई जाती है कि यह सब कुछ रक्षा के लिये करना पड़ता है। इंगलैंड, जर्मनी, इटली, रूस, अमेरिका इत्यादि इत्यादि एक दूसरे से डर रहे हैं। मालूम नहीं कौन किस समय एक दूसरे पर हमला कर बैठे। इसीलिये सेना और फौज का पूरा इन्तज़ाम रखना पड़ता है। बात तो बिलकुल ठीक है लेकिन कोई भी इसे बेवकूफी के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकता। यदि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून पूरी तरह लागू कर दिये जायें और तोड़ने वाले देशों को दंड की व्यवस्था बना दी जाय तो यह नौबत न आये। स्वार्थ के कारण ये देश आपस में लड़ते रहते हैं। देश की रक्षा के नाम पर व्यक्ति को कुचलना, उसे भूखों मारना और बिचारे निहत्थे आदमियों को बन्दूक और गैसों का शिकार बनाना, बेवकूफी नहीं तो और क्या है। यह सब कुछ तभी बन्द होगा जब इन देशों के सम्बन्ध की ठीक ठीक व्यवस्था बन जायगी। जैसे देश में शान्ति तथा उन्नति के लिये शासन पद्धति का निर्माण हुआ है उसी तरह संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये "विश्व

शासन पद्धति " की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों की कमी नहीं है। शान्ति सभा ने बहुत से क़ानूनों को लिखित भी कर लिया है। लेकिन कोई इनकी परवाह नहीं करता। जो देश अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहता है वह निर्भयतापूर्वक इन्हें तोड़ सकता है। इस स्वतन्त्रता का परिणाम यह है कि दुनिया मे आज चारों ओर लड़ाई के बादल गरज रहे हैं। बात यह है कि हर देश मे क़ानून के पीछे एक बहुत बड़ी शक्ति होती है, जो इसे तोड़ने वालों को दंड देती है। सेना, फौज इसीलिये रखना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है। कुछ नियम बनाकर उनकी रक्षा की कोशिश की गई है लेकिन कोई उनकी परवाह नहीं करता। यही वजह है कि ये क़ानून बच्चों की खेल की तरह बनते बिगड़ते रहते हैं। इनकी रक्षा दो प्रकार से हो सकती है। या तो सभी देश थोड़ी सी सेना के अतिरिक्त और कुछ न रक्खें। उन्हें हथियार आदि पर खर्च करने की भी एक हद बाँध दी जाय। या अन्तर्राष्ट्रीय क़ानूनों की रक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय फौज द्वारा की जाय। एक तीसरा तरीका भी है, लेकिन यह अत्यन्त कठिन है। सभी देश सेना, फौज, हथियार आदि एक दम दूर करदें। और अहिंसात्मक बुद्धि से अपना कार्य करें। यदि ग़ौर से देखा जाय तो पता चलेगा कि महात्मा गाँधी का अहिंसावाद इसी आन्दोलन की मिसाल है।

जिस नियम के पीछे कोई शक्ति नहीं है उसे क़ानून नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसे लोग हर समय तोड़ते रहेंगे और उसका कोई मतलब ही न होगा। इस कसौटी पर अन्र्राष्ट्रीय क़ानून, 'क़ानून' नहीं कहा जा सकता। उसका दारोमदार केवल सद्विचार (Good will) पर निर्भर है। दुनिया के काफी देश इस क़ानून को नहीं मानते हैं। प्राचीन समय में जैसे लड़ाई झगड़े से सब मामले तै हुआ करते थे उसी तरह आज भी हो रहे हैं। इस दृष्टि से मनुष्य की सभ्यता में कोई उन्नति नहीं हुई है। एक विद्वान का कहना है, "मनुष्य को आकाश में चिड़ियों की तरह उड़ना आता है; वह बड़े से बड़े समुद्र को भी पार कर सकता है; लेकिन उसे चुपचाप इस पृथ्वी पर रहने नहीं आता।" कोई भी व्यक्ति वा देश ऐसा नहीं है जो शान्ति न चाहता हो। हज़ारों वर्षों से शान्ति की

व्यवस्था बन रही है। सामाजिक संगठन का सबसे बड़ा उद्देश्य शान्ति है। लेकिन अनुभव और अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि अशान्ति की ही वृद्धि होती जा रही है। आज कल दुनियाँ के मुल्को का सम्बन्ध इस कदर बिगड़ा हुआ है कि शान्ति का कोई रास्ता ही नहीं दिखाई पड़ता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि सर्वसम्मति से बना लिये जायँ और उनकी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया जाय तो शान्ति स्थापित हो सकती है। वर्तमान आवागमन के साधनो से ससार की दूरी प्रति दिन कम होती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बढ़ रहे हैं। इसलिये इन्हें सुचारु रूप से कायम रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून निहायत ज़रूरी हैं। यह कहना कोई बेजा न होगा कि स्थानीय क़ानूनों से अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का महत्व कहीं अधिक है।

क़ानून और स्वतन्त्रता (Law and Liberty)

कानून से क्या लाभ है और समाज में इसकी क्या आवश्यकता है इस पर पिछले पृष्ठो मे काफी विचार किया गया है। यह भी निश्चित है कि सरकारी क़ानूनो को ही क़ानून कहा जा सकता है। क़ानून का पालन सबके लिये अनिवार्य है। जो इसे तोड़ता है उसे दंड दिया जाता है। क़ानून मनुष्य को यह इजाज़त नहीं देते कि वह जो चाहे करे। इससे यह ज़ाहिर है कि कानून और स्वतन्त्रता साथ साथ नहीं रह सकते। जो कानून को मानता है वह परतन्त्र है। या जो स्वतन्त्र है वह क़ानून के बन्धन को नहीं मानता। समाज शास्त्र में गणित के नियम लागू नहीं होते। यद्यपि क़ानून और स्वतन्त्रता का विरोध साबित हो जाता है, लेकिन दोनों मे कोई भेद नहीं है। जहाँ क़ानून है वहीं स्वतन्त्रता है। कानून से अलग स्वतन्त्रता की रक्षा हो ही नहीं सकती। यदि सामाजिक गुणो का इतिहास देखा जाय तो पता चलेगा कि सारी व्यवस्था कानून से ही चलायमान है। व्यक्तिगत अथवा सामाजिक सभी प्रकार की स्वतन्त्रता की रक्षा क़ानून द्वारा ही होती है। प्रश्न यह है कि यह कैसे होता है। इसके लिये हमें इतिहास की ओर दृष्टि डालनी होगी।

जब मनुष्य जगलों में रहता था और उसका कोई संगठन न था उस समय कानून का नाम भी न था। नतीजा यह होता था

कि कोई भी व्यक्ति अपने से बलवान से मारा जा सकता था। किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं समझा जाता था। एक ओर तो उसे अपने से बलवान मनुष्य का भय रहता था और दूसरी ओर जङ्गली जानवरो का। इनके अलावे प्रकृति का वह हर प्रकार से दास था। जाड़ा, गर्मी, बरसात, इन सबके प्रकोप को उसे सहन करना पड़ता था। कड़ी से कड़ी बीमारी में उसकी सहायता का कोई प्रबन्ध न था। इतनी विपत्तियों के रहते मनुष्य की स्वतन्त्रता किस काम की थी। मैं मानता हूँ कि वह जहाँ चाहे जा सकता था और जो चाहे कर सकता था, लेकिन ये सब उद्योग उसके किस काम के थे जब कि उसका जीवन ही सुरक्षित न था। इसके बाद जब सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था बनाई गई तो व्यक्ति की रक्षा का प्रबन्ध किया गया। क़ानून द्वारा इस बात की घोषणा की गई कि जो एक दूसरे को हानि पहुँचायेगा वह दंड का भागी होगा। इसके अलावे व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा के लिये भी कानून बनाये गये। इसका नतीजा यह हुआ कि व्यक्ति को किसी प्रकार का भय न रहा। वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी उन्नति कर सकता था। कहीं भी चला जाय उसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। उसके सभी अधिकार क़ानून द्वारा सुरक्षित कर दिये गये। कमज़ोर से कमज़ोर मनुष्य समाज में उसी प्रकार रह सकता है जैसे एक बलवान मनुष्य। दूसरे शब्दो में हम यह कह सकते हैं कि कानून द्वारा मनुष्य की पैशाचिक वृत्तियाँ दबा दी गईं। उसकी वह स्वतन्त्रता छीन ली गई जिससे वह औरों को हानि पहुँचाता था और अपनी भी उन्नति नहीं कर पाता था। अर्थात कानून द्वारा उसकी सच्ची स्वतन्त्रता सुरक्षित कर दी गई। उसे इस बात का इतमिनान दिया गया कि कोई भी व्यक्ति वा संगठन उसकी सच्ची स्वतन्त्रता मे रुकावट नहीं डाल सकता। जो ऐसा करेगा उसे सरकार दंड देगी। जिस प्रकार कानून से किसी एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित की गई है उसी तरह औरों की भी। यही कारण है कि क़ानून को तोड़ना दूसरों की स्वतन्त्रता मे बाधा डालना है। जो क़ानून को तोड़ता है वह दूसरों की स्वतन्त्रा का अपहरण करता है। इसी लिये सरकार उसे दंड देती है।

स्वतन्त्रता और अधिकार दोनों मिले हुये हैं। जहाँ तक हमारा

अधिकार है वहीं तक हम स्वतन्त्र हैं। इसके आगे हम औरों के अधिकार में हाथ डालते हैं। क़ानून से हमारे अधिकार स्पष्ट होते है। सरकार अपनी पूरी शक्ति द्वारा उसकी रक्षा करती है। इसी लिये वह पुलीस, फौज, कचहरी, जेल आदि रखती है। जिस प्रकार किसी बड़ी कम्पनी मे व्यापारी का हिस्सा सुरक्षित समझा जाता है उसी प्रकार व्यक्ति के अधिकार सरकार द्वारा सुरक्षित रक्खे जाते है। सरकार आखीरी दम तक उसकी रक्षा की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर लेती है। लेकिन यह सब कुछ कानून द्वारा होता है। जितने प्रकार के अधिकार हैं उतने ही प्रकार के कानून हैं और उतने ही क्षेत्रो मे व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता है। जहाँ व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं मिला है वहाँ उसे स्वतन्त्रता भी नही है। कानून द्वारा पहले अधिकारो का स्पष्टीकरण किया जाता है। इससे व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता की सीमा मालूम कर सकता है। कानून द्वारा व्यक्ति को ऐसी भी स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है जो बिना कानून के असम्भव है। उदाहरण के लिये सम्पत्ति को ही ले लीजिये। कानूनन कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे का धन अपहरण नहीं कर सकता। लेकिन पिता की मृत्यु के बाद पुत्र को पूरी आज़ादी है कि वह पिता के धन का जैसे चाहे उपभोग करे। यदि कानून द्वारा यह बात निश्चित न की जाती तो मालूम नहीं पिता का धन किसको मिलता।

स्वतन्त्रता नामक अध्याय मे इस बात पर विचार किया गया है कि सच्ची स्वतन्त्रता समाज मे ही सम्भव है। सामाजिक संगठन के बिना राजनैतिक व्यवस्था एक क्षण भी नहीं चल सकती। इससे यह स्पष्ट है कि कानून तभी तक है जब तक समाज जीवित है। यह भी कहा जा सकता है कि क़ानून से ही समाज चल रहा है। इसी से मनुष्य की स्वतन्त्रता भी कायम है। यदि कानून न हो तो न समाज रह सकता है और न स्वतन्त्रता। हमे जिन जिन कामो का अवसर आज मिल रहा है वह इसी लिये कि क़ानून द्वारा सामाजिक व्यवस्था ठीक रक्खी गई है। जितने साधन मनुष्य की उन्नति के लिये प्रदान किये गये हैं वे कानून के बिना असम्भव थे। उनका उचित उपभोग भी तब तक नहीं हो सकता जब तक कानून द्वारा उन पर थोड़ा नियन्त्रण न रक्खा जाय। रेल पर चढ़ने के लिये हर

व्यक्ति स्वतन्त्र है, बशर्ते कि उसके पास टिकट हो। यदि मनुष्य यह कहे कि बिना टिकट के ही उसे रेल पर चढ़ने की इजाज़त क्यों न दे दी जाती तो यह हमारी भूल है। ऐसा करने से रेल एक दिन भी नहीं चल सकती। जब रेल के व्यापारियों को उससे कुछ लाभ न होगा तो वे रेल क्यों चलायेंगे? इसी तरह जंगली स्वतन्त्रता के रहते हुये कोई भी काम नहीं किया जा सकता। जो चाहे तार काट दे, दूकानों को लूट ले, औरो को मार दे—ऐसा करने से न तो सामाजिक व्यवस्था चल सकती है और न सच्ची स्वतन्त्रता ही जीवित रह सकती है। जब हम अपनी स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक रहते हैं, तो हमें औरों की स्वतन्त्रता का भी मूल्य समझना चाहिये। क़ानून इन दोनों का स्पष्टीकरण करते हैं। इस लिये यदि हमें समाज मे स्वतन्त्र रहना है तो क़ानूनों का पालन करना चाहिये। जब हर व्यक्ति एक दूसरे का ध्यान रक्खेगा तभी सबकी उन्नति हो सकेगी। यह ध्यान तभी रक्खा जा सकता है जब किसी भी क़ानून का उलंघन न किया जाय। कानून को मानते हुये मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र है। वह जो चाहे करे और जहाँ चाहे जाय, लेकिन क़ानून को न तोड़े।

1929

CIVICS—First Paper.

[*N B* —Attempt any *five* questions]

1 What is the justification for teaching Civics at Colleges ?

2. What are the chief functions which, in your opinion, every government should perform ?

3 "Life, liberty and the pursuit of happiness are the inalienable right of man." Comment

4 It has been said that the doctrine of Equality is a monstrosity. What do you think ?

5 What principles should regulate the resolutions of the Executive and the Legislature ?

6. Explain the proposition of Professor McTaggart that " not society, but the individual is the end of social life "

7. Treitschke said that nothing can be above the State and there is no standard of justice to which it is obliged to conform Criticise

8 What do you know of the International Labour Office at Geneva

9 What methods will you employ to awaken and maintain popular interest in municipal affairs ?

10 What should be the relations of the Judiciary with the Executive and the Legislature ?

1930

CIVICS—FIRST PAPER

Time—Three hours

[*N.B.*—Attempt *any five* questions.]

1 Define Civics and briefly discuss its scope and methods

2 Distinguish between "Society" and "State and briefly discuss their mutual relations.

3. What are the chief forms of government and why is democratic government generally preferred ?

4 What are the various purposes of punishment ?

5 What are the duties that a citizen owes to the State ? To what extent can the State compel him to perform them ?

6 "Local Self-Government is a necessary step to National Self-Government" Discuss.

7. How far is the State justified in removing social evils like drink and early marriage by legislation ?

8 What part do political parties play in the work of the State and the education of the citizen ?

9 What is "Nationalism" and "Internationalism"? Are the two necessarily incompatible ?

10. State the reasons for and against Woman franchise.

1931

CIVICS—FIRST PAPER

Time—Three hours

[*N.B*—Attempt *any five* questions]

1 Is social life possible without government ? What is the necessity and origin of government ?

2 Distinguish the province of Civics from that of Politics and Religion

3 "Give the State as little as you can and get as much out of the State as you can" Explain and show how far you agree with this attitude of a citizen

4 "Family is the eternal school of social life" Explain and discuss how social virtues are first developed in family life

5 What part do villages and towns play in national life? How are they organised for civic purposes?

6 "Man's higher progress is a series of subordinations of a smaller self to a higher and wider self" Explain and state the relation of one's duties to his family, to his locality, and to his nation

7 What do you understand by Democracy? Discuss the merits and defects of a democratic government

8 What are the various organs and divisions of government? Enumerate the main functions which each of them performs

9 What do you understand by the term rights of man? How are they recognised and made secure to a citizen?

10 "Men are born for the sake of one another. Either teach them or bear with them" Explain and discuss the place of society and education in human life

1932

CIVICS—FIRST PAPER.

Time—Three hours

[*N B* —Attempt *any five* questions All questions carry equal marks.]

1. 'State is the first essential condition of civilised life' Explain.

2 What do you understand by the terms 'equality and 'liberty'?

3 How do you define citizenship? What are the obligations of the citizen towards the State?

4 Describe the different theories of the origin of society, and criticize them

5 What is the end of the State? By what means does the State realise the end.

6 Give a brief description of the different types of constitutions, explaining the grounds on which they are classified

7 Give a definition of 'rights', and state what rights should, in your opinion, be guaranteed by the State

8. On what grounds is the right of the State to punish based?

9 What is the difference between the relation of a citizen with his religious community and with his State?

10 Can you distinguish between good and bad laws? If so, what is the basis of distinction?

11 What is the meaning of 'adult franchise'? State the grounds for and against its adoption in any country.

1933

CIVICS—FIRST PAPER

Time—Three hours

[*N B*—Attempt *any five* questions All questions carry equal marks.]

1 Distinguish between Society, State and Government

2 Why do men obey the State ? Are there any circumstances in which men have a right to disobey ?

3. What is the origin of Property ? On what grounds should individuals be allowed to hold property ?

4. What do you understand by the term ' Responsible Self-government ' ? What are the necessary conditions for the establishment of such a government in any country ?

5 Clearly distinguish between a Federal and a Unitary Constitution

6 Do you consider it the necessary duty of a State to make primary education free and compulsory and to make provision for health and sanitation ? If so, what are your reasons ?

7 What do you understand by the term 'Nationalism' ? What are its salient features ?

8 What functions and powers should be assigned to Municipal and District Boards, and why ?

9 Describe the different systems of electing representatives for a legislature, and discuss their merits and defects

10 What are Natural Laws ? How are they related to Civil Laws ?

1934

CIVICS —FIRST PAPER.

Time—Three hours.

[*N B*—Attempt *any five* questions All questions carry equal marks]

1. What is the subject-matter of the science of Civics? How is Civics related to History, Ethics, Economics, and Psychology ?

2 What are the principal functions of the State ? Is it the duty of the State to make men moral ?

3 Describe the conditions which are necessary for the establishment of a democratic form of government. What are the defects of democracy ? Illustrate your answer with reference to modern constitutions which you know.

4. Has a citizen the right to refuse to fight when called upon by his State ? Under what circumstances is it his duty to resist the commands of the State ?

5 Describe the different types of the executive in federal and unitary forms of government

6 On what grounds do you justify the existence of second chambers ? Do these considerations apply in the case of Indian provinces ?

7 What do you understand by the terms ' liberty ' and ' equality ' ? Discuss the different meanings which have been given to them.

8 Describe the constitution, powers, and functions of the District Boards in the United Provinces.

9. On what principles are the powers and functions of government distributed between the Central government the Provincial governments, and local bodies ?

10. How far, and in what way, can the State promote industry, commerce, and the material welfare of the people ?

1935

CIVICS—First Paper

Time—Three hours

[*N B.*—Attempt any five questions]

1 Describe the different theories of the origin of 'Society' and 'State', and explain which of these is the most satisfactory

2 What are the types of social organization ? How does the State differ from them ?

3. Describe the important forms of government found at the present time, and discuss their merits and defects

4. Explain the terms 'right' and 'duty'. What are natural rights ?

5 How far is it the duty of the State to remove poverty, disease, and ignorance, and to promote religion and morals ? On what principles are the duties of the State fixed ?

6 On what lines are Political Parties organized in countries of the West ? Are Indian Parties divided on similar principles ? What are the advantages of the Party system ?

7. What do you understand by the term Sovereignty ? What are the characteristics of sovereignty ?

8 Describe the functions of the Judiciary, the methods of its appointment, and its organization

9 How do you differentiate between the functions of the Central Government and the Local Government ? On what grounds do you justify the existence of local self-government ?

10 Write short notes on *any three* of the following .—

(*a*) The League of Nations, (*b*) Socialism, (*c*) Dominion Status, (*d*) Public Opinion, (*e*) Democracy.

1936

CIVICS—FIRST PAPER.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

[*N B* —Attempt *any five* questions]

1 Distinguish between society, State, and government.

2 Explain the proposition that man is a social animal.

3. 'It is the right of the individual to be free.'

'It is the duty of the individual to obey'

Is there any conflict between these propositions ?

4 Define the term 'Political rights' On what grounds are these rights justified ? What do you think are the principal political rights ?

5. Explain the principles underlying Party organization, and describe the character and functions of parties

6 What do you understand by the term 'constitution' ? On what principles is the classification of modern constitutions based ?

7. What part does Public Opinion play in a modern State ? How is Public Opinion formed and expressed ? Explain the conditions which obstruct the formation and expression of genuine public opinion

8. Define ' Law '. What are the sources of law and its kinds ?

9. Write notes on *any four* of the following ·

(*a*) Dictatorship, (*b*) Bureaucracy, (*c*) Confederation, (*d*) Co-operative Societies, (*e*) Adult Franchise, (*f*) Oligarchy, (*g*) Functional Associations, (*h*) Equality of Opportunities

10. Discuss the proposition that the family is the greatest of educational institutions.

1937

CIVICS—First Paper.

(Civic Theory)

Time—Three hours.

[*N.B.*—Attempt *any five* questions]

1. Explain the relationship between Civics and History. What is the scope of Civics ?

2 Why is it necessary for man to move in associations ? How do you distinguish between the functions of a social club, an athletic association, and a State ?

3 Discuss briefly the more important theories regarding the origin of the State

4. 'It is only in a world of duties that rights have significance ' Discuss and illustrate.

5. Distinguish between good and bad laws What means should a citizen adopt to get bad laws modified ?

6 What are the main functions of a modern State ? What kind of a State can perform them most efficiently ?

7 What is meant by division or separation of Powers ? Is it necessary to have an independent judiciary in a civilized State ?

8 Discuss the importance of Local Self-government in the modern State, with special reference to India

9. What are the aims and objects of the League of Nations ? Give some account of its social and humanitarian activities

10. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) Democracy, (*b*) Federation, (*c*) Public Opinion, (*d*) Second Chambers, (*e*) Representative Government, and (*f*) Two party system.

11. Write a short essay on the merits and drawbacks of Democracy

---

1938

CIVICS—First Paper
(Civic Theory.)
Time—3 hours.

Attempt any five questions ; all questions are of equal value.

1. Explain the following terms, making clear the distinctions between them —

Association , institution, community; family; society , nation

2. What are the essential elements of a Sovereign State? Do you consider the following to be Sovereign States? Give reasons for your answer :—

Jews ; India ; Kashmir ; New Zealand ;
Municipal Board ; League of Nations ; Spain.

3. Describe the hindrances to good citizenship, and show how they may be removed.

4. What do you understand by the term 'equality'? Is it , desirable to establish equality of all men in society ? In what sense is it possible to secure equality ?

5. What ought to be the aim of education ? How far does the present system of education fail to attain that sum ?

6 Explain the principles according to which you will determine the functions of the State. Can the State enforce temperance, truth telling, sanitation, and literacy ?

7 What are the conditions necessary for the success of democracy ? Are these conditions present in India to-day ?

8 Give an account of the different forms of government which are to be found in the world to day.

9 Write brief notes on *any four* of the following —

(*a*) Municipal trading ; (*b*) The economic minimum ; (*c*) The bicameral system ; (*d*) Vocational associations , (*e*) Individualism , (*f*) Plebiscite ; (*g*) Sovereignty

---

1939

CIVICS—FIRST PAPER.

(Civic Theory.)

Time—Three hours.

Answer *any five* questions , all questions are of equal value

1 What is the importance of the study of Civics in modern social life ? Explain the relationship and difference between Civics, Politics, and Economics

2. What are the main types of associations in which a modern community organizes itself ? Explain the terms Nation, State, Church, and Trade Union.

3. Discuss the origin and importance of Government

4 Discuss the merits and demerits of democracy

5 State the views of the individualist and socialist schools relating to the functions of Government.

6. How are the conflicting demands of law and liberty reconciled in a modern community?

7 'Citizenship means the right ordering of loyalties' Explain, and show as to how you would adjust your loyalties to family, town, community, and country.

8. On what grounds is the separation of the judiciary from the executive advocated? State its importance from the point of view of civic liberty

9 Write short notes on *any four* of the following —

(*a*) Rights of man.
(*b*) Universal suffrage
(*c*) Proportional representation
(*d*) Constitutional government
(*e*) Dictatorship.
(*f*) Federal and Unitary governments
(*g*) Bureaucracy and autocracy

10. Critically discuss the aims and objects of the League of Nations.

1940

CIVICS—First Paper

(Civic Theory.)

Time—Three hours

Answer **any five** *questions, all questions are of equal value.*

1 'Man is, by nature and necessity, a social animal.' Explain clearly, giving illustrations.

2 Distinguish clearly between Society, State and Government

3. 'Rights and duties are correlated to each other' Discuss

4 What are the most important theories of the origin of State ?

5. Describe the channels through which Public opinion expresses itself in a democratic State

6 Discuss the chief features of a parliamentary form of the executive Why are political parties necessary for its success ?

7. Write short notes on *any three* of the following —

(*a*) Sovereignty, (*b*) Citizenship, (*c*) Budget, (*d*) Franchise, (*e*) Second Chambers, (*f*) Nationalism.

8. Describe the social and humanitarian activities of the League of Nations

9 'The family is the most important of all associations' Discuss.

10 Explain the proposition that law is the real basis of liberty.

THE END

सहायक ग्रंथ

पुस्तक लिखने में निम्नलिखित ग्रंथों से सहायता ली गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों का भी आश्रय लेना पड़ा है, जिनका ज़िक्र पुस्तक में स्थान स्थान पर किया गया है।

1—Dr. Beni Prasad—A. B. C. of Civics.

2—S. V. Puntambeker—An Introduction to Civics and Politics.

3—Dr. Ram and Sharma—Elements of Civics.

4—M. K. Sen.—Elements of Civics.

5—Raleigh—Elementary Politics.

6—V. S. Shastri—Kamala Lectures.

7—E. M Whyte—The foundations of Civics.

8—Leacock—Elements of Political Science.

9—R. N. Gilchrist—Principles of Political Science.

10—Garner—Introduction to Political Science.

11—Gettel—Introduction to Political Science.

12—Ilyas Ahmad—The First Principles of Politics.

13—R. N. Tagore—Nationalism.

14—J. S. Mill—Liberty

15—J. Spargo—Elements of Socialism.

16—भगवान दास केला—नागरिक शास्त्र

17—श्री सम्पूर्णानन्द जी—समाजवाद

18—भगवान दास केला—राजस्व